Barcode : 99999990312340
Title - Patanjal Yogdarshanm
Author - Sharma, Rudradatt
Language - sanskrit
Pages - 554
Publication Year - 1960
Barcode EAN.UCC-13
9 999999 031234

॥ ओ३म् ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

पातञ्जल योगदर्शनम् ।

निखिलतन्त्रस्वतन्त्रमहर्षिव्यासदेवप्रणीतम्

साङ्ख्यप्रवचन–भाष्यसहितम् ।

तथा राजर्षि–भोजदेव–प्रणीत–राजमार्त्तण्ड

वृत्तिसहितम् ।

स्वर्गीय पं० रुद्रदत्त शर्म्मा सम्पादकाचार्य्य

प्रका

सुरेन्द्रकुम

वैदिक पुस्तकालय, नाचाबाग, [illegible]

पाँचवाँ संस्करण] १९६० [मूल्य ६ रु० ५० न० पै०

प्रकाशक

सुरेन्द्रकुमार शर्मा

वैदिक पुस्तकालय, मीचीबाग, वाराणसी

पुस्तक मिलने का पता—

१—वैदिक पुस्तकालय, मीचीबाग, वाराणसी

२—प्रेम पुस्तक-भण्डार, बिहारीपुर, बरेली

मुद्रक—

श्रीकाशीनाथ गुप्त

श्रीसीताराम प्रेस, वाराणसी

उपोद्घात ।

ईश्वर की भी क्या ही अपार महिमा है कि जिसको क्षणमात्र एकान्त स्थल में निष्पक्ष होकर विचारने से स्पष्ट भान होता है कि यह जगत् क्षणभंगुर है।

"प्रथमं जगदेव नश्वरम् पुनरस्मिन्क्षणभंगुरा तनुः,
ननु तत्र सुखाप्तिहेतवे क्रियते हन्त जनैः परिश्रमः" ।

देखिये प्रथम इन शरीरों की कैसी आश्चर्यमय उत्पत्ति है, यदि इसके उपादान कारण पर दृष्टि देते हैं तो उस रजोवीर्य से ऐसे आश्चर्यमय शरीरों का उत्पन्न होना किसी प्रकार से बुद्धि मे नहीं आता, पश्चात् शरीर और प्राण के वियोग हो जाने पर यदि समस्त जगत् ढूँढिये तो उस प्राणी का पता न पाइयेगा, परन्तु भारतवर्षीय उद्यमशाली विद्वानों ने इसी अनित्य और मलसार शरीर से ऐसी २ विद्या प्रकट की हैं कि, जिनके साधन से मनुष्य इस लोक और परलोक में अवधि से अधिक भी सुख प्राप्त कर सकता है, जिस प्रकार से आजकल के यूरोपियन विद्वान् लोग अनेक बाह्य विद्या प्रकट करके यश लाभ कर रहे हैं ऐसे ही भारतीय विद्वान् लोग आन्तरिक विद्याओं को प्रकाशित करके कीर्त्तिमान होते थे और यथार्थ में जबतक मनुष्य यह नहीं जाने कि मेरे शरीर में क्या २ पदार्थ हैं तबतक वह पदार्थान्तरों को कैसे जान सकता है? इसके अतिरिक्त मनुष्यों के शरीरों में अन्तःकरण चतुष्टय के अन्तर्गत मन ऐसा विघ्नकारक है कि मनुष्यों को अनेक दुःखप्रद विषयों में फँसाकर सासारिक और पारमार्थिक सुखों से वञ्चित कर देता है और केवल अर्थ और काम में ही फँसाये रखता है, धर्म और मोक्ष का चिन्तन भी नहीं करने देता यद्यपि

मन की चंचलता और तरलता स्वाभाविक गुण है तथापि सज्जनों का मन धर्म और मोक्ष की ओर चलता है और दुराचारियों का मन निन्दित कर्मों में चलता है जिससे व लोग उन कर्मों के आदि मध्य और अन्त में दुःख उठाते हैं और यह आपामार प्रसिद्ध है कि सुख की सबको इच्छा होती है परन्तु अल्पज्ञ लोग सुखाभास को सुख मानकर फिर दुःखसागर में डूबते हैं जैसे परस्त्री परपुरुष प्रसंगादि क्षणिक सुख में मग्न होने से उपदंश और उससे कुष्ठादि महारोगों से जन्म भर महादुःख का भोग करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि वह सुख नहीं बल्कि सुखाभास है बस सुख वही है जिसमें दुःख का अत्यन्ताभाव हो जाय और उसी दुःख के अत्यन्ताभाव को मोक्ष कहते हैं जैसे महर्षि कपिलदेव ने सांख्यशास्त्र में लिखा है।

"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः"

इसका अर्थ यह है कि आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं बस विचारशील मनुष्य इस ही अक्षय सुख की प्राप्ति का यत्न करते हैं और इस सुखप्राप्ति का साधन मन और इन्द्रियों का निग्रह है एवम् मनोनिग्रह योग के बिना असाध्य है। गीता में भी कृष्ण ने भी कहा है "अभ्यासेनतु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" अर्थात् योगाभ्यास और वैराग्य से मनोनिग्रह हो सकता है और जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही योगाभ्यास से मनुष्य के मल विक्षेप और आवरण दोष छूटकर शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है और उससे मोक्ष सिद्ध होता है।

परन्तु आजकल लोगों ने योग शब्द को ऐसा बुरा समझ रक्खा है कि जो भिक्षुक गेरुवे वस्त्र पहनकर किसी क्रिया के न

जानने के कारण बिना उचित परिश्रम किये आलस्यग्रस्त होकर उदरपूर्ति के लिये घर घर भिक्षा माँगते फिरते हैं आजकल वे ही निरुद्योगी योगी कहलाते हैं। यदि मनुष्य ने अधिक विचार किया तो बस यहाँ तक बुद्धि को दौड़ाया कि "योगी का अर्थ यह समझने लगा कि जो घर बार को छोड़कर जङ्गल में चला जाय उसे योगी कहते हैं"। और कोई २ मनुष्य कनफटे फकीरोंको ही योगी कहते हैं। परन्तु यह सब मनुष्यों की भूल है क्योंकि योग से और वस्त्रों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं योग का केवल चित्त से सम्बन्ध है बल्कि चित्त की स्थिर वृत्ति ही का नाम योग है उसमें गेरु के रंगे कपड़े वा जटा कुछ सहायक नहीं होते। प्रत्युत बाधक होते हैं क्योंकि आजकल प्रायः अज्ञलोग काषायाम्बरधारी मनुष्यों को सिद्ध जानकर ऐसा घेरते हैं कि उनको अष्टप्रहर अवकाश नहीं लेने देते फिर उनके चित्त की वृत्ति कैसे स्थिर हो सकती है और जो यह कहते हैं कि जङ्गल में रहने से योग प्राप्त होता है यह भी उनका ही भ्रम है क्योंकि किसी सज्जन का वचन है कि :—

वनेपि दोषाः प्रभवन्तिरागिणां,
गृहेषु पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते,
निवृत्तरागस्य गृहंतपोवनम्॥

गीता में लिखा है कि—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारस्स उच्यते॥

इत्यादि अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मनुष्य गृहस्थाश्रम में भी योगसाधन कर सकता है और प्रत्येक मनुष्य

दिन भर में दो एक बार योग की क्रिया करता है परन्तु उसकी दशा को न जानने के कारण सांसारिक व्यवहार में युक्त कर देता है जैसे कोई लेखक उत्तम अक्षर लिखता है तब उसको समस्त अन्य विषयों से चित्त की वृत्तियों को रोककर अक्षर के आकार में लगानी पड़ती हैं क्योंकि बिना तदाकारवृत्ति किये अक्षर सर्वांग सुन्दर नहीं बन सकता और पतञ्जलि ऋषि ने इसी योगशास्त्र के प्रथमपाद के दूसरे सूत्र में योग का लक्षण लिखा है कि चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं परन्तु आजकल के मनुष्यों पर तो यह कहावत ठीक चरितार्थ होती है कि "अर्धेक गाँव फूँक दिये पर अन्धारी करनी न आई।

भला हम पूछते हैं कि यदि वन में ही मनोनिग्रह होता है तो जो स्त्रियाँ पानी के भरे घड़े सिर पर रखकर प्रति दिन लाती हैं वह कैसे होता ? क्योंकि बिना चित्त की वृत्तियों के निरोध किये निरालम्ब घड़ों का सिर पर ठहरना असम्भव है। ऐसे ही नट का निरालम्ब रस्से वा तार पर चलना समझिये इन दृष्टान्तों से यही मालूम होता है कि स्त्री की और नट की चित्तवृत्ति का योग घड़े और रस्से आदि से है परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि नित्य योग की क्रिया करने पर भी लोग योग के नाम से डरते हैं पूर्वोक्त निन्दा और इस शब्द के दुर्नाम और भय का कारण यही मालूम होता है कि महाभारत युद्ध के पीछे इस देश में अन्य देशी विद्याओं के फैल जाने से भारतवासी अपनी धर्मभाषा संस्कृत को ऐसे भूल गये कि उसके शब्द मात्र से भय करने लगे।

बड़े शोक का स्थल है कि जिन विद्याओं के आविर्भाव (पैदा) करनेवाले इस देश में रहते थे उन विद्याओं के पढ़ने पढ़ाने वालों का भी इस देश में अभाव हो गया जिससे उन्हीं महर्षियों के संतान मुक्तकण्ठ से कहते हैं कि हमारे देश में प्रथम कोई विद्या ही न थी

इस अभाव को दूर करने के लिये इस योगशास्त्र का सरलभाषा में अनुवाद किया जाता है, आशा है कि ईश्वरानुग्रह से यह कार्य शीघ्र पूर्ण होकर पाठकों को मङ्गलकारक और सुखदायी होगा।

इस अनुवाद मे केवल अक्षरार्थ और उपयोगी बातें लिखी जायँगी और अनपेक्षित (फिजूल) कुछ नहीं लिखा जायगा, योग में जो जो उपयोगी वस्तु और स्थानादिक हैं वे सब योग के ८ अंगों के वर्णन में लिखे जायँगे।

इस सर्वोपकारी सत्य सुख के देनेवाले योगशास्त्रको पाणिनीय व्याकरण और कपिल ऋषि प्रणीत साख्यशास्त्र के भाष्यकर्त्ता महर्षि पतञ्जलि ने चार भागों में विभक्त किया है।

उनमें से पहिले पाद में योग के लक्षण मनोनिग्रह और चित्त वृत्तियों के रोकने के उपाय लिखे हैं इसीलिये इस पाद का नाम समाधिपाद है।

दूसरे पाद में अष्टाङ्गयोग का वर्णन और शम दमादि योग के साधन आदि का सविस्तर वर्णन किया है इसलिये द्वितीय पाद का नाम साधनपाद रखा है।

तीसरे पाद का नाम विभूतिपाद इसलिये है कि उसमें योग-साधन के गौणफल वाक्सिद्धि और अणिमादि निधियों की प्राप्ति का वर्णन है।

और चतुर्थपाद में योग के प्रधान फल मोक्ष का वर्णन है इस कारण से चतुर्थ पाद का नाम कैवल्यपाद रखा है।

इनमें से प्रथम पाद में ५१ दूसरे में ५५, तीसरे में ५५, और चौथे में ३४ सूत्र हैं एवं समस्त सूत्र संख्या १९५ हुई समस्त मुमुक्षु और विद्वानों को उचित है कि इस आर्ष ग्रन्थ को क्रमशः पढ़कर लाभ उठावें।

यदि इस भाषानुवाद में कोई त्रुटि हो तो सज्जन लोग अनुग्रह

द्वारा सूचित करें क्योंकि भ्रम शून्य होना सर्वथा असम्भव है अतएव त्रुटि सम्भव है और सज्जनों के सूचित करने पर ध्यान भी दिया जायगा परन्तु जो लोग दुराग्रह से खण्डन करेंगे उनके सर्व अहितकारी कथन पर कुछ ध्यान न दिया जायगा, क्योंकि वृथा वाद में कालक्षेप करना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है।

—रुद्रदत्त शर्मा अनुवादक

पातंजल-योगदर्शनम्

समाधि-पादः ॥

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

पदार्थ-(अथ) प्रारम्भ सूचक अव्यय (योगानुशासनम्) योग सम्बन्धी शास्त्र ॥

भावार्थ—अब योग शास्त्र का आरम्भ करते हैं ।

व्यासदेवकृतभाष्यम् ।

अथेत्ययमधिकारार्थः योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् । योगः समाधिः सच सार्वभौमश्चित्तस्यधर्म्मः । क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रन्निरुद्धमिति चित्तभूमयः । तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते । यस्त्वैकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति प्रक्षिणोति च क्लेशान् कर्म्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योगइत्याख्यायते । सच वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगतइत्युपरिष्टात् प्रवेदयिष्यामः । सर्ववृत्तिनिरोधेत्वसम्प्रज्ञातः समाधिः तस्य-लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रवृत्ते ॥ १ ॥

भा० का पदार्थ—अथ यह शब्द अधिकार अर्थात् आरम्भ सूचक है, योग का अनुशासन अर्थात् योगशास्त्र का आरम्भ समझना चाहिये। योग समाधि को कहते हैं और वह समाधि सब अवस्थाओं में चित्त का एक गुण है। क्षिप्त मूढ़ विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध यह चित्त की ५ अवस्था हैं। उनमें से विक्षिप्तावस्थायुक्त चित्त में अनेक विषयों के विचार रूप विघ्न से नष्ट भ्रष्ट हुई चित्तवृत्ति योग विषय में नहीं रहती है, एकाग्र चित्त में अर्थात् चित्त की एकाग्र अवस्था में सत्पदार्थों को प्रकाश करता है और दुःखों को कर्म के बन्धनों को ढीला करता है, निरोध अर्थात् टूटने के अभिमुख अर्थात् योग्य करता है वह सम्प्रज्ञात योग अर्थात् जिसमें समाधि के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी भान हो कहलाता है और वह वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत ४ प्रकार का है यह आगे इस ही पाद के २७ वें सूत्र में वर्णन करेंगे सब वृत्तियों के निरोध अर्थात् चित्त की निरुद्धावस्था में जो असम्प्रज्ञात योग होता है उसका लक्षण कहने की इच्छा से अगला सूत्र बना है—

भाष्य का भावार्थ—इस सूत्र में अथ शब्द आरम्भ का सूचक है योग-समाधि को कहते हैं और यह समाधि सब अवस्थाओं में प्राप्य चित्त का एक गुण है चित्त की ५

अवस्था हैं १–क्षिप्त २–मूढ़ ३–विक्षिप्त ४–एकाग्र ५–निरुद्ध जिस अवस्था में चित्त की वृत्तियाँ अनेक सांसारिक विषयों में गमन करती हैं उसको क्षिप्त कहते हैं, जिसमें चित्त मूर्ख-वत् हो जाय अर्थात् कृत्याकृत्य को भूल जाय उसे मूढ़ा-वस्था कहते हैं, विक्षिप्त उस अवस्था को कहते हैं जिसमें चित्त व्याकुल वा व्यग्र हो जाता है, एकाग्र अवस्था में वह है जिसमें चित्त विषयान्तरों से अपनी वृत्तियों को खींच कर किसी एक विषय में लगा देता है और निरुद्धावस्था वह है जिसमें चित्त की सब वृत्तियाँ चेष्टा रहित हो जाती हैं (इनमें से पूर्व ४ वृत्तियों में सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण का संसर्ग रहता है परन्तु पाँचवीं अवस्था में गुणों के संस्कार मात्र रहते हैं) इनमें से क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्तावस्थाओं में योग नहीं होता क्योंकि चित्त की वृत्तियाँ उन अवस्थाओं में सांसारिक विषयों में लगी रहती है और जो एकाग्र अवस्था में योग होता है उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं वह ४ प्रकार का है जिनका प्रथम पाद के २७ सूत्र में वर्णन करेंगे, एवं निरुद्धावस्था में असंप्रज्ञात योग होता है उसके लक्षण दूसरे सूत्र में कहते हैं ॥१॥

भोजवृत्तिः—अनेन सूत्रेण शास्त्रस्य सम्बन्धाभिधेयप्रयोजना-न्याख्यायन्ते। अथ शब्दोऽधिकारद्योतको मङ्गलार्थकश्च। योगो युक्तिः समाधानम्। 'युज समाधौ' अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षण-भेदोपाय फलैर्येन तदनुशासनम्। योगस्यानुशासन योगानुशास-

नम् । तदाशास्त्र परिसमाप्तेः रधिकृतं बोद्धव्यमित्यर्थः । तत्र शास्त्रस्य व्युत्पाद्यतया योगः ससाधनः सफलोऽभिधेयः । तद्व्युत्पादनञ्च फलम् । व्युत्प दितस्य योगस्य कैवल्यं फलम् शास्त्राभिधेययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्धः । अभिधेयस्य योगस्य च तत् फलस्य च कैवल्यन साध्यसाधनभावः । एतदुक्त भवति व्युत्पा द्यस्य योगस्य साधनानि शास्त्रेण प्रदर्श्यन्ते तत्साधनसिद्धो योगः कैवल्याख्यफलमुत्पादयति ॥ १ ॥ तत्र को योग ? इत्याह—

मोक्ष भूमा० सूत्र में शास्त्र का सम्बन्ध, प्रतिज्ञा और प्रयोजन का वर्णन किया गया है अथ शब्द अधिकार को प्रकाश करने और मंगल के वास्ते है, योग युक्त अर्थात् प्राणों के निरोध करने का कहते हैं 'युज समाधौ" इस धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने से 'योग शब्द सिद्ध हुआ है। अनुशासन उसे कहते हैं जिससे लक्षण भेद उपाय और फलों के द्वारा विशेष व्याख्या की जाय सारांश यह है कि इस शास्त्र में योग के लक्षणादि का बयान किया जायगा इस सूत्र का शास्त्र की समाप्ति पर्य्यन्त अधिकार समझना चाहिये। यह शास्त्र योग का प्रतिपादक है योग शास्त्र का प्रतिपाद्य होने से सफल कहा जाता है और योग का फल मोक्ष है, शास्त्र और योग का प्रतिपाद्यप्रतिपादक भाव सम्बन्ध है एवम योग और मोक्ष का साध्यसाधन भाव सम्बन्ध है। फलितार्थ यह हुआ कि योग क साधन इस शास्त्र में कहे जायेंगे उनका सिद्ध करन से मनुष्य को मोक्ष रूप फल प्राप्त होता है ? योग क्या पदार्थ है उसका बयान अगले सूत्र में करेंगे—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोध ॥ २ ॥

पद का पदार्थ-(योगः) जो युक्त करे उसे योग कहते है (चित्तवृत्तिनिरोधः) चित्त की वृत्तियों का रोकना ।

भावार्थ—चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं।

व्य० भा० सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योगइत्याख्यायते चित्तंहि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणं प्रख्यारूपहि चित्तसत्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टम् ऐश्वर्यविषयप्रियं भवति तदेव तमसानुविद्धम् अधर्माज्ञानवैराग्यानैश्वर्योपगं भवति तदेवप्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठ सत्व पुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघ ध्यानोपगं भवति तत्पर प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः। चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमादर्शितविषया शुद्धा चानंताच सत्वगुणात्मिका चेयम् अतो विपरीता विवेकख्यातिरित्यतस्तस्यां विरक्तं चित्त तामपि ख्यातिं निरुणद्धि तदवस्थं संस्कारोपगं भवति स निर्विकल्पस्समाधिः नतत्र किंचित्संप्रज्ञायतइत्यसंप्रज्ञातः द्विविधः संयोगश्चितवृत्तिनिरोधइति तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद्बुद्धिबोधात्मापुरुषः किं स्वभाव इति ॥ २ ॥

भाष्य का पदार्थ=सब बाह्यशब्दादि विषयों के ग्रहण न होने अर्थात् अभाव से सम्प्रज्ञात भी योग कहलाता है चित्त ही विषयविचार, विषय के साथ सम्बन्ध और विषय में स्थिति यह तीन स्वभावयुक्त होने से तीन प्रकार का है चित्त रजोगुण और तमोगुण से मिला हुआ अनेक द्रव्यादि

ऐश्वर्य्य को चाहता है वही चित्त तमोगुण के संयुक्त होने से अधर्म, अज्ञान, विषय में अनुरक्ति और दरिद्रता का चिन्तन करता है वही दूर हो गया है मोहरूपी ढकना जिसका चारों ओर से प्रकाशयुक्त केवल रजोगुण के लेश से धर्म, ज्ञान, सांसारिक विषयों में विरक्ति और ईश्वरभाव के चिन्तन में प्रवृत्त होता है वहा चित्त रजोगुण के लेश और पापादि मल से युक्त होता है, अपने रूप में स्थित धर्म्म ही का विचार करता है उसही को योगी लोग प्रधान प्रसंख्यान कहते हैं। ज्ञानशक्ति जिसका नाश कभी न हो, जिसका प्रतिसंक्रम अर्थात् अदल बदल न हो, जिसके द्वारा विषय देखे जा सकते हों जो मलरहित हो और जिसका अन्त न हो यह सत्त्वगुण प्रधान है और इससे उलटी अविवेक कहलाती है इसलिये उसमें उपरत हुआ चित्त उस विचार को भी रोक देता है उस अवस्था में स्थित चित्त केवल संस्कार का विचार करता है, यह सङ्कल्प विकल्प रहित समाधि कहलाती है। जिसमें कुछ न जाना जाय वह असम्प्रज्ञात दो प्रकार का है ॥२॥

भाष्य का भावार्थ—सम्प्रज्ञात योग में भी शब्दादि बाह्य विषयों का निरोध होता है इसलिये उसे भी योग कहते हैं, परन्तु योग शब्द का मुख्यार्थ असम्प्रज्ञात ही है। चित्त का ३ प्रकार का स्वभाव है एक प्रख्या दूसरा प्रवृत्ति

तीसरा स्थिति अर्थात् दृष्ट वा श्रुत पदार्थों का विचार फिर विषयों के साथ सम्बन्ध पश्चात् विषयों में स्थिति । उपनिषद् में भी भी लिखा है कि "यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत् क्रियया करोति यत् क्रियया करोति तदभिसम्पद्यते" प्रख्या अर्थात् सत्व, रज, तम गुणों के संसर्ग से तीन प्रकार का है जब चित्त विषयविचार अधिक सत्वगुण से युक्त होता है तब केवल ईश्वर का चिन्तन करता है जब वही चित्त अधिक तमोगुणयुक्त होता है तब अधर्म, अज्ञान, विषयासक्ति का चिंतन करता है और जब रजोगुण चित्त में अधिक हो जाता है, तब धर्म और वैराग्य का चिंतन करता है इस अवस्था को योगी लोग "परं प्रसंख्यान" कहते हैं। जो ज्ञानशक्ति परिणाम से रहित और शुद्ध होती है वह सत्वगुण प्रधान है अर्थात् उस वृत्ति में तमोगुण और रजोगुण का अभाव हो जाता है परंतु जब चित्त इस वृत्ति से भी उपरत अर्थात् विरक्त हो जाता है तब इसको भी त्याग देता है और केवल सत्वगुण के संस्कार के आश्रय रहता है और उसी संस्कारशिष्ट दशा को निर्विकल्प समाधि वा असम्प्रज्ञात योग कहते हैं, असम्प्रज्ञात का अर्थ यह है कि जिसमें ध्येय (ध्यान करने योग्य ईश्वर) के अतिरिक्त और किसी विषय का भान न हो, योग दो प्रकार का है एक संप्रज्ञात दूसरा असंप्रज्ञात।

असम्प्रज्ञात योग में सब चित्त की सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब समस्त ध्येय और विचार्य विषयों के अभाव से जीव किसका विचार करता है और उस समय उसकी कैसी (स्वभाव) प्रकृति रहती है इस प्रश्न को चित्त में धारण करके तीसरे सूत्र में इसका उत्तर देते हैं ।

प्रश्न—यह सूत्र अत्यन्त संदेहजनक है, क्योंकि चित्त का लक्षण लिखे बिना ही उसकी वृत्तियों के निरोध का वर्णन करना किसी रीति से युक्त नहीं है ?

उत्तर—प्रत्येक शास्त्र में दो प्रकार के मन्तव्य और सिद्धान्त होते हैं एक प्रतितन्त्र और दूसरा सर्वतन्त्र, यहाँ पर चित्त शब्द ऐसा है जो लोकप्रसिद्ध है अतएव उसका भिन्न लक्षण लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है, हाँ जो अपने शास्त्रोपयोगिनी चित्तादिक संज्ञा हैं उनके लक्षण लिखने परमावश्यक हैं ।

अब यह विचारना भी आवश्यक है कि भगवान पतञ्जलि ने शास्त्रारम्भ में योग का फल क्यों नहीं दिखाया ? क्योंकि बिना फल को जाने कदापि मनुष्यों की प्रवृत्ति नहीं होती ?

इसका उत्तर यह है कि इस द्वितीय सूत्र में ही योग का फल लिख दिया है अभिप्राय यह है कि बिना प्राणों के निरोध के चित्तवृत्तियों का निरोध सर्वथा असम्भव है

और जब श्वास के साथ वृत्तियों का निरोध होगा तो मनुष्य से पापाचरण भी नहीं हो सकता है, भगवान् मनु ने भी लिखा है ।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनांहि यथामलाः ।
तथा पुंसां प्रदह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

अर्थात् जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं का मल नष्ट हो जाता है वैसे ही प्राणों के निरोध से मनुष्यों के पाप नाश हो जाते हैं ।

बुद्धिमानों ने समस्त प्राणियों के श्वास की संख्या आनुमानिक रीति से लिखी है जिसमें से मुख्य प्राणियों के श्वास की संख्या नीचे दिखाई जाती है ।

प्राणी	प्रति मिनट	आयु	
शशक	३८	८	वर्ष
कबूतर	३६	८	,,
वानर	३२	२१	,,
कुत्ता	२९	१४	,,
बकरा	२४	१३	,,
बिलार	२५	१३	,,
घोड़ा	१९	५०	,,
मनुष्य	१३	१००	,,
हाथी	१२	१००	,,

प्राणी	प्रति मिनट	आयु	वर्ष
सर्प	८	१२०	,,
कछुआ	५	१५०	,,

किन्तु यह श्वास संख्या स्वस्थ प्राणियों की है रोगी और दुर्व्यसनी प्राणियों के श्वास की संख्या का कोई प्रमाण नहीं है इसी से उनकी अवस्था का भी कोई प्रमाण नियत नहीं हो सकता है श्वास ही के आश्रय से प्राणियों का जीवन है उसी को निरोध करने से मनुष्य की आयु दूनी तिगुनी चौगुनी हो सकती है। महाराज भोज ने योग का लक्षण यह लिखा है कि चित्तवृत्तियों को बाह्यविषयों से हटाकर प्रतिलोम रीति से अन्तर्लीन करना योग कहा जाता है। भगवान् व्यास ने अपने भाष्य में सब भूमियों का विवरण लिख दिया है किन्तु पाठकगणों को केवल नाम से बोध नहीं हो सकता है इसलिए हम उन भूमियों का नाम और स्पष्टार्थ नीचे लिखे देते हैं।

क्षिप्त-जिस अवस्था में मनुष्य का चित्त ऐसा चञ्चल रहता है जैसे वायु से दीपक अर्थात् किसी विषय में स्थिर नहीं होता उसे क्षिप्त अवस्था कहते हैं।

विक्षिप्त-अवस्था वह है जिसमें चित्त विषयों के सुख का अनुभव करता है अर्थात् जिस विषय की प्राप्ति के वास्ते प्रथम चित्त चञ्चल था उसको पाकर क्षणमात्र के लिये जो

चित्त को स्थिरता प्राप्त होती है उसही को विक्षिप्त अवस्था कहते हैं।

मूढ़—जिस अवस्था में काम वा क्रोधादि के वश में होके मनुष्य अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है उस तमोगुणाधिका भूमि को मूढ कहते हैं, कालीवर वेदान्त वागीश ने निद्रा को इसही भूमिका में संयुक्त किया है परन्तु वह सर्वथा असंगत है क्योंकि निद्रा को प्रमाण आदि ५ वृत्तियों में भगवान् सूत्र कार स्वयम् आगे लिखेंगे, जान पड़ता है कि वेदान्त वागीश जी भूमिका और वृत्तियों के भेद को नहीं समझे हैं अन्यथा कभी निद्रा को मूढ़ न लिखते यदि निद्रा को मूढ़ भूमि के अन्तर्गत माने तो विपर्यय और विकल्प को एकाग्र के अन्तर्गत मानना पड़ेगा एवम् स्मृति का सर्वथा अभाव माना है अतएव कालीवर का लेख सर्वथा भ्रममूलक है [भूमिका और वृत्ति के भेद को वृत्तिवर्णन में लिखेंगे]

एकाग्र—अवस्था वह है जिसमें चित्त किसी एक विषय में निश्चल जल वा निर्वात दीपक के समान स्थिर हो जाता है, अथवा जिस भूमिका में रजोगुण और तमोगुण के भाव विनष्ट के समान हो जायँ और सत्त्वगुण के भाव ही चित्त में सञ्चार करें उस भूमिका का नाम एकाग्र है यद्यपि रजोगुण आदि की ऐसी अवस्था को एकाग्र

कर सकते हैं परन्तु रजोगुण में स्वयम् स्थिर स्वभाव नहीं हैं अतएव उद्दिष्ट भूमिका को एकाग्र नहीं कर सकते हैं।

निरुद्ध—भूमिका वह है जिसमें चित्त निरालम्ब हो के ईश्वर के चिन्तन में अर्थात् योगसमाधि में लय रहता है।

भोजवृ —चित्तस्य निर्मलसत्त्वस्य परिणामरूपस्य या वृत्तयो ऽङ्गाङ्गिभावपरिणामरूपास्तासां निरोधो बहिर्मुखतया परिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते। स च निरोधः सर्वासां चित्तभूमीनां सर्वप्राणिनां धर्मः कदाचित् कस्यांचिद् भूमौ आविर्भवति। ताश्च क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तं एकाग्रं निरुद्धमिति चित्तस्य भूमयः चित्तस्यावस्थाविशेषाः। तत्र क्षिप्तं रजस उद्रेकादस्थिरं बहिर्मुखतया सुखदुःखादिविषयेषु विकल्पितेषु व्यवहितेषु सन्निहितेषु वा रजसा प्रेरितं तच्च सदैव दैत्यदानवादीनाम्। मूढं तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्यविभागमन्तरेण क्रोधादिभिः विरुद्धकृत्येष्वेव नियमितम् तच्च सदैव रक्षःपिशाचादीनाम्। विक्षिप्तं तु सत्त्वोद्रेकाद्वैशिष्ट्येन परिहृत्य दुःखसाधनं सुखसाधनेष्वेव शब्दादिषु प्रवृत्तं तच्च सदैव देवानाम्। एतदुक्तं भवति रजसा प्रवृत्तिरूपं तमसा परापकारनियतं सत्त्वेन सुखमयं चित्तं भवति। एतास्तिस्रश्चित्तावस्थाः समाधावनुपयोगिन्यः। एकाग्रनिरुद्धरूपे द्वे च सत्त्वोत्कर्षात् यथोत्तरमवस्थितत्वात् समाधावुपयोगं भजेते। सत्त्वादिक्रमव्युत्क्रमे तु अयमभिप्रायः द्वयोरपि रजस्तमसोरत्यन्तहेयत्वेऽप्येतदर्थं रजसः प्रथममुपादानम्। यावन्न प्रवृत्तिर्दर्शिता तावन्निवृत्तिर्न शक्यते दर्शयितुमिति द्वयोर्व्यत्ययेन प्रदर्शनम्। सत्त्वस्य तु एतदर्थं पश्चात् प्रदर्शनं यत् तस्योत्कर्षेणोत्तरे द्वे भूमी योगोपयोगिन्याविति। अनयोर्द्वयोरेकाग्रनिरुद्धयोर्भू

म्योर्यश्चित्तस्यैकाग्रतारूपः परिणामः स योग इत्युक्त भवति। एकाग्रे वहिर्वृत्तिनिरोधः। निरुद्धे च सर्वासा वृत्तीना संस्काराणां च प्रविलय इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः॥ २॥

इदानीं सूत्रकारः चित्तवृत्तिनि रोधपदानि व्याख्यातुकामः प्रथमं चित्तपदं व्याचष्टे—

भोज भा०—मल रहित* शुद्ध परिणामरूप चित्त की जो वृत्ति अर्थात् अगागि भाव की दूसरी दशा (परिणाम)† उनके निरोध वहिर्मुखभाम सासारिक विषयों मे लगी हुई) को रोक कर अन्तर्मुखभाव मे स्थिर करके उनके कारण अर्थात् चित्त ही मे लय कर देना योग कहाता है। यह चित्तवृत्तियो का निरोध सब प्राणियों का एक स्वाभाविक गुण है और वह सब भूमियों में हो सकता है, परन्तु किसी अवस्था मे वह निरोध प्रकाशित हो जाता है और किसी में छिपे रूप से रहता है।

चित्त की पाँच भूमि हैं, १ क्षिप्त, २ विक्षिप्त, ३ मूढ़, ४ एकाग्र, ५ निरुद्ध यह चित्त की विशेष अवस्था हैं। इनमे से जो अवस्था रजोगुण की प्रधानता के कारण से सासारिक विषयों मे चित्तको फँसाये रखती है उसे क्षिप्त कहते हैं, यह भूमि दैत्य और दानवों को सदा प्राप्त रपती है। मूढ वह कहाती है जो तमोगुण की प्रधानता को धारण करके कर्तव्य और अकर्तव्य के विभाग को भुला देती है तथा क्रोधादिकों के वश मे डालकर चित्त को सदा बुरे कर्मों में ही फँसाये रखती है यह भूमिका राक्षस और पिशाच

---

*मलविक्षेपावरणरूपास्त्रयोदोषा श्चित्तचांचल्यकारिणस्तानवरुद्ध्यैव योगाचकीर्षा कार्येति सूचयन्नाह निर्मलसत्वपरिणामरूपस्येति।

† यत्रैकादशागिनो तत्रान्यावयरूपत्वेनोपचरन्ति।

लोगों को प्राप्त रहती है। विक्षिप्तावस्था वह है जिसमें सत्त्वगुण की अधिकता से विशेष रूप से दु:ख के साधनों को दूर करके सुख के साधन शब्दादिकों ही में आ लगाय रहे उसे विक्षिप्त भूमि कहते हैं' फलितार्थ यह हुआ कि रजोगुण से सांसारिक विषयों में चित्त की प्रवृत्ति होती है। तमोगुण से दूसरों के अपकार करने में और सत्त्वगुण से सुखमय चित्त होता है। यह तीनों अवस्था समाधि में सहायक नहीं होती हैं। एकाग्र और निरुद्ध यह दोनों अवस्था निर्मल और अंतिम होने के कारण से योग में सहायक होती हैं। रजोगुण और सत्त्वगुण तथा इनकी अवस्थाओं को त्यागना चाहिये (अथवा रजोगुण के कार्य सुख रूप मान पड़ते हैं और तमोगुण के कार्य हरिमय रूप होने से दुःख रूप जान जाते हैं) इस हेतु से रजोगुण को प्रथम लिखा है। प्रवृत्ति के बिना चित्त आप निवृत्ति नहीं हो सकती है इसलिये उसकी प्रवृत्ति को शास्त्रकार ने दिखलाया है किन्तु योग की अत्यन्त सहायक होने के कारण सत्त्वगुण की प्रवृत्ति दिखलानी तो बहुत ही आवश्यक थी। और निरुद्धावस्थाओं में जो चित्त का एकाग्रता रूपी परिणाम होता है उसे ही योग कहते हैं क्योंकि चित्तके एकाग्र होने ही से बाहर की वृत्ति रुक जाती है एवम् वृत्तियों के रुकने से सब वृत्ति और संस्कारों का लय हो जाता है इसमें निरुद्ध और एकाग्र भूमि ही योग हो सकता है ॥१॥

तदाद्रष्टु स्वरूपे ऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

सू० का पदार्थ-(तदा) उस समय (द्रष्टुः) देखने वाले की निर्विकल्प समाधिस्थ जीव की (स्वरूपे) आत्म चिन्तन में (अवस्थानम्) अवस्थित ॥

सू० का भावार्थ—जब चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब समाधिस्थ होकर जीवात्मा केवल अपने रूप को ही देखता है और उस ही का विचार करता है। यह दशा निर्विकल्प समाधि में होती है)

भाष्यम्—स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ति न तथा कथंतर्हि दर्शित विषयत्वात् ॥ ३ ॥

भा० का पदार्थ—अपने स्वरूप में स्थित वा अपने स्वरूप का विचार तब ज्ञान शक्ति जैसे कैवल्य मुक्ति में उत्थान सहित चित्त होने पर भी तौ भी होते हैं तैसे नहीं तो फिर कैसे देखे हुये विषयों के कारण से ॥

भाष्य का भावार्थ—जब असम्प्रज्ञात योग में चित्त की स्थिति हो जाती है तब जीव केवल अपने स्वरूप का विचार और दर्शन करता है जैसे कैवल्य *
मोक्ष में ज्ञान शक्ति रहती है ऐसे निर्विकल्प समाधि में भी वह ज्ञान शक्ति रहती है उस शक्ति का साफल्य तभी होता है जब किसी ज्ञेय पदार्थ से सम्बन्ध हो तब उस निर्विकल्प समाधि में ज्ञेय विषय क्या है? इसका उत्तर यही है कि उस असम्प्रज्ञात योग में केवल अपना स्वरूप ही ज्ञेय है क्योंकि जब तक द्रष्टा बाह्य विषयों को देखता

---

* कैवल्य का लक्षण कैवल्य पाद में वर्णन करेंगे ॥

है जब तक वह अपने स्वरूप को नहीं जान सकता ॥ २ ॥

भो० वृ०—द्रष्टुः पुरुषस्य तस्मिन्काले स्वरूप चिन्मात्रता यामवस्थान स्थितिर्भवति। अयमर्थः उत्पन्नविवेकख्यातेः संक्रमा भावात् कर्तृत्वाभिमाननिवृत्तौ प्रागुक्त परिणामायाँ बुद्धौ च आत्मनः स्वरूपेणावस्थानं स्थितिर्भवति व्युत्थानदशायान्तु तस्य किं रूपम् ? ॥ ३ ॥ इत्याह।

भा०—अब सूत्रकार चित्त की वृत्तियों के विवरण का नियम की इच्छा से प्रथम चित्त का विवरण लिखते हैं।

द्रष्टा अर्थात् पुरुष का उस समय में स्वरूप अर्थात् चिन्मात्रता में अवस्थान अर्थात् स्थिति होती है अभिप्राय यह है कि जब कि ज्ञान उत्पन्न होता है तब चित्त चञ्चलता रहित होकर कर्तृत्व के अभिमान का त्याग देता है। अभिमान के निवृत्त होने पर चञ्चलता रहित बुद्धि में जीव की स्थिति होती है ॥ १ ॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

सू० का पदार्थ—(वृत्तिसारूप्यम्) वृत्तियों से अभेद (इतरत्र) और अवस्थाओं में ॥ ४ ॥

सू० का भावा०—निरुद्धावस्था के अतिरिक्त और दशाओं में चित्त वृत्ति के रूप को धारण कर लेती है ॥

व्या० भा०—व्युत्थाने याः चित्तवृत्तयः तदविशिष्ट वृत्तिः पुरुषः तथाच सूत्रम् एकमेवदर्शनं ख्यातिरेव दर्शन मिति चिन्मयस्कान्त मणिकल्पसन्निधिमात्रोप कारि दृश्य त्वेन स्वम्भवति पुरुषस्यस्वामिनः तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरु-

पस्यानादि सम्बन्धो हेतुः ॥ ४ ॥ ताः पुनर्निरोद्धव्य बहुत्वे सति चित्तस्य

विशेष—(प्र०) इस सूत्र और भाष्य में यह शंका होती है कि द्रष्टा अपने स्वरूप को आप ही नहीं देख सकता जैसे नेत्र अन्य पदार्थों को देख सकते हैं अपने रूप को नहीं इस ही प्रकार से जीवात्मा भी अपने स्वरूप को देखने में असमर्थ है ॥ ४ ॥

(उ०) यह ठीक है परन्तु देखने में नेत्र परतंत्र हैं क्योंकि नेत्र द्वारा सब पदार्थों का द्रष्टा जीव है बस जीवात्मा में दो प्रकार की दर्शन शक्ति होती है एक स्थूल दूसरी सूक्ष्म। सूक्ष्मदृष्टि को ही दिव्य दृष्टि भी कहते हैं। जीवात्मा दर्शन में अत्यन्त सहायक नेत्र से पदार्थान्तरों को देखता है और दिव्य दृष्टि अर्थात् सूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्म परमाणु आदि पदार्थ तथा अपने रूप को भी देखता है क्योंकि परमेश्वर भी स्थूल दृष्टि का अदृश्य और कठवल्ली उपनिषद् में बहुत स्थलों पर लिखा है कि "तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः" अर्थात् उस परमेश्वर को धीर लोग देखते हैं इससे सिद्ध हुआ कि सूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्म पदार्थ और स्थूल दृष्टि से स्थूल पदार्थ देखे जाते हैं और जो नेत्र का दृष्टान्त है वह ठीक नहीं क्योंकि दर्पण में नेत्र अपने स्वरूप को आप देख सकता है बस ऐसे योग के आश्रय से

जीवात्मा भी अपने स्वरूप को देख सकता है इसमें कोई आपत्ति नहीं ॥ ४ ॥

भा० का० प०—चित्त की चपलता में जो चित्त की वृत्ति है उनसे भिन्न जीवात्मा है ऐसा ही सूत्र में लिखा है एक जीवात्मा ही देखने का साधन विचार ही देखना है चित्त स्फटिकमणि के समान है समीप में स्थित दृश्य पदार्थों के समान आप भी हो जाता है जीवात्मा का इसलिये चित्त की वृत्तियों के ज्ञान में आत्मा का सदा का संसर्ग कारण है ॥४॥ वे चित्त की वृत्तियाँ रोकने योग्य है चित्त की अनेक वृत्ति होने से ।

भा० का भावार्थ—चित्त की चपलता से जो अनेक वृत्तियाँ उठती हैं उन सबसे आत्मा पृथक् रहता है और जो मैं सुखी वा दुःखी हूँ ऐसे कथन से आत्मा में वृत्तियों का सम्बन्ध मान होता है वह भ्रमजन्य है जैसे स्फटिक पत्थर अपने समीप में रक्खे पदार्थ के समान रंगवाला दीखने लगता है वस्तुतः उस स्फटिक में कोई भी रंग नहीं रहता है ऐसे ही आत्मा भी शुद्ध है परन्तु वृत्तियों के स्वस्वामीभाव सम्बन्ध से आत्मा में सुख दुःखादि प्रतीत होते हैं। चित्त वृत्तियों के द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें ज्ञान स्वरूप आत्मा का अनादि सम्बन्ध ही कारण है मनुष्य को उचित है कि चित्त की वृत्तियों को रोके क्योंकि चित्त की अनेक वृत्ति रहने

से सूत्र में लिखी वृत्तियाँ दुःखदायिनी होती हैं।

विशेषार्थ–भगवान् पतञ्जलि ने तीसरे सूत्र में कहा कि सम्प्रज्ञात योग में जीव केवल अपने स्वरूप को देखता है परन्तु इसमें शङ्का होती है कि इस निरुद्धावस्था में योगी को दशा और मनुष्यों के समान रहती है वा कुछ विलक्षण हो जाती है (उ०) वृत्तिसारूप्यमितरत्र "इतरस्यां वृत्तौ" अन्य अवस्थाओं में अर्थात् निरुद्धावस्था के अतिरिक्त योगी की दशा अन्य मनुष्यों की वृत्ति से कुछ विलक्षण ही हो जाती है ॥ ४ ॥

दूसरा अर्थ–निरुद्धावस्था के अतिरिक्त क्षिप्तादि अवस्थाओं में जीवात्मा दृश्य पदार्थ के रूप को धारण कर लेता है अर्थात् जब जीवात्मा किसी वस्तु के जानने की इच्छा करता है तब नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा जीव की वृत्ति बाहर निकल कर दृश्य वस्तु के रूप में परिणत हो (बदल) जाती है और फिर वह पदार्थ के रूप में परिणत हुई वृत्ति जिस इन्द्रिय द्वारा बाहर आयी थी उस ही मार्ग द्वारा अन्तःकरण में प्रवेश कर जाती है, पश्चात् जीव और उस वृत्ति के योग होने से जीव को ज्ञेय पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है वृत्ति और वृत्तिमान् का समवाय सम्बन्ध होने से जीव ही वृत्तिरूप कहा जाता है। इस अर्थ में पूर्वसूत्र से 'द्रष्टुः' पद की अनुवृत्ति आती है। कोई २ आचार्य पूर्व-

अत्र स्थित पञ्चम्यन्त 'द्रष्टुः' शब्द से सर्वद्रष्टा परमेश्वर को ग्रहण करते हैं स्वरूप शब्द को योगरूढ़ी मान कर यह अर्थ करते हैं कि 'जब जब जीव निरुद्धावस्था में स्थित होता है तब परमेश्वर के रूप में स्थिति को लाभ करता है' और कोई पण्डित 'द्रष्टुः' शब्द की उत्तरसूत्र में अनुवृत्ति समझ कर तादात्म्य जीव को मानते हैं ॥ ४ ॥

भो वृ०—इतरत्र योगादन्यस्मिन् काले वृत्तयो या अनुपमा-त्मकत्वास्ताभिः सारूप्यं तद्रूपत्वम्। अयमर्थः यादृश्यो वृत्तयो दुःखमोहसुखाद्यात्मिकाः प्रादुर्भवन्ति तादृग्रूप एव संवेद्यते व्यवहर्तृभिः पुरुषः। तदेवं यस्मिन्नेकाग्रतया परिणतं चित्तं तस्मिन् रूपे प्रतिष्ठितो भवति। यस्मिंश्चेन्द्रिय वृत्तिद्वारेण विषया कारेण परिणतं पुरुष तदाकार एव परिभाव्यते यथा जलतरङ्गेषु चलत्सु चन्द्रमसमिव प्रतिभासत तदिदम वृत्तिपदं व्याख्यातु-माह ॥४॥

व्युत्थान दशा में जीव का कैसा रूप रहता है इसका अगले सूत्र में वर्णन करते हैं।

भा०—अन्यत्र अर्थात् योग करने के काल से भिन्न समय में जो वृत्ति आगे कही जायँगी उनके रूप के समान ही रहता है इसका तात्पर्य यह है कि जैसी सुख दुःख वा मोह रूपी वृत्ति उत्पन्न होती है वैसी ही पुरुष की भी प्रतीत होती है इससे चित्त एकाग्र अवस्था को धारण करता है तब ज्ञानशक्ति में इसकी स्थिति होती है और जब इन्द्रियों के द्वारा विषय वृत्तियों को धारण करता है तब चित्त विषयाकार ही जान पड़ता है जैसे चलती हुई जल की तरङ्गों में चन्द्रमा भी चलता हुआ जान पड़ता है ॥ ४ ॥

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥*

पदार्थ-(वृत्तयः) वृत्तियां चित्त के परिणाम विशेष (पञ्चतय्यः) पांचों (क्लिष्टाः) दुखित हों मनुष्य जिनसे वे क्लिष्ट कहलाते हैं (अक्लिष्टाः) सुखी हों मनुष्य जिन से ॥ ५ ॥

भावार्थ—(अगले सूत्र में लिखी हुई ५ वृत्तियाँ) दुःख और सुख को देने वाली होती हैं ॥ ५ ॥

व्यासदेवकृत भाष्य—क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः । ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः क्लिष्टछिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति अक्लिष्टछिद्रेषु क्लिष्टा इति । तथा जातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते । संस्कारैश्च वृत्तय इति । एवं वृत्ति संस्कारचक्र मनिशमावर्तते । तदेवंभूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं व गच्छतीति ताः क्लिष्टश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः ॥ ५ ॥

पदाथ-क्लेश अर्थात् दुःख का कारण कर्म अर्थात् विहित और निषिद्ध चेष्टाजन्य प्रारब्धादि शब्दवाच्य का जो आशय अर्थात् फल उसके प्रचय अर्थात् उत्पत्ति में खेत के समान ख्याति अर्थात् आत्मख्याति वा आत्म-

---

* वि० ताश्च क्लिष्टाक्लिष्टभेदाभ्यां द्विधा प्रमाणादिभेदैश्च पञ्चधा ।

विचार सत् रज तम गुणों के अधिकार की विरोधिनी अर्थात् उनसे रहित अक्लिष्ट कहलाती है दुःख प्रवाह में पतित अर्थात् प्राप्त हुई भी अक्लिष्ट वृत्तियाँ होती हैं सुख प्रद कर्म में दुःखप्रद* होती हैं उन वृत्तियों के समान संस्कार अर्थात् क्लिष्ट से क्लेश और अक्लिष्ट से सुखप्रद संस्कार वृत्तियों के द्वारा होते हैं और संस्कारों से वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं इस प्रकार से वृत्ति और संस्कारों का चक्र रात दिन चलता रहता है। यह ऐसा चित्त अर्थात् क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्ति तथा संस्कारों में प्रस्त चित्त प्रस्त हो गये हैं अधिकार जिसके अपने स्वरूप से स्थिर रहता है अथवा लय हो जाता है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकार की वृत्तियाँ ५ प्रकार की हैं॥ ५॥

भावार्थ—क्लिष्ट का अर्थ यह है कि क्लेश अर्थात् आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों का हेतु अथवा जिस वृत्ति में सञ्चित क्रियमाण और प्रारब्ध रूप कर्मफल उत्पन्न होवे हैं उसे क्लिष्ट वृत्ति कहते हैं और जिसमें केवल आत्मख्याति अर्थात् सांसारिक विषयों से विरक्ति पूर्वक ईश्वर का विचार होता है एवं जो वृत्ति

---

* यदि मनुष्य को केवल सुख ही सुख रहे और कभी दुःख न हो तो वह उस सुख के स्वाद को नहीं जान सकता इसलिए यह अवस्था भी उत्तम है।

गुणाधिकार अर्थात् सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग रहित हो वह अक्लिष्ट कहाती है यद्वा जो वृत्ति दुःख प्रवाह के वेग को रोक करके प्रकट होती है उसे क्लिष्ट कहते हैं अथवा जो दुःखस्थल से उत्पन्न हो वह क्लिष्ट और सुखस्थल में उत्पन्न हो वह अक्लिष्ट जो जैसी वृत्ति होती है उससे वैसा ही संस्कार उत्पन्न होता है और पुनः वह संस्कार उसी वृत्ति को उत्पन्न करता है इस प्रकार से यह वृत्तिसंस्कारचक्र रातदिन चलता है और चित्त भी इसी ही चक्र के अनुसार चंचल रहता है। यदि विवेक वैराग्यादि अक्लिष्ट वृत्ति और संस्कार में चित्त स्थित हो जाता है तो अत्यानन्द मोक्ष सुख को प्राप्त होता है और यदि काम क्रोध लोभ मोहादि क्लिष्ट वृत्तियों को ग्रहण कर लेता है तो महादुख स्वरूप प्रलय को प्राप्त हो जाता है।

विशेष—यदि कोई प्रश्न करे कि दृश्य पदार्थ असंख्य हैं उनके योग से चित्त में वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं तो वृत्तियाँ भी असंख्य होनी चाहियें फिर सूत्रकार ने दो वा ५ वृत्ति कैसे लिखी हैं तो इसका यह उत्तर है कि वृत्ति तो असंख्य ही हैं परन्तु उनके भेद ५ हैं जिस प्रकार प्राचीन आर्य्यावर्त निवासी करोड़ों मनुष्य हैं परन्तु उनके मुख्य ४ भेद हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

भो० वृ०—वृत्तयश्चित्तस्य परिणामविशेषः। वृत्तिसमुदाय

तस्यावस्य प्रचयविनो या प्रचयभूता वृत्तयस्तदपेक्षया तद्वचस्याः । यतयुक्त भवति पञ्चवृत्तयः कीदृश्यः ? क्लिष्टाः अक्लिष्टाः क्लेशैर्वेद्यमानास्तदुपेराख्यान्ताक्लिष्टाः तद्विपरीतामक्लिष्टाः । ॥ ५ ॥ एतापव पञ्चवृत्तयः संक्षिप्य परिहरयन्ते ।

भा०—वृत्ति चित्त के विशेष परिणाम हैं सामान्य लक्षण युक्त वृत्ति अवयवी और अन्य विशेष लक्षण वाली वृत्ति अवयव हैं इस बात को बतलाने के वास्ते तैयार किया गया है * वह वृत्ति कैसी हैं ? आगे लिखे लक्षण युक्त क्लेशों के सहित क्लिष्ट और उनसे विपरीत अक्लिष्ट ॥ ५ ॥

इन्हीं ५ वृत्तियों का विशेष वर्णन आगे लिखते हैं ।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय ॥ ६ ॥

सूत्र का पदार्थ—[प्रमाण] यथार्थ ज्ञान का साधन, मिथ्याज्ञान, ज्ञेयशून्य जिसका कल्पित नाम हो परन्तु वस्तु कुछ न हो जैसे 'खपुष्पम्' नरशृंग [निद्रा] सोना (स्मृतिः) पूर्वानुभव या दृष्ट पदार्थ का स्मरण करना ।

भावार्थ—इस सूत्र में कही हुई ५ वृत्तियों के यह नाम हैं, १ प्रमाण २ विपर्यय वृत्ति, ३ विकल्प वृत्ति ४ निद्रा वृत्ति ५ स्मृति वृत्ति ॥

---

* सत्याचयप्रयुक्तयविस्पनुशासनेन तदपविहितोर्वस्त्रमेव वस्यमाणलक्षणाः पंचैवहृत्याचयवा यासाम्ताः पंचतय्यः वस्तु तस्यासौ द्विविधमेव क्लिष्टाक्लिष्टभेदात् केचिदेकस्याद्वचेष्टैविध्य मामनन्ति ।

महर्षि व्यासदेव ने इस सूत्र को सरल समझ कुछ भाष्य नहीं किया ।

भो० वृ०—आसां क्रमेण लक्षणमाह ॥ ६ ॥

क्रमसे इनका लक्षण कहते हैं ॥ ६ ॥

तत्रप्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥७॥

सू० पदार्थ—तत्र पाँच वृतियों में प्रत्यक्षमानागमाः प्रत्यक्ष अनुमान और आगम (प्रमाणानि प्रमाण वृत्ति कहलाते हैं ॥ ७ ॥

सू० भावार्थ—पूर्वोक्त पाँच वृत्तियों में से प्रमाण वृत्ति ३ प्रकार की हैं १ प्रत्यक्ष–२ अनुमान–३ आगम ॥ ७॥

व्या० कृ० भा० इन्द्रिय प्रणालिकया चित्तस्य वाह्य वस्तूपरागात् तद्विषया सामान्य विशेषात्मनोर्थस्य विशेषा वधारणप्रधानावृत्तिः प्रत्यक्ष प्रमाणं फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चिवृत्ति बोधः बुद्धेः प्रति संवेदिपुरुष इत्युपरिष्ठादुपपादयिष्याम अनुमें यस्य तुल्य जातीय ये ष्वनवृत्तो भिन्नजाती येभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धयस्तद्विषया सामान्यवधारण प्रधाना वृत्तिरनुमानम् । यथा देशान्तर प्राप्त गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत् विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः आप्तेन दृष्टोऽनुमितोवार्थः परत्र स्वावोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थ विषया वृतिः श्रोतुरागमः यस्या श्रद्धेयार्थो वक्तान द्रष्टा-

नुमितार्थः स आगमः प्लवते मूलवक्तरितु दृष्टानुमितार्थो निर्विप्लवस्स्यात् ॥ ७ ॥

पदार्थ—ज्ञान इन्द्रियों के मार्ग से बाह्य अर्थात् सांसारिक पदार्थों की प्रीति से उसके लिए सामान्य अथवा विशेष पदार्थ और चित्त के सम्बन्ध को अच्छी प्रकार से जो निश्चयात्मक निर्णय करना है वह मुख्य वृत्ति प्रत्यक्ष कहलाती है जिस वस्तु का अनुमान किया जाता है उसे अनुमेय कहते उस अनुमेय को एक जातिवाले पदार्थोंमें युक्त करने वाला भिन्न जातिवाले पदार्थों से पृथक् करने वाला जो सम्बन्ध है उस सम्बन्ध का जिस वृत्ति के द्वारा सामान्य रीति से विचार किया जाय उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे देशान्तर अर्थात् एक स्थल में दूसरे स्थल में चले जाने के कारण चन्द्रमा तथा समस्त तारादि लोक चलने वाले हैं चैत्र नामक पुरुष के समान विन्ध्य नामक पर्वत की अन्य देशों में अप्राप्ति है इस लिए वह गमन क्रिया रहित है। आप्त अर्थात् सत्य वक्ता धर्म तत्ववेत्ता और सत्योपदेष्टा पुरुष ने जिस विषय को देखा वा जिसका अनुमान किया है दूसरे मनुष्य में निज ज्ञान के अदान के लिए शब्द द्वारा जो उपदेश किया जाता है वह आगम वृत्ति कहलाती है ॥ ७ ॥

भावार्थ पूर्व सूत्र में कही हुई प्रमाण वृत्ति ३ प्रकार

की है, १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ आगम जिसमें इन्द्रिय द्वारा चित्त की वृत्ति बाहर निकल कर बाह्य वस्तुओं से संयोग करके आत्मा को उस पदार्थ का ज्ञान कराती है उसका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है अनुमेय (जिसका अनुमान किया जाता है) पदार्थ को समान गति वालों ने मिलने वाले और भिन्न जातीय पदार्थों से पृथक् करने वाले सम्बन्ध की प्रकाश करने वाली प्रधान वृत्ति को अनुमान करते हैं, चन्द्र और तारा आदि चलते हैं। क्योंकि एक स्थल से दूसरे स्थल पर जाना विना चलने के सिद्ध नहीं हो सकता इससे चैत्र नाम पुरुष के समान सूर्य्यादि सब लोक चलते हैं एवं विन्ध्याचल गति शून्य है क्यों सदा एक ही स्थल में रहता है, आप्त अर्थात् धर्माधर्म तथा सत्य के विवेक सज्जन महर्षि जो अच्छी प्रकार से देखकर वा अनुमान करके परोपकार के निमित्त उपदेश करते हैं उसका नाम आगम प्रमाण है ॥ ७ ॥

७ सूत्रस्थ प्रमाण वृत्ति के यद्यपि अन्य शास्त्रकारों ने ८। ४ वा ५ भेद माने हैं परन्तु वह सब इन ३ ही के अन्तर्गत हो जाते हैं उपमान का प्रथम भाग शब्द में अन्तर्भूत हो जाता है और शेष भाग अनुमान प्रमाण से चरितार्थ होता है परन्तु उपनाम का शेष भाग स्थिति के अन्तर्गत होने योग्य है क्योंकि उपमान वास्तव में कोई

प्रमाण नहीं है इस ही रीति से अर्थापत्ति आदि प्रमाण भी इन्हीं के अन्तर्गत हो जाते हैं, अन्य शास्त्रों ने प्रत्यक्षादिकों के लक्षण विस्तार पूर्वक लिखे हैं और वह लक्षण योगाभ्यास में कुछ भी उपयोगी नहीं हैं अतएव उनको इस शास्त्र में लिखा व्यर्थ समझ कर भगवान् पतञ्जलि ने केवल भेद ही लिख दिये हैं प्रमाण के यद्यपि बहुत से लक्षण हो सकते हैं परन्तु सामान्य रीति से यह लक्षण अच्छा मान पड़ता है कि सामान्यतोऽप्रतिपत्तौ हेतुनो विशेषावधारणम्प्रमाणम्" यद्वा "अविसंवादिज्ञान प्रमाणम्" इस वर्णन से प्रमेय और प्रमाता की त्रिपुटी को भी समझ लेना चाहिये ॥७॥

भो० वृ०—अत्र अतिप्रसिद्धत्वात् प्रमाणानां शास्त्रकारेण भेद कथनेनैव गतत्वात् लक्षणस्य पृथक् लक्षणे न कृतम्। प्रमाणलक्षणन्तु अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति इन्द्रियद्वारेणबाह्यवस्तूपरागाचित्तस्य तद्विषयसामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषाव धारणम प्रधानावृत्तिः प्रत्यक्षम् गृहीतसम्बन्धात् लिङ्गात् लिङ्गिनि सामान्य ध्यवसायोऽनुमानम्। आप्तवचनम्आगमः ॥ ७ ॥ एवं प्रमाणरूपां वृत्ति व्याख्याय विपर्ययरूपमाह।

भा०—प्रमाण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं तथा शब्द शास्त्र की रीति से व्युत्पत्ति द्वारा ही उनके लक्षण सिद्ध होते हैं अतएव उनके भिन्न लक्षण नहीं लिखे। प्रमाण का लक्षण तो इतना ही ठीक है कि जो कि संवाद अर्थात् विवाद रहित हो वह प्रमाण कहाता है (१)

---

(१) प्रमाणम्यं प्रालम्बमानम् प्रमाण अथाविसंवादियोगाद्वी द्वाभ्यां भारमेन्द्रियमार्गेस्यां दुत्त्वमानम् परिणामिज्ञानं प्रत्यक्षम्।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों के ग्रहण से चित्त को सामान्य ज्ञान के पश्चात् जो विशेष ज्ञान प्राप्त करने की प्रधान वृत्ति है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं, जिस अङ्ग के प्रत्यक्ष होने से अङ्गों का जो विशेष निश्चय किया जाता है उसे अनुमान कहते हैं, आप्त के बचन को आगम प्रमाण कहते हैं ॥ ७ ॥

इस प्रकार से प्रमाण वृत्ति से भेदों को कह कर अगले सूत्र में विपर्य्यय वृत्ति का वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥

विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

पदार्थ—(विपर्य्ययः) "जो पदार्थ के सत्यरूप को छिपा दे उसे विपर्य्यय कहते हैं (मिथ्याज्ञानम्) झूठा ज्ञान (अतद्रूपप्रतिष्ठम्) जिसके द्वारा पदार्थ अपने पारमार्थिक रूप से भिन्नरूप में भान हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—मिथ्याज्ञान अर्थात जिससे पदार्थ का पारमार्थिक रूप न भान हो उसे विपर्य्ययवृत्ति कहते हैं ॥ ८ ॥

विशेष—अनुमान में ४ पदार्थ आवश्यक होते हैं पक्ष, + साध्य हेतु और उदाहरण । जो विश्वनाथ भट्टाचार्य ने अपने सिद्धान्त मुक्त वल्यादि ग्रन्थों मे पंचावयव वाक्य को अनुमान माना है वह केवल हठ मात्र है क्योंकि हेतु से पृथक् कोई पदार्थ व्याप्त नहीं हो सकती ॥

व्या० भा०—सकस्मान्नप्रमाणम् यतः प्रमाणेने सिद्धं वाध्यते । भूतार्थविषयत्वात् प्रमाणस्य तत्र प्रमाणेन वाधनमप्रमाणस्यदृष्टम् तद्यथा—द्विचन्द्रदर्शनेन सद्विषये-णेकचन्द्रदर्शनेन वाध्यते से यं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या—

अविद्यास्मिता राग द्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति । एतएव स्वसञ्ज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति । एते चित्तमल प्रसंगेनाभिधास्यन्ते ॥ ८ ॥

पदार्थ—यह किस कारण से प्रमाण नहीं है प्रमाण से खण्डित हो जाता है प्रमाण के भूतार्थ विषयक होने से उक्त तीनों प्रमाणों में प्रमाण द्वारा खंडन होना अप्रमाण का देखा गया है । जैसे दो चन्द्रमाओं का देखना एक चन्द्रमा के देखने से खण्डित हो जाता है यही विपर्यय पांचभेदवाली अविद्या है) पाँच भेद यह हैं अविद्या अस्मिता, राग द्वेष और अभि निवेश । यही अविद्या के पाँच भेद अपने नामों के अनुसार तम मोह, महामोह तामिस्र और अन्धतामिस्र कहलाते हैं । ये चित्त के मल वर्णन के प्रसंग में कहे जायेंगे ।

भा० का भा०—यह विपर्यय ज्ञान प्रमाण नहीं है क्योंकि प्रमाण से खण्डित हो जाता है प्रमाण से अप्रमाण का खण्डन हो जाना अन्यत्र भी देखा गया है जैसे दो चन्द्रमा का दर्शन प्रत्यक्ष एक चन्द्रमा के दर्शन से खण्डन होता है इस विपर्यय को ही अविद्या कहते हैं और उस के पाँच भेद हैं अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष और अभिनिवेश इन्हीं पाँचों के दूसरे नाम तम, मोह, महामोह, तामिस्र अन्धता है इनका विशेष वर्णन चित्तमल के प्रसंग में किया जायगा ॥ ८ ॥

प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञानेन्द्रियों के भेद से ५ का है १ चाक्षुष प्रत्यक्ष २ श्रावण प्रत्यक्ष ३ रासन प्र ४ घ्राणज प्र० और स्पर्श प्र ।

८ सूत्र वि०—योग में चित्त वृत्तियों का निरोध ही मुख्य है अतएव क्रम से उनका वर्णन करना ही आवश्यक है, प्रथम प्रमाण वृत्ति का वर्णन करके अब विपर्यय का लक्षण कहते हैं विपर्यय का

सामान्य लक्षण यह है "अपवाभूतेर्थे तथोत्पद्यामानं विपर्य्ययमः" जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान वा जीव में ब्रह्म ज्ञान, यह वृत्ति प्रमाण नहीं है क्योंकि प्रमाण से इसका खण्डन हो जाता है ॥८॥

भो० वृ० अतथाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं विपर्य्ययः । यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानम् । अतद्रूपप्रतिष्ठतमिति । तस्यार्थस्यद्रूपं तस्मिन् रूपे न प्रतिष्ठति तस्या र्थस्य यत् पारमार्थिकं रूपं न तत् श्तिभासयतीतियावत् संशयेप्यतद्रू पप्रतिष्ठत्वाम्मिथ्याज्ञानं यथास्थाणर्वा पुरुषों वा ? इति ॥ ८ ॥ विकल्पवृत्तिव्या व्यातुमाह

भोज वृ० भा० जो वस्तु जैसी नहीं है उसमें से उस ज्ञान की उत्पत्ति को विपर्य्यय कहते हैं अर्थात् वस्तु के असल रूप से उलटे ज्ञान होने को विपर्य्यय कहते हैं जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान । अतद्रूप प्रतिष्ठ का अर्थ यह है कि जिस पदार्थ का जो वास्तविक रूप है उसका ज्ञान न होने दे, संशय भी पदार्थ के सच्चे रूप को नहीं जानने देता है इस कारण,से वह भी मिथ्या ज्ञान है जैसे यह खम्भा है वा पुरुष है ॥ ८ ॥ अगले सूत्र में विकल्प वृत्ति का वर्णन करेंगे ॥ ८ ॥

शब्दज्ञानानुपाता वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

सू० का पदार्थ—(शब्दज्ञानानुपाती अर्थात् शब्द ज्ञान मात्र हो जिसमें सार है (वस्तुशून्यः) जिसमें ज्ञेय-पदार्थ कुछ न हो (विकल्पः) उसे विकल्प कहते हैं ॥९॥

सूत्र का भावार्थ—शब्द मात्र से जिसका भान होता है परन्तु जिसमे ज्ञेय हदार्थ कुछ भी न हो जैसे "वन्ध्या पत्रो याति" बाँझ का लडका जाता है इस वचन से मालूम होता है कि कोई पुरुष जाता है परन्तु यथार्थ में वन्ध्या का पुत्र नहीं हो सकता और

जिसके पुत्र होगा यह वन्ध्या नहीं हो सकती इसलिए क्रिया आधार बिना रह नहीं सकती ॥ ९ ॥

व्या० भा०—सप्रमाणोपारोही न विपर्य्ययोपारोही च वस्तुशून्यत्वेपि शब्द ज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते तद्यथा चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपमिति यदाचितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते भवति च व्यपदेशेवृत्तिः यथा चैत्रस्य गौरिति तथा प्रतिषिद्धवस्तु धर्म्मोनिष्क्रियः पुरुषःतिष्ठति बाणः स्थास्यतिस्थित इति गति निवृत्तौ धात्वर्थमात्र गम्यते तथानुत्पत्तिधर्मापुरुष इति उत्पत्तिधर्म्मस्याभाव-मात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी धर्म्मः तस्माद्विकल्पितः स धर्म्मस्तेनचास्ति व्यवहार इति ॥ ९ ॥

व्या० भा० का पदार्थ—यह विकल्प प्रमाण ज्ञान और न विपर्य्यय ज्ञान है अर्थात् संशयात्मक ज्ञान है ज्ञ य पदार्थ न रहने पर भी केवल शब्द ज्ञान के प्रभाव से जिसमें व्यवहार प्रयोग होता है जैसे चेतनता पुरुष अर्थात् आत्मा का स्वरूप है जब ज्ञान ही पुरुष है तब कौन सा पदार्थ किसके द्वारा मुख्य व्यवहार किया जाता है व्यपदेश अर्थात् मुख्य व्यवहार में वृत्ति ही स्थित है जैसे चैत्र नामक पुरुष की गऊ वैसे ही निवारित वस्तु अर्थात् अन्य व्यापक वस्तुओं के गुण वाला क्रियारहित आत्मा है बाण ठहरेगा जायगा ठहरा था गमन रहित होने धातु का केवल अर्थ ही समझा जाता है ऐसे ही जन्म लेने के गुण से रहित आत्मा है केवल उत्पत्ति ही केवल समझा जाता है आत्मा के सब गुण नहीं समझे जाते हैं इससे यह गुण अर्थात् आत्मा की उत्पत्ति मिथ्या

हुई इससे उत्पत्ति रहित है ऐसा ध्यानादि व्यवहार करना उचित है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—यह विकल्पवृत्ति भी प्रमाण अर्थात् यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं है क्योंकि मिथ्याज्ञान और भ्रम उत्पन्न करने वाली यह वृत्ति है और इस वृत्ति मे केवल शब्द का ही चातुर्य्य है जैसे आत्मा का स्वभाव चैतन्य है इस शब्द को सुना कर कोई कहे कि ज्ञान से भिन्न आत्मा कोई नहीं है और वह ज्ञान जीव का गुण है बस ईश्वर ही असिद्ध है इसे विकल्प कहते हैं परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि चैतन्य वृत्ति वाला आत्मा है अर्थात् जड़ प्रकृति से भिन्न है यहाँ पुरुष और चेतनता का वृत्ति और वृत्तिमान होने से स्वस्वामीभाव सम्बन्ध है, जैसे चैत्र की गौ यहाँ पर गौ का और चैत्र का स्वस्वामीभाव सम्बन्ध है। कहीं २ कालभेद से क्रिया की एकता में विकल्प होता है जैसे बाण रक्खा है बाण रखा जायगा बाण रक्खा था इन वाक्यों में केवल कालकृत विकल्प है परन्तु वक्ता का अभिप्राय केवल धात्वर्थ से है ॥ ६ ॥

वि०—इस वृत्ति मे पूर्व से यही भेद है कि उसमें कोई ज्ञेय पदार्थ होता है परन्तु इस वृत्ति में ज्ञेय पदार्थ का सर्वथा अभाव होता है। जहाँ पर एक शब्द से भिन्नरूप वाली दो वस्तुओं का ज्ञान हो वह भी विकल्प कहाती है जैसे सैंधव शब्द से नमक और घोडे का बोध होता है अथवा जहाँ एक वस्तु ही दो रुप से भान हो वह भी विकल्प है, जैसे आत्मा को चैतन्य कहने से जान पड़ता है कि आत्मा और चैतन्य भिन्न २ पदार्थ हैं परन्तु वास्तव में आत्मा चैतन्य स्वरूप है तात्पर्य यह है कि भ्रमात्मक ज्ञान को विकल्प कहते हैं ॥ ६ ॥

भोजवृत्ति'—शब्दजनितं ज्ञानंशब्द ज्ञान तदनुपतितुं शीलम्

यस्य सः शब्दज्ञानानुपातिवस्तुनस्तयास्वमनपेक्षमाणायोऽध्यव सायः सः विकल्पं इत्युच्यते। यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति अत्र देवदत्तस्य कम्बल इतिवाक्यमनिव ज्ञानपष्ठ्या योऽयमवसितो भेदस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्त्ततेऽध्यवसायः। वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः॥ ९॥

निद्राव्याख्यातुमाह।

भाष सू० भा०—शब्द में उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्दज्ञान कहाता है शब्दज्ञान के पीछे ज्ञान का स्वभाव है जिससे वह शब्दज्ञाना-नानुपाति हुआ, अर्थात् शब्दज्ञान में मोहित होकर पदार्थ की सत्ता की अपेक्षा जिसमें न रहे वह वृत्ति विकल्प कहाती है, जैसे कोई कहे कि पुरुष का स्वरूप चैतन्य है" इस वाक्य में 'देवदत्त में भिन्न षष्ठी विभक्ति द्वारा कम्बल का ज्ञान होता है परन्तु यथार्थ में पुरुष ही चेतन्यरूप है अगले सूत्र में निद्रावृत्ति की व्याख्या करेंगे॥ ९॥

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा॥ १०॥

सू० का प० (अभावप्रत्यालम्बना) अभाव की समता को जो आश्रय करे वह वृत्ति (निद्रा) निर्गत अर्थात् शारिरिक विषय-प्रसक्ति जिस वृत्ति में दूर हो जाती है उसे निद्रा कहते हैं।

सू० का भ—अभाव अर्थात् ज्ञानाभाव को जो आश्रय करे उसे निद्रा कहते हैं अर्थात् अविद्याग्रस्त वृत्ति को निद्रा कहते हैं।

व्या०-भा०—साच सम्प्रबोधप्रत्यवमर्शात् प्रत्यय विशेष। कथं सुखमहमस्वाप्सम् प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति। दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मनो भ्रमत्यन

नवस्थितं गाढं मूढोहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तम् मे चित्तमलम् सुषितऽमिव तिष्ठतीति स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यात् असति प्रत्यायानुभवेतदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा साच समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

व्या० भा० पदार्थ—और वह निद्रा जाग्रत हो जाने पर निद्रावस्था के विचारने से ज्ञान विशेष है यदि वह ज्ञान विशेष न हो तो जागने पर यह वोध कैसे होसक्ता, मैं आनन्द से सोया मेरा मन प्रसन्न हैं वुद्धि मुझे उतम वनती है अर्थात् मेरी वुद्धि निर्म्मल है। मैं दुःखपूर्वक सोया मेरा मन आलस मे होरहा है, घूमता है अनवस्थित अर्थात् विचारशून्य होरहा है अत्यन्त वेसुध मैं सोया मेरे अग भारी हो रहे हैं, आलसयुक्त और अपहृत चुराये हुये की समान जडवत् हो रहा है वह निद्रा यदि प्रत्यय न हो तो नींद से जागे मनुष्य को उक्त प्रकार के ज्ञान न हो यदि उस ज्ञान का अनुभव न हो तो उस अनुभव के आश्रित स्मृत भी न होनी चाहिये। इस हेतु से निद्रा भी अभाव ज्ञान है और वह निद्रावृत्ति भी समाधि अर्थात् योग मे और वृत्ति के समान त्यागनी चाहिये ॥ १० ॥

व्या० भा० भा०—निद्रावृत्ति का भी जागृत होने पर विशेष विचार किया जाता है इसलिए वह भी एक प्रकार का ज्ञान है यदि वह ज्ञान न हो तो—"मैं आज सुख से सोया इससे मेरा मन प्रसन्न है मेरी बुद्धि स्वच्छ है, यद्वा मैं दुःख से सोया इससे मेरा मन आलस मे हो रहा है और मत्त के समान घूम रहा है" यह विचार भी न होता, क्योंकि अज्ञान से अनुभव नही होता और

यस्य सः शब्दज्ञानानुपातिवस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणोयोऽध्यव सायः सः विकल्प इत्युच्यते । यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति अत्र देवदत्तस्य कम्बल इतिशब्दजनित ज्ञानपदच्या योऽयमवसितो भेदस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्यवसायः । वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ९ ॥

निद्रांव्याख्यातुमाह ।

भोज वृ० भा०—शब्द में उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्दज्ञान कहाता है शब्दज्ञान के पीछे ज्ञान का स्वभाव है जिससे वह शब्दज्ञाना-नानुपाति हुआ, अर्थात् शब्दज्ञान में मोहित होकर पदार्थ की सत्ता की अपेक्षा जिसमें न रहे वह वृत्ति विकल्प कहाती है, जैसे कोई कहे कि 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है" इस वाक्य में ' देवदत्त से भिन्न षष्ठी विभक्ति द्वारा कम्बल का ज्ञान होता है परन्तु यथार्थ में पुरुष ही चेतन्यरूप है अगले सूत्र में निद्रावृत्ति की व्याख्या करेंगे ॥ ९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

सू० का प० (अभावप्रत्यालम्बना) अभाव की समता को जो आश्रय करे वह वृत्ति (निद्रा) निर्गत अर्थात् शारिरिक विषय-प्रसक्ति जिस वृत्ति में दूर हो जाती है उसे निद्रा कहते हैं ।

सू० का अ—अभाव अर्थात् ज्ञानाभाव को जो आश्रय करे उसे निद्रा कहते हैं अर्थात् अविद्यामस्त वृत्ति को निद्रा कहते हैं ।

व्या०—भा०—साच संप्रबोधप्रत्यवमर्शात् प्रत्यय विशेषः । कथ सुखमहमस्वाप्सम् प्रसन्न मे मनः प्रज्ञा मे विशारदीकरोति । दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यान मनो भ्रमत्यन

नवस्थितं गाढं मूढोहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तम् मे चित्तमलम् सुपितऽमिव तिष्ठतीति स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यात् असति प्रत्यायानुभवेतदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा साच समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

व्या० भा० पदार्थ—और वह निद्रा जाग्रत हो जाने पर निद्रावस्था के विचारने से ज्ञान विशेष है यदि वह ज्ञान विशेष न हो तो जागने पर यह बोध कैसे हासक्ता, मैं आनन्द से सोया मेरा मन प्रसन्न हैं बुद्धि मुझे उतम बनती है अर्थात् मेरी बुद्धि निर्म्मल है। मैं दुःखपूर्वक सोया मेरा मन आलस मे होरहा है, घूमता है अनवस्थित अर्थात् विचारशून्य होरहा है अत्यन्त वेसुध मैं सोया मेरे अग भारी हो रहे हैं, आलसयुक्त और अपहृत चुराये हुये की समान जडवत् हो रहा है वह निद्रा यदि प्रत्यय न हो तो नींद से जागे मनुष्य को उक्त प्रकार के ज्ञान न हो यदि उस ज्ञान का अनुभव न हो तो उस अनुभव के आश्रित स्मृत भी न होनी चाहिये। इस हेतु से निद्रा भी अभाव ज्ञान है और वह निद्रावृत्ति भी समाधि अर्थात् योग मे और वृत्ति के समान त्यागनी चाहिये ॥ १० ॥

व्या० भा० भा०—निद्रावृत्ति का भी जागृत होने पर विशेष विचार किया जाता है इसलिए वह भी एक प्रकार का ज्ञान है यदि वह ज्ञान न हो तो—"मैं आज सुख से सोया इससे मेरा मन प्रसन्न है मेरी बुद्धि स्वच्छ है, यद्वा मैं दुःख से सोया इससे मेरा मन आलस में हो रहा है और मत्त के समान घूम रहा है" यह विचार भी न होता, क्योंकि अज्ञान से अनुभव नही होता और

यस्य स शब्दज्ञानानुपाति वस्तुशून्यस्तथाभूतमनपेक्षमाणो योऽध्यवसायो न विकल्प इत्युच्यते। यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति अत्र देवदत्तस्य कम्बल इतिशब्दजनित ज्ञानपद्धत्या योऽध्यवसितो भेदस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्यवसायः। वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ९ ॥

निद्रां व्याख्यातुमाह।

भा॰ पृ॰ भा॰—शब्द में प्रत्यय हुआ ज्ञान शब्दज्ञान कहाता है शब्दज्ञान के पीछे ज्ञान का स्वभाव है जिससे वह शब्दज्ञाना- नानुपाति हुआ अर्थात् शब्दज्ञान में मोहित होकर पदार्थ की सत्ता की अपेक्षा जिसमें न रहे वह वृत्ति विकल्प कहाती है, जैसे कोई कहे कि 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है" इस वाक्य में "षष्ठ्यन्त से भिन्न षष्ठी विभक्ति द्वारा सम्बन्ध का ज्ञान होता है परन्तु यथार्थ में पुरुष ही चैतन्यरूप है अगले सूत्र में निद्रावृत्ति की व्याख्या करेंगे ॥ ९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

सू॰ का प॰ (अभावप्रत्ययालम्बना) अभाव की समता को जो आश्रय करे वह वृत्ति (निद्रा) निगद अर्थात् शारीरिक विषय–प्रसक्ति जिस वृत्ति में दूर हो जाती है उसे निद्रा कहते हैं।

मू॰ का भ—अभाव अर्थात् ज्ञानाभाव को जो आश्रय कर उसे निद्रा कहते हैं अर्थात् अविद्याग्रस्त वृत्ति को निद्रा कहते हैं।

व्या॰–भा॰–सा च सम्प्रबोधप्रत्ययमर्शात् प्रत्यय विशेषः। कथं सुखमहमस्वाप्सम् प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति। दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मनो भ्रमत्यनं

नवस्थितं गाढं मूढोहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तम् मे चित्तमलम् सुषितऽमिव तिष्ठतीति स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यात् असति प्रत्यायानुभवेतदाश्रिताः स्मृत-यश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा साच समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

व्या० भा० पदार्थ—और वह निद्रा जाग्रत हो जाने पर निद्रा-वस्था के विचारने से ज्ञान विशेष हे यदि वह ज्ञान विशेष न हो तो जागने पर यह बोध कैसे होसक्ता, मैं आनन्द से सोया मेरा मन प्रसन्न हैं बुद्धि मुझे उतम बनती है अर्थात् मेरी बुद्धि निर्म्मल है। मैं दुःखपूर्वक सोया मेरा मन आलस मे होरहा है, घूमता है अनवस्थित अर्थात् विचारशून्य होरहा है अत्यन्त बेसुध मैं सोया मेरे अग भारी हो रहे हैं, आलसयुक्त और अपहृत चुराये हुये की समान जडवत् हो रहा है वह निद्रा यदि प्रत्यय न हो तो नींद से जागे मनुष्य को उक्त प्रकार के ज्ञान न हों यदि उस ज्ञान का अनुभव न हो तो उस अनुभव के आश्रित स्मृत भी न होनी चाहिये। इस हेतु से निद्रा भी अभाव ज्ञान है और वह निद्रावृत्ति भी समाधि अर्थात् योग मे और वृत्ति के समान त्यागनी चाहिये ॥ १० ॥

व्या० भा० भा०—निद्रावृत्ति का भी जागृत होने पर विशेष विचार किया जाता हे इसलिए वह भी एक प्रकार का ज्ञान है यदि वह ज्ञान न हो तो—"मैं आज सुख से सोया इससे मेरा मन प्रसन्न है मेरी बुद्धि स्वच्छ है, यद्वा मैं दुःख से सोया इससे मेरा मन आलस में हो रहा है और मत्त के समान घूम रहा है" यह विचार भी न होता, क्योंकि अज्ञान से अनुभव नही होता और

यस्य सः शब्दज्ञानानुपाति वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यव सायः स विकल्प इत्युच्यते। यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति अत्र देवदत्तस्य कम्बल इतिशब्दजनिते ज्ञाने षष्ठ्या योऽध्यवसितो भेदस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्यवसायः। वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ९ ॥

निद्रांव्याख्यातुमाह।

भोज वृ० भा०—शब्द में उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्दज्ञान कहाता है शब्दज्ञान के पीछे होने का स्वभाव है जिससे वह शब्दज्ञाना-नुपाति हुआ अर्थात् शब्दज्ञान में मोहित होकर पदार्थ की सत्ता की अपेक्षा जिसमें न रहे वह वृत्ति विकल्प कहाती है, जैसे कोई कहे कि 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है" इस वाक्य में 'देवदत्त से भिन्न षष्ठी विभक्ति द्वारा कम्बल का ज्ञान होता है परन्तु यथार्थ में पुरुष ही चैतन्यरूप है अगले सूत्र में निद्रावृत्ति की व्याख्या करेंगे ॥ ९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

पू० का प० (अभावप्रत्यालम्बना) अभाव की समता को जो आश्रय कर वह वृत्ति (निद्रा) निर्गत अर्थात् शारीरिक विषय-आसक्ति जिस वृत्ति में दूर हो जाती है उसे निद्रा कहते हैं।

सू० का अ०—अभाव अर्थात् ज्ञानाभाव को जो आश्रय करे उसे निद्रा कहते हैं अर्थात् अविद्यामहत्त वृत्ति को निद्रा कहते हैं।

व्या०—भा०—साच संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्यय विशेषः। कथं सुखमहमस्वाप्सम् प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति। दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मनो भ्रमत्यन

नवस्थितं गाढं मूढोहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तम् मे चित्तमलम् मुषितऽमिव तिष्ठतीति स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यात् असति प्रत्यायानुभवेतदाश्रिताः स्मृत-यश्च तद्विषया न स्युः । तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा साच समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

व्या० भा० पदार्थ—और वह निद्रा जाग्रत हो जाने पर निद्रा-वस्था के विचारने से ज्ञान विशेष है यदि वह ज्ञान विशेष न हो तो जागने पर यह बोध कैसे होसक्ता, मैं आनन्द से सोया मेरा मन प्रसन्न हैं बुद्धि मुझे उत्तम बनती है अर्थात् मेरी बुद्धि निर्म्मल है। मैं दुःखपूर्वक सोया मेरा मन आलस मे होरहा है, घूमता है अनवस्थित अर्थात् विचारशून्य होरहा है अत्यन्त बेसुध मैं सोया मेरे अग भारी हो रहे हैं, आलसयुक्त और अपहृत चुराये हुये की समान जडवत् हो रहा है वह निद्रा यदि प्रत्यय न हो तो नींद से जागे मनुष्य को उक्त प्रकार के ज्ञान न हों यदि उस ज्ञान का अनुभव न हो तो उस अनुभव के आश्रित स्मृत भी न होनी चाहिये। इस हेतु से निद्रा भी अभाव ज्ञान है और वह निद्रावृत्ति भी समाधि अर्थात् योग में और वृत्ति के समान त्यागनी चाहिये ॥ १० ॥

व्या० भा० भा०—निद्रावृत्ति का भी जागृत होने पर विशेष विचार किया जाता है इसलिए वह भी एक प्रकार का ज्ञान है यदि वह ज्ञान न हो तो—"मैं आज सुख से सोया इससे मेरा मन प्रसन्न है मेरी बुद्धि स्वच्छ है, यद्वा मैं दुःख से सोया इससे मेरा मन आलस मे हो रहा है और मत्त के समान घूम रहा है" यह विचार भी न होता, क्योंकि अज्ञान से अनुभव नही होता और

यस्य सः शब्दज्ञानानुपाती वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यव सायः स विकल्प इत्युच्यते। यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति अत्र देवदत्तस्य कम्बल इतिशब्दजनित ज्ञानेषष्ठ्या योऽध्यवसितो भेदस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्यवसायः। वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ९ ॥

निद्रां व्याख्यातुमाह।

भाषा सू० भा०—शब्द में उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्दज्ञान कहाता है शब्दज्ञान के पीछे ज्ञान का स्वभाव है जिससे वह शब्दज्ञाना-नानुपाति हुआ, अर्थात् शब्दज्ञान में मोहित होकर पदार्थ की सत्ता की अपेक्षा जिसमें न रहे वह वृत्ति विकल्प कहाती है, जैसे कोई कहे कि 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है" इस वाक्य में "देवदत्त से भिन्न षष्ठी विभक्ति द्वारा कम्बल का ज्ञान होता है परन्तु यथार्थ में पुरुष ही चैतन्यरूप है अगले सूत्र में निद्रावृत्ति की व्याख्या करेंगे ॥ ९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

सू० का प० (अभावप्रत्ययालम्बना) अभाव की समता को जो आश्रय करे वह वृत्ति (निद्रा) निगत अर्थात् शारीरिक विषय-प्रसक्ति जिस वृत्ति में दूर हो जाती है उस निद्रा कहते हैं।

मू० का अ—अभाव अर्थात् ज्ञानाभाव को जो आश्रय करे उसे निद्रा कहते हैं अर्थात् अविद्याग्रस्त वृत्ति को निद्रा कहते हैं।

व्या०—भा०—सा च संप्रबोधप्रत्ययमर्शात् प्रत्यय विशेषः। कथं सुखमहमस्वाप्सम् प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति। दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मनो भ्रमत्यन

नवस्थितं गाढं मूढोहमस्त्राप्सं गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तम् मे चित्तमलम् सुपितऽमिव तिष्ठतीति स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यात् असति प्रत्यायानुभवेतदाश्रिताः स्मृत-यश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा साच समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

व्या० भा० पदार्थ—और वह निद्रा जाग्रत हो जाने पर निद्रा-वस्था के विचारने से ज्ञान विशेष है यदि वह ज्ञान विशेष न हो तो जागने पर यह बोध कैसे होसक्ता, मैं आनन्द से सोया मेरा मन प्रसन्न हैं बुद्धि मुझे उतम बनती है अर्थात् मेरी बुद्धि निर्म्मल है। मैं दुःखपूर्वक सोया मेरा मन आलस मे होरहा है, घूमता है अनवस्थित अर्थात् विचारशून्य होरहा है अत्यन्त बेसुध मैं सोया मेरे अग भारी हो रहे हैं, आलसयुक्त और अपहृत चुराये हुये की समान जडवत् हो रहा है वह निद्रा यदि प्रत्यय न हो तो नींद से जागे मनुष्य को उक्त प्रकार के ज्ञान न हों यदि उस ज्ञान का अनुभव न हो तो उस अनुभव के आश्रित स्मृत भी न होनी चाहिये। इस हेतु से निद्रा भी अभाव ज्ञान है और वह निद्रावृत्ति भी ममाधि अर्थात् योग में और वृत्ति के समान त्यागनी चाहिये ॥ १० ॥

व्या० भा० भा०—निद्रावृत्ति का भी जागृत होने पर विशेष विचार किया जाता है इसलिए वह भी एक प्रकार का ज्ञान है यदि वह ज्ञान न हो तो—"मैं आज सुख से सोया इससे मेरा मन प्रसन्न है मेरी बुद्धि स्वच्छ है, यद्वा मैं दुःख से सोया इससे मेरा मन आलस में हो रहा है और मत्त के समान घूम रहा है" यह विचार भी न होता, क्योंकि अज्ञान से अनुभव नही होता और

अनुभव के बिना स्मृति नहीं होती इससे सिद्ध होता है कि निद्रा असमृत अवस्था के रहते या सुप्त पदार्थ ज्ञान के अभाव ज्ञान को कहते हैं ॥ १० ॥

१० सू वि०—जिसमें सांसारिक पदार्थों के अभाव का ज्ञान रहे अर्थात् जो अभाव ज्ञान के आश्रय पर ही स्थिर हो उस वृत्ति का नाम निद्रा है इस वृत्ति में तमोगुण ही प्रधान है इस ही कारण से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान जाता रहता है इसमें अभाव का ही ज्ञान रहता है इस कारण से इसे मनोवृत्ति कहते हैं ॥ १० ॥

भोजवृत्ति—अभावप्रत्यय आलम्बनं यस्याः सा तथोक्ता वृत्तिः एवमुक्त भवति—या सन्ततं उद्रिक्तत्वात् तमसः समस्तविषयपरित्यागेन प्रवर्तते वृत्तिः सा निद्रा । तस्याश्च सुखमहमस्वाप्समिति स्मृतिदर्शनात् स्मृतेश्चानुभवाव्यतिरेकेणानुपपत्तेश् सिद्धम् ॥ १० ॥

स्मृति व्याख्यातुमाह ।

भोज वृ० भा०—अभाव ज्ञान को धारण करने वाली वृत्ति को निद्रा कहते हैं फलितार्थ यह है कि तमोगुण की प्रधानता से जिसमें सब विषयों का त्याग हो जाता है उस वृत्ति को निद्रा कहते हैं (२) मनुष्य जब सो के उठता है तब उसे स्मरण होता है कि मैं सुख से सोया यह स्मृति बिना अनुभव के नहीं हो सकती है इससे जाना जाता है कि निद्रा भी एक वृत्ति है अगले सूत्र में स्मृति का लक्षण लिखेंगे ॥ १० ॥

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

सू० का पदार्थ—(अनुभूतविषयासम्प्रमोषः) अर्थात् जिन विषयों का चित्त द्वारा वा इन्द्रिय द्वारा अनुभव अनुभूत किया गया हो उनका जो असम्प्रमोष अर्थात्

ध्यान (स्मृतिः) उसे स्मृति कहते हैं ॥ ११ ॥

सू० का भा०—अनभूत पदार्थों के पुनर्विचार को स्मृति कहते हैं ॥ ११ ॥

व्या० भाष्य–किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्वित् विषयस्येति ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासः तज्जातीयकं संस्कारमारभते स संस्कारः स्वव्यंजकांजनः तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति। तत्र ग्रहणाकारपूर्वाबुद्धिः ग्राह्याकारपूर्व्वा स्मृतिः साच द्वयी भावितस्मर्त्तव्या चाभावितस्मर्त्तव्या च स्वपने भावितस्मर्त्तव्या। जाग्रत्समयेत्वभावितस्मर्त्तव्येति सर्वाः स्मृतयः प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात् प्रभवन्ति। सर्वाश्चैव वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः। सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः सुखानुशयीरागः। दुःखानुशयी द्वेषः। मोहः पुनरविद्येति। एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः। आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति असंप्रज्ञातोवेति ॥११॥

अथासां निरोधक उपाय इति

व्या० भा० का पदार्थ—क्या बोध का चित्त स्मरण करता है वा विषय का ? ग्रहण करने योग्य विषयोंमें जो प्रसन्नतापूर्वक बोध होता है वह प्रत्यय अथवा ग्राह्य जो विषय और ग्रहण अर्थात् जिनके द्वारा पदार्थ ग्रहण किया जाता है यह प्रमाण वह यह दोनों अपने समान संस्कार को उत्पन्न करते हैं संस्कार नेत्राञ्जन के समान अपने समान ही अनुभूत विषय तथा उसमें ज्ञान की

स्मृति को उत्पन्न करता है परन्तु उस स्मृति में भी बोध रूप बुद्धि है अर्थात् जो विषय ग्रहण का ज्ञान होता है वह बुद्धि है और ग्राह्य विषय का जो स्मरण है वह स्मृति है। और दोनों बुद्धि और स्मृति दो प्रकार की हैं 'भावितस्मर्तव्य और अभावितस्मर्तव्य' भेद से स्वप्नावस्था में वा जागृत अवस्था के अनुभूत पदार्थों की स्मृति होती है वह भावितस्मर्तव्य स्मृति और बुद्धि कहलाती है जागृत् अवस्था में वा स्वप्नावस्था के पदार्थों की स्मृति होती है उसे अभावितस्मर्तव्य स्मृति कहते हैं। सब स्मृति प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा और अनुभव इन पांचों वृत्तियों के अनुभव से होती हैं और यह सब वृत्तियां सुख दुःख तथा मोह रूप ही हैं सुख दुःख तथा मोह का वर्णन पांच क्लेशों के वर्णन में किया जायगा। सुख के निमित्त जिसमें प्रवृत्ति होती है उसे राग कहते हैं दुःख के निमित्त जिसमें प्रवृत्ति होती है उसे द्वेष कहते हैं यद्यपि अनुशयी शब्द का अर्थ तात्पर्य के अनुसार पश्चात्ताप होता है परन्तु प्रकरणवश यहां निमित्तार्थ करना ही युक्त है मोह अविद्या को कहते हैं योगी को उचित है कि इन सब वृत्तियों का निरोध करे इन वृत्तियों के निरोध हो जाने के पश्चात् असम्प्रज्ञात योग हो सकता है क्यों कि जब तक वृत्तियां निरुद्ध न होंगी तब तक मनुष्यों के समान ही योगी भी रहता है किन्तु उसकी योग संज्ञा भी अनुचित ही है॥ ११॥

व्या० भा० का भावार्थ—सूत्रकार ने जो स्मृति का यह लक्षण किया है कि अनुभूत विषयों के पुनर्विचार को स्मृति कहते हैं इसमें यह शंका होती है कि चित्त पदार्थ का स्मरण करता है वा पदार्थज्ञान का? यदि पदार्थ का ही स्मरण करता है तो बिना पदार्थ ज्ञान के स्मरण होना असंभव है क्योंकि स्मरण में तीन ही कारण होते हैं राग द्वेष मोह। इन तीनों में से राग उसे कहते

है जो सुख निमित्तक हो और द्वेष वह है जो दुःख निमित्तक हो जैसे देवदत्त पितरं स्मरति देवदत्त अपने पिता का स्मरण करता है यहसुख पूर्वक रागःसे स्मरण हुआ। भारतवासी यवन सम्राटों का स्मरण करते हैं यह दुःखपूर्वक द्वेष से स्मरण हुआ ऐसे ही मोह मे भी स्मरण होता है, उस स्मृति के दो भेद हैं एक भावितस्मर्तव्य और दूसरा अभावितस्मर्तव्य। स्वप्नावस्था में जो जागृत् अवस्था में देखे पदार्थों का स्मरण होता है वह भावित स्मर्तव्या स्मृति है और जागृत अवस्था में जो स्मृति होती है वह अभावितस्मर्तव्या है सब प्रकार की स्मृति प्रमाणादि ५ वृत्तियों के अनुभव वा आश्रय से ही होती हैं योगी को उचित है कि इन सब वृत्तियों का निरोध करे, इन वृत्तियों के निरोध होने ही से संप्रज्ञात वा असंप्रज्ञात होता है ॥ ११ ॥

विशेष—समाधिपाद के प्रथम सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा था कि सर्ववृत्तिनिरोधेत्वसंप्रज्ञातः समाधिः अर्थात् समस्त वृत्तियो के निरोध होने पर असप्रज्ञात योग होता है और इस ११ वे सूत्र के भाष्य मे लिखते हैं कि "एताः सर्वा वृत्तियो निरोद्धव्या आसा निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसंप्रज्ञातो वा," अर्थात् इन पांच वृत्तियों के निरोध होने ही पर सम्प्रज्ञात वा असम्प्रज्ञात योग होता है ये दोनो वाक्य परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि सम्प्रज्ञात योग जो चार प्रकार का आगे वर्णन करेंगे उसमें विचारानुगत योग मे अवश्य किसी विषय का विचार किया ही जायगा। ऐसे ही वितर्कानुगत में भी किसी विषय का ध्यान रहने ही से उस पर तर्क वितर्क हो सकता है इससे सिद्ध होता है कि सम्प्रज्ञात योग वृत्तियों के रहते भी हो सकता है। फिर भाष्यकार ने अपने भाष्य मे पूर्वापर विरोध क्यों लिखा? उत्तर—भाष्यकार ने अपने वचन मे पूर्वापरविरोध नही लिखा केवल समझने वालों

की बुद्धि में पूर्वापरविरोध है क्योंकि प्रथम शब्दार्थ का समझना चाहिये अर्थ यह है 'सुयोगम् योगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः" अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के मिलाने को योग कहते हैं अर्थात् जो जीवात्मा सांसारिक विषयों में लग रहा है उसे ईश्वरीय विषयों में लगा देन को योग कहते हैं और उस योग के अवान्तर दो भेद हैं एक संप्रज्ञात दूसरा असम्प्रज्ञात, इन का अर्थ पूर्व लिख भी चुके हैं परन्तु फिर यहाँ पर लिखना उचित भान होता है इसलिए फिर लिखते हैं सम्यक् ज्ञायन्ते बुध्यन्ते पदार्था अनेनति सम्प्रज्ञातः भली प्रकार से पदार्थों का ज्ञान जिस के द्वारा उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं इसी के अनुसार भाष्यकार ने प्रथम सूत्र के भाष्य में लिखा है 'सद्भूतमर्थंम्प्रद्योतयतीत्यादि' जगत् में उत्पन्न हुए पदार्थों के अर्थ सत्य रूप को जो प्रकाश करे उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं।

११ सू० वि०—प्रमाणेनानुभूतस्य विषयस्ययाऽसम्प्रमोषः संस्काराधरेण बुद्धावारोहः सा स्मृतिः तात्पर्य यह है कि जागृत अवस्था में जिन विषयों का इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किया जाता है उनका संस्कार हृदय में स्थिर हो जाता है उस ही संस्कार के आश्रय से जो अनुभूत विषयों का चित्त में विचारमात्र होता है उसे स्मृति कहते हैं।

भो० वृ०—प्रमाणेनानुभूतस्य विषयस्य योऽयमसम्प्रमोषः संस्कारद्वारेण बुद्धावारोहः सा स्मृतिः तत्र प्रमाणविपर्ययविकल्पा। जाग्रदवस्था तदेव तदनुभवबलात्प्रत्ययमरूपाः स्वप्नः। निद्रा तु असंवेद्यमानविषया स्मृतिश्च प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रा निमित्ता ॥ ११ ॥

भो० वृ० भा०—जो विषय प्रथम किसी प्रमाण के द्वारा गृहीत हो चुका है उसे जो असम्प्रमोष अर्थात् संस्कारों के द्वारा बुद्धि में

धारण करने को स्मृति कहते हैं। प्रमाण विपर्य्यय और विकल्प यह जाग्रत् अवस्था की वृत्ति हैं इस ही कारण से इनके अनुभव से केवल प्रत्यक्ष के समान स्वप्न जान पड़ते हैं परन्तु निद्रा के विषय जाने नहीं जाते हैं। प्रमाण विकल्प और निद्रा के हेतु से स्मृति होती है ॥

उक्त प्रकार से वृत्तियों का वर्णन करके अब वृत्ति के निरोध का उपाय कहते हैं ॥ ११ ॥

एव वृत्तीर्व्याख्याय सोपाय निरोधं व्याख्यातुमाह ।

अभ्यासवैराग्याभ्यांतन्निरोधः ॥ १२ ॥

पदार्थ—(अभ्यासवैराग्याभ्याम्) अभ्यासश्च वैराग्यञ्च अभ्यास वैराग्ये ताभ्याम्" ईश्वर का निरन्तर चिन्तन करने से और और विषयवासना को त्यागने से (तन्निरोध :) "तासां वृत्तीनां निरोधस्तन्निरोधः" पूर्वोक्त पाँचों वृत्तियों का निरोध (रोकना) होता है ॥

भावार्थ—ईश्वर के निरन्तर चिन्तन तथा वैराग्य से उक्त वृत्तियाँ रुक जाती हैं ॥ १२ ॥

व्या० भाष्य—चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणायवहति पापाय च यातु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भारऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते। विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १२ ॥

पदार्थ—चित्तरूप नदी दोनों ओर से बहनेवाली बहती है कल्याण के लिए और बहती है पाप के लिये जो कैवल्य अर्थात् मोक्ष जिसका पर्वताग्रभाग उत्पत्ति स्थान है अर्थात् जैसे ऊँचे स्थल की ओर नदी का वेग नहीं जाता है वैसे ही इस कल्याण-वहा चित्तरूप नदी का भी वेग मोक्ष की इच्छा रूप पर्वत से उत्पन्न हुआ है और यह नदी विवेक विषय की ओर नीची है इसीलिए अपने वेग से कल्याणरूपी समुद्र में प्राप्त होती है संसार अर्थात् जगत् जिसकी ऊँची भूमि अर्थात् उत्पत्ति स्थान है और अविवेक जिसका बहने का स्थान नीचा और स्थल है और पाप अधर्म रूपी समुद्र में जाकर मिलती है। इन दोनों प्रवाहों में से वैराग्य विषय रूपी नदी का छिन्नभिन्न कर देता है विवेक सत्य का विचार तथा दर्शन अर्थात् शास्त्र के अभ्यास से विवेक रूपी नदी का प्रवाह खुल जाता है इस प्रकार से चित्तरूपी नदी दोनों लहरों के अधीन है ॥ १२ ॥

भावार्थ—प्रसिद्ध चित्तरूपी नदी की दो धारा हैं एक कैवल्य पहाड़ से निकली है और विवेक भूमि में बहती हुई कल्याण सागर में मिलती है दूसरी संसारपक्ष से निकल कर अविवेक तथा विषय भूमि में बहती हुई अधर्म सागर में मिल जाती है है। जब वैराग्यरूप बाँध से विषयभूमि में बहनेवाली धारा को छिन्न भिन्न कर दिया जाता है तब विवेक भूमि में बहनेवाली धारा तीव्र हो जाती है। देखिये जैसे जगत् में गङ्गा आदि नदियों की नहर का जब एक ओर से तख्ता या लोहे के यन्त्र से मार्ग अवरुद्ध (बन्द) कर दिया जाता है और उसका जल दूसरी नहर में छोड़ दिया जाता है तब पहिली नहर (जिसमें तख्ता लगा दिया था) सूख जाती है और दूसरी बहने लगती है इसही प्रकार से वैराग्यरूपी तख्ते से चित्त नदी की पापवहा नहर को बन्द करके कल्याण

वहा नहर को खोलना निरन्तर ईश्वर चिन्तनरूपी यन्त्र (कल) से होता है इससे चित्तवृत्तिनिरोध अभ्यास और वैराग्य के आधीन हैं ॥ १२ ॥

विशेष—चित्त की वृत्ति जो बाह्य विषयों में लिप्त हो रही हैं वैराग्य द्वारा उनका निरोध होता है अर्थात् सांसारिक विषयों में दोषदृष्टि होकर घृणा उत्पन्न होती है और घृणा होने ही से वृत्तियों का अभाव हो जायगा अतएव वह स्वयम् ही अन्तर्मुख होके लीन हो जाती हैं जैसे काष्ठ के जल जाने पर अग्नि आप ही बुझ जाती है। एकाग्र और निरुद्ध अवस्था को दृढ़ रखने के वास्ते अभ्यास अर्थात् पुनः पुनः तन्निमित्तक क्रिया करनी चाहिये।

भोज वृत्ति—अभ्यासवैराग्ये वक्ष्यमाणलक्षणे ताभ्या प्रकाश-प्रवृत्तिनियमरूपा या वृत्तयस्तासा निरोधो भवतीत्युक्तं। तासा विनिवृत्तबाह्याभिनिवेशाना अन्तर्मुखतया स्वकारण एवचित्ते शक्तिरूपतयाऽवस्थानम्। तत्र विषयदोषदर्शनजेन वैराग्येणतद्वै-मुख्यमुत्पाद्यते। अभ्यासेन च सुखजनकशान्तप्रवाहदर्शनद्वारेण दृढस्थैर्य्यमुत्पाद्यते इत्थं ताभ्यां भवति चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १२ ॥ अभ्यासं व्याख्यातुमाह।

भो० वृत्ति भा०—जिस अभ्यास और वैराग्य का लक्षण आगे कहेंगे उनसे प्रकाश प्रवृत्तियों और नियमरूप वृत्तियों का निरोध होता है। तात्पर्य्य यह है कि दूर हो गया है बाह्य वस्तुओं मे अभिनिवेश जिनका उन वृत्तियों का अन्तर्मुख होके चित्त मे स्थिर रखना ही अभ्यास है। विषयों में दोष दृष्टि से उत्पन्न हुआ जो वैराग्य उससे विषयों मे विमुखता उत्पन्न होती है और अभ्यास से सुख की उत्पादक शान्त प्रवाह से दृढ़ स्थिरता प्राप्त होती हैं इसी रीति से अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है ॥ १२ ॥ अभ्यास का लक्षण लिखते हैं।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

पदार्थ—(तत्र) परमेश्वर में (स्थितौ) स्थिर करने में (यत्नोऽभ्यासः) उत्साह को अभ्यास कहते हैं ॥१३॥

भावार्थ—परमब्रह्म परमेश्वर में यत्न और उत्साहपूर्वक चित्त की स्थिति सम्पादन का अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

व्या० भा०—चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः तदर्थंप्रयत्नो वीर्यमुत्साहः तत्सम्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ॥ १३ ॥

भा० का पदार्थ—राजस और तामस वृत्ति से रहित चित्त की जो प्रशान्त वाहिता स्थिति है अर्थात् जब चित्त बाह्य वृत्तियों से उपरत होकर केवल अपने ध्येय में निमग्न हो जाता है तब वह अवृत्तिक कहलाता है। अत्यन्त उद्योग या स्थिरता के साधनों का सम्पादन करना बल अथवा दृढ़ता कभी दुःख प्राप्त होने पर भी चित्त में ग्लानि न लाना उस स्थिरता की सम्पादन अर्थात् प्राप्ति की इच्छा में उसके साधन विषयान्तर में प्रमाणनिग्रहादि के प्रयोग करने का अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

भा० का० भा०—चित्त जो अनेक विषयों में चञ्चल रहता है ईश्वर में अत्यन्त शान्त स्थिति के लिये उद्योग बल अर्थात् दृढ़ता और उत्साह पूर्वक जो उसके साधनों का अनुष्ठान करना है उसे अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

१३ सू० वि०—महाराज भोज ने स्थिति का अर्थ यह लिखा है कि वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठा परिणामस्थितिः वृत्तिरहित चित्त की जो अपने रूप में स्थिति है उसका नाम स्थिति है श्रीमान् स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने भी इस सूत्र के अर्थ में

ईश्वर के रूप में स्थिति का अर्थ किया है वह भाष्य के चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशांत वाहिता स्थितिः इस वाक्य का आवृत्तिकस्य ऐसा पदच्छेद करने से हो सकता है परन्तु एकाग्र और निरुद्ध भूमि मे अभ्यास बढ़ाने से तात्पर्य्य है साराश यह है कि चित्त को विषयों से रोककर निरुद्ध और एकाग्र भूमि मे स्थिर का नाम अभ्यास है ।। १४ ॥

भोज वृ०—वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामः स्थितिः तस्यां यत्न उत्साहः पुनः पुनस्तत्त्वेन चेतसि निवेशनमभ्यास इति ।। १३ ॥ तस्यैव विशेषमाह ॥ १३ ॥

भोज वृत्ति का भाष्य—वृत्तिरहित चित्त का जो स्वरूप मात्र परिणाम है उसे स्थिति कहते हैं उसमे जो यत्न अर्थात उत्साह अर्थात् बारम्बार चित्त को लगाना है उसे अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

सतु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेविता दृढ़भूमिः १४

पदार्थ-(सः) वह अभ्यास दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कार सेविताः) दीर्घकाल तक अभ्यास से अर्थात् बहुत समय तक ईश्वर के ध्यान से निरन्तर अर्थात्आलस्य प्रसाद को परित्याग करके नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य्य से साकार अर्थात् श्रद्धापूर्वक ईश्वर के स्मरण से सेवन किया हुआ (दृढ़भूमिः) दृढ़भूमि कहलाता है ॥ १४ ॥

व्या० भा०—दीर्घकालसेवितः निरंतरासेवितः सत्कारासेवितः । तपसा ब्रह्मचर्य्येण विद्यया च संपादितः संस्कारवान् भूमिवेति व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवोनभिभूतविषय इत्यर्थः ॥ १४ ॥

व्या० भाष्य का पदार्थ—बहुत काल तक अभ्यास किया गया, व्यवधानरहित अर्थात् प्रतिदिन अभ्यास किया श्रद्धा पूर्वक सेवन किया गया, क्लेश सहकर ब्रह्म करना ब्रह्मचर्य अर्थात् मद का नर उसके ज्ञान से अथवा ब्रह्म या परमेश्वर उसकी उपासना से तप से ईश्वर पर्यन्त सब पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से सत्यधारण [किया जाय जिससे वह श्रद्धा कहलाती है अर्थात् सत्यधारिणी बुद्धि या नीति से प्राप्त किया आदरयुक्त दृढ़विश्वास होता है और वही उत्थान रहित संस्कार शीघ्र शीघ्र ही निश्चय हो जानेवाला विषय होता है यही अभिप्राय है ॥ १४ ॥

भावार्थ अभ्यास दीर्घकाल अर्थात् बहुत दिनों तक व्यवधान रहित अर्थात् प्रतिदिन वा अपने नियत किये हुए प्रत्येक दिन के भागों में तप अर्थात् युक्ताहारविहार अथवा अपने वर्णाश्रम के योग्य धर्मानुष्ठान से ब्रह्मचर्य अर्थात् मन और इन्द्रियों को बाह्य विषयों से निरुद्ध करके श्रद्धापूर्वक सेवित होकर दृढ़ होता है १४

भो० वृ०—बहुकालं नैरन्तर्येण आदरातिशयेन च सेव्य मानो दृढभूमिः स्थिरीभवति । दार्ढ्याय प्रभवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥ वैराग्यस्य लक्षणमाह ।

भाषावृत्ति भा०—वह बहुत समय तक निरन्तर अर्थात् किसी समय किसी अवस्था में वा किसी विघ्न से त्याग न किया हुआ अधिक आदर के साथ अनुष्ठान करने से दृढ़ होता है ॥ १४ ॥*

---

*अभ्यासयत्नस्त अल्पकाल यथा स्यात्तथा व्यवधानराहित्येन विघ्नबाहुल्याभावेनया भक्तिप्राभिरूप्येन वा सेवितः सम्यगनुष्ठितः दृढभूमिर्भवतीति फलितार्थः दृढा स्थिरा भूमिर्यस्येति समासः१४

भोग के विचार से शून्य वशीकारसंज्ञा का नाम वैराग्य है। अभि-प्राय यह है कि जो भोग वश में नहीं है उसको अपने वश में नहीं है उसको अपने वश में करके दृश्यमपयपण होकर अन्य विषय की इच्छा न करने को वैराग्य कहते हैं ॥ १५ ॥

आगे वैराग्य का लक्षण कहेंगे।

भावार्थ—स्त्री अन्नपान आदि राज्य पर्यन्त सब सांसारिक विषयों की प्राप्ति में इच्छा न करना एवं पारलौकिक विषयों की भी इच्छा न करना अर्थात् चित्त को समस्त विषयवासना से हटाकर अपने वश में करके ईश्वर में लगा रखने को वैराग्य कहते हैं। यथार्थ तो यह है कि वैराग्य के समान अन्य कोई भी सुख नहीं क्योंकि जिसके वश में आप हो और फिर उस ही को अपने वश में करले इससे अधिक और क्या सुख होगा। 'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्' ॥ १५ ॥

(१५) सू० वि०—जब मुमुक्षु सब विषयों को त्यागेगा तब ही उसका चित्त योग में लगेगा अतएव वैराग्य भी योग का साधन है।

भा० वृ०—द्विविधा हि विषया दृष्टा आनुश्रविकाश्च। तत्र दृष्टा इहैवोपलभ्यमानाः शब्दादयः देवलोकादय आनुश्रविकाः। अनुश्रूयत गुरुमुखा-दित्यनुश्रवो वेदस्तत आगता आनुश्रविकाः तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणामविरसत्वदर्शनाद्विगतगर्धस्य या वशीकारसंज्ञा। ममैवैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योऽयं विमर्शस्तद्वैराग्यमुच्यते ।?
सर्व्येत्र भयमार

श्रव अर्थात् वेद से जिन विषयों का ज्ञान होता है वे आनुश्रविक विषय कहाते हैं, इन दोनो विषयों को परिणामी अर्थात अनित्य जानकर निर्लोभी की जो वशीकारसंज्ञा अर्थात् मेरे वश में विषय हैं मैं विषयों के वश मे नहीं हूँ इस विचार को वैराग्य कहते हैं, इस ही के विशेष रूप को आगे कहते हैं ॥ १५ ॥ ❀

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

पदार्थ—(तत्) वह वैराग्य (परमपुरुषख्यातेः) ईश्वर के पूर्ण और यथार्थज्ञान हो जाने से (गुणवैतृष्ण्यम्) प्रकति के गुण अर्थात् सत्व रज तम और उनके कार्य में तृष्णा रहित होना है ॥ १६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के पूर्णज्ञान हो जाने से जो प्रकृति के गुण और कार्यों में अरुचि होती है उसे वैराग्य कहते हैं ॥ १६ ॥

व्या० भा०—दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषः दर्शनाभ्यासातच्छुद्धि प्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति तद्द्वयं वैराग्यं तत्र यदुत्तरं तत्ज्ञानप्रसादो मात्रं यस्योदये स तियोगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणा क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः श्लिष्टपूर्वो भवसंक्रमो यस्याविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायतइति ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् एत

❀ तच्छब्देनात्र पूर्वोक्त वैराग्यं गृह्यते, पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं वैराग्यं पुरुषख्यातेः पुरुषस्येश्वरस्य ख्यातिर्ज्ञानम्, ईश्वरज्ञानामन्तरमेनीत्कृष्ट वैराग्यमुत्पद्यते नान्यथेति भावार्थः ॥ १५ ॥

भाव के विचार से शुभ्र वशीकारसंज्ञा का नाम वैराग्य है। अभिप्राय यह है कि जो चीज वश में नहीं है उसको अपने वश में नहीं है उसको अपने वश में करके ईश्वरपरायण होकर अन्य विषय की इच्छा न करने को वैराग्य कहते हैं ॥ १५ ॥

आगे वैराग्य का लक्षण कहेंगे।

भावार्थ—स्त्री अन्नपान आदि राज्य पर्य्यन्त सब सांसारिक विषयों की दोषदृष्टि से इच्छा न करना एवं पारलौकिक विषयों की भी इच्छा न करना अर्थात् चित्त को समस्त विषयवासना से हटाकर अपने वश में करके ईश्वर में लय रखने को वैराग्य कहते हैं। यथार्थ तो यह है कि वैराग्य के समान अन्य कोई भी सुख नहीं क्योंकि जिसके वश में आप हो और फिर उस ही को अपने वश में करले इससे अधिक और क्या सुख होगा। "सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्" ॥ १५ ॥

(१५) सू० वि०—जब मुमुक्षु सब विषयों को त्यागेगा तब ही उसका चित्त योग में लगेगा अतएव वैराग्य भी योग का साधन है।

भो० वृ०—द्विविधो हि विषयो दृष्ट आनुश्रविकश्च। दृष्ट इहैवोपलभ्यमानः शब्दादिः देवलोकादावानुश्रविकः। अनुश्रूयत इति गुरुमुखादित्यनुश्रवो वेदस्तत आगतमानुश्रविकः तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणामविरसत्वदर्शनाद्विगतगर्धस्य या वशीकार संज्ञा। ममैवैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योऽयंविमर्शस्तद्वैराग्यमुच्यते ॥१५॥ तस्यैवापि भेदमाह

भाषा वृत्ति भा०—विषय दो प्रकार का है एक दृष्ट दूसरा आनुश्रविक। जिनका इसही लोक में भोग किया जाता है उन्हें दृष्ट विषय कहते हैं देवलोक अर्थात् स्वर्गादिक आनुश्रविक विषय कहाते हैं जब गुरुमुख से सुना जाय उसे अनुश्रव कहते हैं अतः

श्रव अर्थात् वेद से जिन विषयों का ज्ञान होता है वे आनुश्रविक विषय कहाते हैं, इन दोनों विषयों को परिणामी अर्थात अनित्य जानकर निर्लोभी की जो वशीकारसंज्ञा अर्थात् मेरे वश मे विषय हैं मैं विषयों के वश मे नहीं हूँ इस विचार को वैराग्य कहते हैं, इस ही के विशेष रूप को आगे कहते हैं॥ १५॥ ※

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

पदार्थ—(तत्) वह वैराग्य (परमपुरुषख्यातेः) ईश्वर के पूर्ण और यथार्थज्ञान हो जाने से (गुणवैतृष्ण्यम्) प्रकृति के गुण अर्थात् सत्व रज तम और उनके कार्य में तृष्णा रहित होना है॥ १६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के पूर्णज्ञान हो जाने से जो प्रकृति के गुण और कार्यों मे अरुचि होती है उसे वैराग्य कहते हैं॥ १६ ॥

व्या० भा०—दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषः दर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धि प्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति तद्द्वयं वैराग्यं तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादो मात्रं यस्योदये स तियोगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणा क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः श्लिष्टपूर्वो भवसंक्रमो यस्याविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायतइति ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् एत

※ तच्छब्देनात्र पूर्वोक्त वैराग्यं गृह्यते, पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं वैराग्यं पुरुषख्यातेः पुरुषस्येश्वरस्य ख्यातिर्ज्ञानम्, ईश्वरज्ञानामन्तरमेनी त्कृष्टं वैराग्यमुत्पद्यते नान्यथेति भावार्थः॥ १५॥

स्येव हि नांतरीयकं कैवल्यमिति ॥१६ ॥

अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति ॥ १६ ॥

भा० का प०—लौकिक और पारलौकिक विषयों में दोष देखकर विरक्त अर्थात् त्याग हुआ पुरुष शास्त्रविचार और योगाभ्यास से चित्त की शुद्धि होती है और उससे बुद्धि निर्मल होती है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष गुणों से उपरत होना यह दोनों प्रकार का वैराग्य होता है। इन दोनों में जो पिछला वैराग्य है वह केवल ज्ञान का साधन है जिसके उदय होने पर उदित हुए ज्ञान से मुमुक्षु ऐसा मानता है जिसकी मुझे इच्छा थी उसे मैंने पाया जिनका मैं क्षय करना चाहता था वे मेरे क्लेश दूर हो गये जिसकी सन्धियाँ परस्पर एक से दूसरी सटी हुई हैं यह संसारमयी बेड़ी टूट गयी, जिसके बिना विच्छिन्न हुये जन्म लेकर मरता है और मरकर जन्म लेता है इस ज्ञान की अधिकता को वैराग्य कहते हैं इसी वैराग्य के विघ्नरहित अभ्यास करने से मोक्ष होता है ॥ १६ ॥ अब दोनों उपायों से निरुद्धचित्तवृत्तिवाले का संप्रज्ञात योग कैसे होता है ?

भावार्थ—लौकिक और पारलौकिक विषयों में विरक्त पुरुष का विवेक द्वारा बुद्धि शुद्ध होने से स्थूल और सूक्ष्म गुणों में विरक्तता होने से शुद्ध ज्ञान उदय होता है और उस मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि मुझे प्राप्य सुख की प्राप्ति हुई है और हेय दुःखों का नाश हुआ है। जिस अज्ञान से जन्म लेकर मरता है और मर कर फिर जन्म लेता है, वह भी नष्ट हो गया इस ज्ञान का दृढ़ होना ही वैराग्य कहलाता है इस ज्ञान की निर्विघ्न स्थिति से मोक्ष होता है इस वैराग्य द्वारा जिसकी चित्तवृत्ति निरुद्ध हो गई है उसका सम्प्रज्ञात समाधि होती है ॥ १६ ॥

भो० वृ०—तद्वैराग्यं परं प्रकृष्टं प्रथमं वैराग्यं विषयविषयं द्वितीय गुणविषयं उत्पन्नगुणपुरुषविवेकख्यातेरेव भवति, निरोध-समाधेरत्यन्तानुकूलत्वात् ॥ १६ ॥

एवम् योगस्य स्वरूपमुक्त्वा सम्प्रज्ञातस्वरूपभेदमाह ।

भो० वृ० भा०—यह वैराग्य उत्तम और प्रथम विषयविषयक है अर्थात् प्रथम संसार के विषयों में दोषदृष्टि से उन्हें त्यागने की इच्छा उत्पन्न होती है, दूसरा गुणविषयक वैराग्य है, वह परम पुरुष के ज्ञान से उत्पन्न होता है अर्थात् परमात्मज्ञान से प्रकृति के समस्त गुणों मे वितृष्णा उत्पन्न होती है। यह वैराग्य समाधि मे अत्यन्त सहायक है। इस रीति से योग का लक्षण कहके अब योग के सम्प्रज्ञात भेद का वर्णन करते हैं।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः १७

पदार्थ—(वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्) वितर्क उसे कहते हैं जिससे सर्व पदार्थों का स्थूल विचार किया जाता है और जिससे सूक्ष्म विचार किया जाता है उसे विचार कहते हैं, जिससे सन्तोष प्राप्त हो उसे आनन्द कहते हैं अस्मिता उस ज्ञान को कहते हैं जिसके द्वारा जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जैसे मैं पाँचभौतिक शरीर से भिन्न हूँ, ऐसे हो ईश्वर से भी भिन्न हूँ, यहाँ पर अनुगत शब्द का "द्वंद्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते" इस न्याय से प्रत्येक के संग में योग होता है इन चार भेदों से चार प्रकार का (सम्प्रज्ञातः) संशय जिसमें संशय विप-

योगी का उसमें कैसा स्वभाव रहता है यह अगले सूत्र में कहते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—वितर्क उसे कहते हैं जो चित्त के स्थिर करने मे स्थूल आश्रय होता है जैसे घट के कारण मृत्ति का कारण त्रसरेणु त्रसरेणुका कारण-द्वयणुक ऐसे ही लक्ष्य पर स्थूल दृष्टि रखने को वितर्क कहते हैं और वितर्कानुगत योग वह है जिसमे वितर्क का आश्रय लिया जाय जैसे समाधिसमय मे यह विचारना कि इस जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई है पुनः उसके द्वारा समस्त सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर में चित्त को लगा देना । विचार उसे कहते हैं जिससे सूक्ष्म वस्तुओ का विचार किया जाय और विचारानुगत योग वह है जिसमें चित्त और शरीर के सूक्ष्म अवयव तथा रजो कार्य से असाध्य उत्पत्ति समझ कर जगतकर्त्ता को अत्यन्त ही निपुण शिल्पी है उसमे अपनी स्थिति को सम्पादन करता है सन्तोष को आनन्द कहते हैं जिसमे पूर्वोक्त दो समाधि से सम्पूर्ण पदार्थों को यथा रूप मे जानकर और अपने को सब जड़ पदार्थ तथा स्थूल शरीर से भिन्न जानकर महाआनन्द अर्थात् सन्तोष होता है उसे आनन्दानुनत कहते हैं और अस्मितानुगत वह है जिसमें जीव अपने स्वरूप ही को केवल विचारता है क्योंकि जब तक अपने स्वरूप को अच्छी प्रकार से नहीं जानेगा तब तक योगी स्थिर-चित्त नहीं हो सकता अब दूसरे असम्प्रज्ञात योग का लक्षण अगले सूत्र में कहेंगे ।

विशेष सू० योग वा समाधि दो प्रकार की है एक सम्प्रज्ञात दूसरी असम्प्रज्ञात, सम्प्रज्ञात का लक्षण यह है "संशयविपर्य्यर-हितत्वेन प्रकर्षेणोत्कृष्टतया ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन स सम्प्रज्ञात" संशय और विपर्यरहित उत्तम प्रकार के ध्येय का जिससे रूप-जाना जाय उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं और विशेष चिन्तन

र्ययशून्य ध्येय का तथा ध्याता का निश्चय हो वह सम्प्रज्ञात योग है ॥ १७ ॥

भावार्थ—सम्प्रज्ञात योग चार प्रकार का है वितर्कानुगत, विचारानुगत आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भेद से ।

व्या० भा० वितर्कः चित्तस्यालम्बने स्थूलआभोगः । सूक्ष्मोविचारः । आनन्दोह्लादः । एकात्मिकासंविदस्मिता तत्र प्रथम चतुष्टयानुगत समाधिः सवितर्कः । द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः तृतीयो विचारविकलः सानन्दः चतुर्थस्तद्विकलः अस्मितामात्रइति । सर्वएते सालम्बनाः समाधयः ॥ १७ ॥ अथासम्प्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वेति ।

पदार्थ—वितर्क चित्त के आश्रय में स्थूल पूर्णता अर्थात् विचार अथवा स्थूल विषय सम्बन्ध सूक्ष्म सम्बन्ध को विचार कहते हैं आनन्द सन्तोष को कहते हैं एक जीव ही जिसमें विचार्य रहता है वह ज्ञान अस्मिता कहलाता है इन दोनों समाधियों में पहिला अर्थात् सम्प्रज्ञात योग चारों के अनुगत है वितर्कानुगत विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत पहिला वितर्कानुगत सवितर्क अर्थात् स्थूल आभोग के सहित होता है दूसरा वितर्क-रहित विचारके सहित होता है इसलिय उसे विचारानुगत कहते हैं तीसरा विचाररहित और आनन्द के सहित होता है चौथा अर्थात् उस आनन्द से रहित केवल अस्मिता अर्थात् अपने ही स्वरूप का विचार इसमें रहता है ये चारों आलम्ब अर्थात् आश्रय के सहित योग होते हैं इसके पश्चात् असम्प्रज्ञात योग का क्या उपाय है

योगी का उसमें कैसा स्वभाव रहता है यह अगले सूत्र मे कहते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—वितर्क उसे कहते हैं जो चित्त के स्थिर करने में स्थूल आश्रय होता है जैसे घट के कारण मृत्ति का कारण त्रसरेणु त्रसरेणुका कारण-द्वयणुक ऐसे ही लक्ष्य पर स्थूल दृष्टि रखने को वितर्क कहते हैं और वितर्कानुगत योग वह है जिसमे वितर्क का आश्रय लिया जाय जैसे समाधिसमय में यह विचारना कि इस जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई है पुनः उसके द्वारा समस्त सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर में चित्त को लगा देना। विचार उसे कहते हैं जिससे सूक्ष्म वस्तुओं का विचार किया जाय और विचारानुगत योग वह है जिसमें चित्त और शरीर के सूक्ष्म अवयव तथा रजो कार्य से असाध्य उत्पत्ति समझ कर जगतकर्त्ता को अत्यन्त ही निपुण शिल्पी है उसमे अपनी स्थिति को सम्पादन करता है सन्तोष को आनन्द कहते हैं जिसमे पूर्वोक्त दो समाधि से सम्पूर्ण पदार्थों को यथा रूप में जानकर और अपने को सब जड़ पदार्थ तथा स्थूल शरीर से भिन्न जानकर महाआनन्द अर्थात् सन्तोष होता है उसे आनन्दानुनत कहते हैं और अस्मितानुगत वह है जिसमें जीव अपने स्वरूप ही को केवल निचारता है क्योंकि जब तक अपने स्वरूप को अच्छी प्रकार से नहीं जानेगा तब तक योगी स्थिर-चित्त नहीं हो सकता अब दूसरे असम्प्रज्ञात योग का लक्षण अगले सूत्र में कहेंगे।

विशेष सू० योग वा समाधि दो प्रकार की है एक सम्प्रज्ञात दूसरी असम्प्रज्ञात, सम्प्रज्ञात का लक्षण यह है "संशयविपर्य्यर-हितत्वेन प्रकर्षेणोत्कृष्टतया ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन स सम्प्रज्ञातः" संशय और विपर्यरहित उत्तम प्रकार के ध्येय का जिससे रूप-जाना जाय उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं और विशेष चिन्तन

का नाम समाधि है।

भो० वृ०—समाधिरिति विशेषः सम्यक् संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन स सम्प्रज्ञातः। समाधिर्भावनाविशेषः। स वितर्कादिभेदाच्चतुर्विधः सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मितश्च। भावना भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनःपुनर्निवेशनम्। भाव्यञ्च द्विविधम्—ईश्वरस्तत्त्वानि च। तान्यपि द्विविधानि जडाजडभेदात्। जडानि चतुर्विंशतिः। अजडः पुरुषः। तत्र यदा महाभूतानीन्द्रियाणि स्थूलानि विषयत्वेनादाय पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखसम्भेदेन च भावना क्रियते तदा सवितर्कः। अस्मिन्नेवालम्बने पूर्वापरानुसन्धानशब्दार्थोल्लेखशून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्त्तते तदा निर्वितर्कः। तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मविषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्त्तते तदा सविचारः। तस्मिन्नेवालम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासित्वेन भावना क्रियमाणा निर्विचार इत्युच्यते। एवं पर्यन्तः समाधिर्ग्राह्यसमापत्तिरिति व्यपदिश्यते। यदा तु रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात् सानन्दः समाधिर्भवति अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहङ्कारत्वाद्विदेहशब्दवाच्याः। इयं ग्रहणसमापत्तिः। ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धसत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्त्तते भावना तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावात् चितिशक्तेरुद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते। न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शंकनीयः। यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहङ्कारः। यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति सास्मिता। अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषाः परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति

तेषा चेतसि स्वकारणे लयमुपागते प्रकृतिलयाइत्युच्यन्ते। ये परं पुरुषं ज्ञात्वा भावनायां प्रवर्तन्ते तेषामियं विवेकख्यातिर्भवीतसमापत्तिरित्युच्यते। तत्र सम्प्रज्ञाते समाधौ चतस्रोऽवस्थाः शक्तिरूपतयाऽवतिष्ठन्ते। तत्रैकैकस्यास्त्यागे उत्तरोत्तरामाह्या इति चतुरवस्थोऽयं सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

असम्प्रज्ञातमाह।

भोज वृ० का भा०—संशय और विपर्य्यय में रहित उत्तम रीति से समाधि द्वारा जिसमें ज्ञेय का रूप जाना जाता है उस बोध को सम्प्रज्ञात कहते हैं. वह समाधि अर्थात् सम्प्रज्ञात् योग वितर्कादि भेद से ४ प्रकार का है, सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित भावना भाव्य अर्थात् ध्येय का ही बारम्बार चित्त में चिंतन करना और दूसरे विषय को चित्त में न लाना। ध्येय दो प्रकार के हैं— एक ईश्वर दूसरे तत्व। तत्व भी दो प्रकार के हैं जड़ और चैतन्य, जड तत्व २४ हैं और चैतन्य केवल जीव है। जब महाभूत और इन्द्रियों को विषय बना के और उनके पूर्वा पर को विचार कर शब्द और अर्थों के विचार द्वारा ध्यान किया जाता है तब वह सवितर्क समाधि कहाती है। इस ही आश्रय से पूर्वापर के शब्द और अर्थों के विचार को त्याग कर जो समाधि की जाती है उसे निर्वितर्क समाधि कहते हैं। जिसमे केवल अन्तःकरण की तन्मात्रा ही सूक्ष्मविषय हों देश और काल के सम्बन्ध को विचार कर जो समाधि की जाती है उसे सविचार समाधि कहते हैं। उक्त आधार से देश और काल के विचार को त्याग कर केवल गुणों के परिज्ञान से जो समाधि की जाती है उसे निर्विचार समाधि कहते हैं। यहाँ तक जो समाधि की जाती है उन्हें ग्राह्यसमापत्ति कहते हैं, जिस समय रजोगुण और तमोगुण के थोड़े से अंश से युक्त हुआ मन जान पडता है, उस समय सत्वगुण सुखस्वरूप हो चित्त मे

संचारित रहता है इस कारण से यह समाधि भी सानन्द कहाती है इस सानन्द समाधि ही में जिनकी धारणा दृढ़ हो जाती है वह विदेह कहलाते हैं क्योंकि इन लोगों को समाधिसमय में शरीर और जीव का भी बोध नहीं रहता है, यह अवस्था ग्रहणसमापत्ति कहाती है। इसके पश्चात् रजोगुण और तमोगुण के लेश से रहित शुद्ध सत्त्वगुण का आश्रय करके जो समाधि की जाती है उसमें ग्राह्य के पृथक् होने से तथा चितिशक्ति की प्रबलता से सत्तामात्र जो समाधि होती है उसे सास्मित समाधि कहते हैं अहंकार और अस्मिता के एक होनेकी शंका न करनी चाहिये क्योंकि अहंकार उसे कहते हैं जिसमें मैं हूं इस अभिमान के साथ बाह्य विषय का ज्ञान होता है और अस्मिता वह है जिससे अन्तर्मुख होके चित्त प्रकृति में लय सा हो जाता है इसी समाधि में जिन का सन्तोष होता है और जो परमात्मा को नहीं देखते हैं वह प्रकृतिलय कहाते हैं जो परमपुरुष परमात्मा को जानकर समाधि में प्रवृत्त होते हैं उनको विवेकज्ञान ग्रहीतृसमापत्ति में पूर्व कही चारों अवस्था शक्ति रूप से रहती है उनमें से पहली अवस्थाओं को त्याग कर पिछली अवस्थाओं का ग्रहण करना चाहिये ॥१७॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वं *संस्कारशेषोन्य ॥१८॥

पदार्थ—(विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः) समस्त चित्त वृत्तियों के अवसान अर्थात् अन्त को विराम कहते हैं उस विराम का जो प्रत्यय अर्थात् ज्ञान के वारम्वार अभ्यास

* संस्कार अर्थात् वह गुण जो निमित्त के नाश होने पर भी किंचिन्मात्र शेष रह जाता है।

पूर्वक (संस्कारशेषः) जिसमें केवल संस्कार ही शेष हैं, अर्थात निरावलम्ब अवस्था (अन्यः) असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जिसमें चित्त की समस्तवृत्तियों का अवसान(अन्त) हो जाता है उस वितर्कादि के अभाव ज्ञान की वारम्वार विचार पूर्वक केवल संस्कार ही शेष रहते हैं उस निरालम्ब समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं परन्तु चित्तवृत्तिनिवृत्ति का मुख्य कारण वैराग्य है ॥ १८ ॥

व्य० भा०—सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसम्प्रज्ञातः तस्य परं वैराग्यमुपायः सालम्बऽह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययोनिर्वस्तुकआलम्वनीक्रियते स चार्थशून्यः तदभ्यासपूर्वकंहि चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः स खल्वयं द्विविध उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति ॥ १८ ॥

पदार्थ—सब वृत्तियों के अस्त हो जाने पर जिसमें केवल संस्कार ही शेष रह जाते हैं वह चित्त का निरोध असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है उस असम्प्रज्ञात समाधि का परम उपाय वैराग्य है वितर्कादि के आश्रय से जो प्राणायाम का अभ्यास वह उक्त असम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध करने को युक्त नहीं है चित्त वृत्तियों को अभाव ज्ञान अथवा विषयों में विरक्ति निर्वस्तुक अर्थात् निराकार परमेश्वर के आश्रय मे दृढ़ करता है वह निरालम्ब असम्प्रज्ञात समाधि सांसारिक प्रयोजन से रहित होती है उसके

अभ्यास से चित्त निराश्रय होने से ऐसा भान होता है कि मानो है ही नहीं इस निर्बीज अर्थात् निराश्रय समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं सो यह निर्विकल्प असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की है उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय। इन दोनो में से उपायप्रत्यय योगियों को होती है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जब चित्त की समस्त वृत्तियाँ अस्त हो जाती हैं और केवल संस्कार शेष रह जाते हैं तब असम्प्रज्ञात समाधि होती है उसकी प्राप्ति का परम उपाय वैराग्य है आलम्बनसहित कोई उपाय इसकी प्राप्ति का साधन नहीं है सांसारिक विषय से रहित होती है केवल दृश्य पदार्थों में विरक्ति और आकाररहित परमेश्वर स्थिति एवम् प्राणायाम उसका साधन है जिससे चित्त का अभाव सा भान होने लगता है असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद हैं एक उपायप्रत्यय दूसरा भवप्रत्यय इन दोनों में से उपायप्रत्यय योगियों को होती है ॥ १८ ॥

भा० वृ०—विरम्यतेऽनेनेति विरामो वितर्कादिचिन्तात्यागः। विरामश्चासौ प्रत्ययश्चेति विरामप्रत्ययस्तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन चेतसि निवेशनम्। तत्र या काचित् वृत्तिरुल्लसति तस्या नेति नेतीति नैरन्तर्येण पर्युदसनं तत्पूर्व्वः सम्प्रज्ञात समाधिः संस्कारशेषोऽन्यः तद्विलक्षणोऽसम्प्रज्ञात इत्यर्थः। न तत्र किञ्चि द्वेद्यं सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातो निर्बीजः समाधिः। इह चतुर्विधः चित्तस्य परिणामः व्युत्थान समाधिप्रारम्भो निरोध एकाग्रता च तत्र क्षिप्तमूढे चित्तभूमि व्युत्थानम् विक्षिप्ता भूमिश्च। सत्त्वोद्रेकात् समाधिप्रारम्भः। निरुद्धैकाग्रते च पर्य्यन्तभूमि। प्रतिपरिणामञ्च संस्काराः तत्र व्युत्थानजनिताः संस्काराः समाधिप्रारम्भजैः संस्कारैः प्रत्याहन्यन्ते तज्जाश्च एकाग्रताजैः निरोधजनितैरेकाग्रताजा संस्काराः स्वरूपञ्च हन्यन्ते। यथा सुवर्णे संवलितं ध्मायमानं सीस-

क्रमात्मानं सुवर्णमलञ्च निर्दहति । एवमेकाग्रताजनितान् संस्कारान् निरोधजाः स्वात्मानञ्च निर्दहन्ति ॥ १८ ॥ तदेवं योगस्य स्वरूपं भेदञ्च संक्षेपेणोपायाँश्च अभिधाय विस्तररूपेणोपायं योगाभ्यास-प्रदर्शनपूर्वकं वक्तुमुपक्रमते ।

भो० वृ० का भा०—जिसके द्वारा वितर्कादिकों की चिन्ता को त्यागा जाता है उसे विराम कहते हैं विरामरूप प्रत्यय अर्थात् ज्ञानको बारम्बार चित्तमें धारण करने को विरामप्रत्ययाभास कहते हैं। फलितार्थ यह हुआ कि सब वृत्तियों के निवारण करने को विरामप्रत्ययाभ्यास कहते हैं। जिसमें विरामप्रत्ययाभास हो जाता है उसे सम्प्रज्ञात समाधि और उससे जो विलक्षण समाधि हो उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। असम्प्रज्ञात योग निर्जीव समाधि का ही नाम है चित्त का परिणाम ४ प्रकार का है व्युत्थान समाधि प्रारम्भ, निरोध और एकाग्रताक्षिप्त मूढ़ भूमिकाओं मे जो चित्त का परिणाम रहता है उसे व्युत्थान कहते हैं. सत्व-गुण से समाधि का प्रारम्भ होता है, समाधि के संस्कारों से व्यु-त्थान के संस्कारों का नाश होता है समाधि प्रारम्भ के उत्पन्न हुए संस्कार एकाग्रता के संस्कारों से नाश होते हैं, ऐसे ही एकाग्रता के संस्कार विरोध से नष्ट हो जाते हैं, जैसे सोने में मिला हुआ सीसा आग मे रखने से सोने के मैल को जला कर आप भी जल जाता है, ऐसे ही निरोध के संस्कार एकाग्रता के संस्कारों को नाश करके आप भी लय हो जाते हैं।

इस प्रकार से योग के भेद और सङ्क्षिप्तरीति से उपाय दिख-लाके योग के उपायों को विस्तार के साथ कहते हैं॥ १८ ॥

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—(भवप्रत्ययः) भव जो जगत् अथवा

अविद्या उसका प्रत्यय अर्थात् ज्ञान जिसमें रहता है उसे भवप्रत्यय कहते हैं (विदेहप्रकृतिलयानाम्) विदेह प्रकृतिलयों को "भवतीति शेषः" होता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—भवप्रत्यय विदेहलय और प्रकृतिलयसंज्ञक योगियों को होता है विदेहानां देवानामिवप्रत्ययः, ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्तते अधिकारवशाच्चित्तमिति ॥ १९ ॥

पदार्थ—विदेहलय अर्थात् देहरहित जो आत्मसत्ता उसमें लय अर्थात् तत्पर योगी हैं वे विदेहलय कहाते हैं कामादि शत्रु तथा नित्य इन्द्रियों को जीतने वालों को भवप्रत्यय नामक समाधि होती है क्योंकि वे अपने संस्कार की सहायता से चित्त द्वारा मोक्ष के सुख भोगते हैं अपने संस्कार के फल का संस्कार के समान ही निर्वाह करते हैं अर्थात् जैसा उनका जन्मान्तरीय शुद्ध संस्कार होता है वैसे ही सुखावस्था तथा शुद्ध ध्यानादि भी रखते हैं। ऐसे ही अव्याकृत प्रकृति उसमें जा संलग्न योगी हैं वे अपने अधिकारयुक्त चित्त में प्रकृति में लीन हो कर मोक्ष के सुख का अनुभव करते हैं अर्थात् प्रकृति लय नामक योगी सांसारिक पदार्थों की सिद्धि को परमपद मान लेता है जबतक फिर न अपनी पूर्वावस्था में लौटकर आवे तभी तक वह मोक्षसुख रहता है क्योंकि उसके चित्तमें प्राकृत पदार्थों का अधिकार अर्थात् सम्बन्ध निवृत्त नहीं हुआ है ॥ १९ ॥

भा० भ० भा०—विदेहलय योगी अपने संस्कारमात्र से मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं क्योंकि जैसा उनका शुद्ध संस्कार होता है

वैसा ही उनको शुद्ध फल भी मिलता है और प्रकृतिलय योगी तभी तक मोक्ष के सुख का स्वाद लेते हैं जब तक वे ध्यानावस्थित रहते हैं परन्तु जब उन का चित्त प्राकृतिक पदार्थों में अपने अधिकार के अनुसार लग जाता है तब वह सुख भी नहीं रहता ॥१९॥

आ० वृ०—विदेहाः प्रकृतिभूमिकाः सूत्रव्याख्याताः तेषा समाधिः भवप्रत्यय· भवः संसार स एव प्रत्ययः कारणं यस्य स भवप्रत्ययः अयमर्थः अधिमात्रान्तभूता एव ते संसारे तथाविध-समाधिभाजो भवन्ति । तेषा परतत्वादर्शनाद् योगाभासोऽयम् अतः परतत्त्वज्ञाने तद्भावनायाञ्च मुक्तिकामेन महान् यत्नो विधेय इत्येतदर्थमुपदिष्टम् ॥ १९ ॥ तदन्येषान्तु

भो० वृ० भा० विदेह और प्रकृतिलय योगियों का वर्णन पूर्व कर चुके हैं उनकी समाधि भवप्रत्यय होती है । भव कहते हैं संसार को, वही है प्रत्यय अर्थात् कारण जिसका वह भवप्रत्यय कहाता है फलितार्थ यह हुआ कि वह लोग अधिमात्र के अन्तर्गत हैं उनको समाधि होती है परन्तु वह परमतत्व परमेश्वर को नहीं देख सकते हैं इसलिये उनकी समाधि योगाभास कहाती है । इस कारण से योगी को चाहिये कि परमतत्व क जानने से उसके ध्यान करने में मुक्ति पाने की इच्छा से महान् यत्न करे ॥ १९ ॥

इनसे भिन्न लोगों को अर्थात् जिन लोगों को अभी इच्छामात्र उत्पन्न हुई है उनकी समाधिसिद्धि का उपाय अगले सूत्र में कहते हैं ।

श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।२०।

पदार्थ—(इतरेषाम्) विदेहलय और प्रकृतिलय नामक योगियों से भिन्न मुमुक्षुओं को (श्रद्धावीर्यस्मृति-समाधिप्रज्ञापूर्वकः) श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, एकाग्रचित्तता

और यथार्थ ज्ञान से उपायप्रत्यय योग होता है ॥ २० ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त योगियों से भिन्न मुमुक्षुओं का योग, श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, समाधि प्रज्ञा से होता है इसी से यह उपायप्रत्यय कहाता है ॥ २० ॥

व्या० भा०—उपायप्रत्ययो योगिनां भवति श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्तते। येन यथावद्वस्तु जानाति तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥ २० ॥ ते खलु नव योगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति। तद्यथा मृदूपायो मध्योपायोऽधिमात्रोपायश्च ॥ २० ॥

पदार्थ—उपायप्रत्यय नामक योग योगियों को होता है यह पूर्व कह चुके हैं परन्तु कैसे योगी को होता है? चित्त की प्रसन्नता को श्रद्धा कहते हैं, उससे युक्त योगी ही उस योग का अधिकारी है। यह प्रसन्नतायुक्त क्योंकि यह श्रद्धा माताके समान हित चाहने वाली, योगी की रक्षा करती है उस श्रद्धायुक्त अभ्यासस्य ज्ञान की इच्छा है जिसको उस योगी का उत्साह उत्पन्न होता है तब उसका प्रसाद होता है फिर उसे स्मृति अर्थात् उत्तम २ स्मरण होता है और स्मृति के स्थिर होने से चित्त आनन्दमय होकर (समाधीयते) सावधान हो जाता है। सावधान चित्त वाले को बुद्धि और सत्यासत्य का विचार उत्पन्न होता है जिससे ठीक अर्थात् जैसी को है

वैसी ही वस्तु को जानता है। इस विवेक के अभ्यास से और इसही का निरन्तर चिन्तन रहने से वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि होती है निश्चय वे नये योगी तीन प्रकार के अर्थात् १–मृदूपाय २–मध्योपाय ३–अधिमात्रोपाय होते हैं उनके स्पष्टार्थ लिखते हैं मृदु अर्थात् अल्प है उपाय जिसका मध्यम है उपाय जिसका अधिमात्र अर्थात् उत्तम उपाय वाला ॥ २० ॥

भा० का भावार्थ—पूर्व सूत्र में कहा था कि उपायप्रत्यय योग योगियों को होता है परन्तु वह मुमुक्षु योगियों को होता है अर्थात् पहिले योग में श्रद्धा होती है उससे चित्त प्रसन्न होता है क्योंकि कल्याणकारिणी श्रद्धा योगी की माता के समान रक्षा करती है, पश्चात् उस विवेक की इच्छा करने वाले श्रद्धालु योगियों को उत्साह उत्पन्न होता है पश्चात् स्मृति उत्पन्न होती है स्मृति के स्थिर हो जाने से प्रसन्न चित्त सावधान हो जाता है सावधान चित्त होने से बुद्धि और विवेक अर्थात् सत्यासत्य का विचार प्राप्त होता है जिससे सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता और इस बुद्धि और विवेक के अभ्यास तथा वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, यह नूतन योगी तीन प्रकार के होते हैं १–मृदूपाय २–मध्योपाय ३–अधिमात्रोपाय ॥ २० ॥

भा० वृ०—विदेहप्रकृतिलयव्यतिरिक्तानां योगिना श्रद्धादिपूर्वकः श्रद्धादयः पूर्वे उपाया यस्यस श्रद्धादिपूर्व्वकः । ते च श्रद्धादयः क्रमादुपायोपेयभावेन प्रवर्तमानाः संप्रज्ञातसमाधेरुपायता प्रतिपद्यन्ते । तत्र श्रद्धायोगविषय चेतसः प्रसादः वीर्य्यमुत्साहः स्मृतिरनुभूतासम्प्रमोषः । समाधिरेकाग्रता । प्रज्ञातव्यविवेकः तत्र श्रद्धावतो वीर्य्यं जायते योगविषय उत्साहवान् भवति । सोत्साहस्य च पाश्चात्यानुभूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते तत्स्मरणाच्च चेतः समाधीयते । समाहितचित्तश्च भाव्यं सम्यग्विवेकेन जानाति । त

एवं मनुष्यस्य उपायप्रत्ययाः । तस्याभ्यासात् परस्माच्च वैराग्याद् भवति असम्प्रज्ञातः ॥ २० ॥

श्रद्धावतां योगिनां उपायभेदाद् भेदानाह ।

भा० पू० भा०—विदेह और प्रकृतिलय (जिनका पिछले सूत्र में वर्णन हो चुका है) योगियों से भिन्न मुमुक्षुओं को श्रद्धा आदि के द्वारा समाधिसिद्धि होती है । श्रद्धादिक उपाय उपेयभाव से सम्प्रज्ञात योग के साधक होते हैं योग के विषय में जो चित्त की प्रसन्नता होती है उसे श्रद्धा कहते हैं उत्साह वीर्य कहाता है, सुने हुए विचार का न भूलना स्मृति चित्त के एकाग्र रखने को समाधि, प्रत्येक पदार्थ के विवेक को प्रज्ञा कहते हैं । जब मनुष्य को योग में श्रद्धा होती है तब उसके करने में उसे उत्साह भी बढ़ता है, उत्साहयुक्त मनुष्य को पिछले कर्मों की स्मृति होती है पूर्व अनुभव के ज्ञान से चित्त की एकाग्रता आती रहती है, जब चित्त एकाग्र होता है तब ध्यान करने योग्य विषयों में विवेक उत्पन्न होता है । इस प्रकार ये श्रद्धादि सम्प्रज्ञात योग के उपाय हैं इनके अभ्यास से और परवैराग्य से असम्प्रज्ञात योग होता है ॥ २० ॥

ऊपर लिखे उपाययुक्त मुमुक्षुओं के उपाय भेद से जो भेद होते हैं उनका वर्णन अगले सूत्र में करते हैं ।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

पदार्थ—(तीव्रसंवेगानाम्) जिनके उपाय का तीव्र संवेग है उनको (आसन्नः) समीप अर्थात् सुलभ है ॥२१॥

भावार्थ—उपायप्रत्ययसमाधि तीव्रसंवेगवाले मुमुक्षु को शीघ्र सिद्ध होती है ।

भाष्य—तत्र मृदूपायोऽपि त्रिविधो मृदुसंवेगो मध्य-

संवेगस्तीव्रसंवेग इति । तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति तत्राधिमात्रोपायात् समाधिलाभः समाधिफलं च भवति ॥ २१ ॥

भा० का पदार्थ—उनमें से मृदूपाय भी तीन प्रकार के हैं मृदु अर्थात् लघु शिथिल है क्रिया की गति या जन्मान्तरीय संस्कार जिसका, मध्य अर्थात् न मृदु न तीव्र है क्रिया और संस्कार जिसका तीव्र अर्थात् बलवान् क्रिया और संस्कार वाला योग। ऐसे ही ३ भेद का मध्योपाय योग है ऐसे ही ३ प्रकार का अधिमात्रोपाय योग है उनमें से अधिमात्रोपाय से योग की प्राप्ति और योग का

पक्षे सम्प्रज्ञातस्य समाधेरुपायाः । तस्याभ्यासात् पराच्च वैराग्यात् भवति असम्प्रज्ञातः ॥ २० ॥

उक्तोपायानां योगिनां उपायभेदाद् भेदानाह ।

भा० सू० भा०—विदेह और प्रकृतिलय (जिनका पिछले सूत्र में वर्णन हो चुका है) योगियों से भिन्न मुमुक्षुओं को श्रद्धा आदि के द्वारा समाधिसिद्धि होती है । श्रद्धादिक उपाय उपेयभाव से संप्रज्ञात योग के साधक होते हैं, योग के विषय में जो चित्त की प्रसन्नता होती है उसे श्रद्धा कहते हैं, उत्साह वीर्य्य कहाता है, सुने हुए विचार को न भूलना स्मृति चित्त के एकाग्र रखने को समाधि ज्ञेय पदार्थ के विवेक को प्रज्ञा कहते हैं । जब मनुष्य की योग में श्रद्धा होती है तब उसके करने में उसे उत्साह भी बढ़ता है उत्साहयुक्त मनुष्य को पिछले कर्मों की स्मृति होती है, पूर्व अनुभव के होने से चित्त की चञ्चलता जाती रहती है, जब चित्त एकाग्र होता है तब ध्यान करने योग्य विषयों में विवेक उत्पन्न होता है । इस प्रकार ये श्रद्धादि सम्प्रज्ञात योग के उपाय हैं, इनके अभ्यास से और परम वैराग्य से असम्प्रज्ञात योग होता है ॥ २० ॥

ऊपर लिखे उपाययुक्त मुमुक्षुओं के उपाय भेद से जो भेद होते हैं उनका वर्णन अगले सूत्र में करते हैं ।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

पदा०—(तीव्रसंवेगानाम्) जिनके उपाय का तीव्र संवेग है उनको (आसन्नः) समीप अर्थात् उत्तम है ॥२१॥

भावार्थ—उपायप्रत्ययसमाधि तीव्रसंवेगवाले मुमुक्षु को शीघ्र सिद्ध होती है ।

भाष्य—तत्र मृदुपायोपि त्रिविधो मृदुसंवेगो मध्य-

संवेगस्तीव्रसवेग इति। तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति तत्राधिमात्रोपायात् समाधिलाभः समाधिफलं च भवति॥ २१॥

भा० का पदार्थ—उनमे से मृदूपाय भी तीन प्रकार के हैं मृदु अर्थात् लघु शिथिल है क्रिया की गति वा जन्मान्तरीय संस्कार जिसका, मध्य अर्थात् न मृदु न तीव्र है क्रिया और संस्कार जिसका तीव्र अर्थात् बलवान् क्रिया और संस्कार वाला योग। ऐसे ही ३ भेद का मध्योपाय योग है ऐसे ही ३ प्रकार का अधिमात्रोपाय योग है उनमे से अधिमात्रोपाय से योग की प्राप्ति और योग का फल होता है॥ २१॥

भावार्थ—पूर्वलिखित मृदूपाय मध्योपाय और अधिमात्रोपाय योगों मे से मृदूपाय भी तीन प्रकार का है एक मृदुसंवेग दूसरा मध्यसंवेग और तीसरा तीव्रसवेग ऐसे ही मध्योपाय और अधिमात्रोपाय के भी तीन तीन भेद हैं इनमें से अधिमात्रोपाय से समाधि की प्राप्ति और समाधि का फल होता है॥ २१॥

भो० वृ०—समाधिलाभः इति शेषः। सवेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः सस्कारः स तीव्रो येषामधिमात्रोपायानां तेषामासन्नः समाधिलाभः समाधिफलञ्चासन्न भवति शीघ्रमेव सम्पद्यते इत्यर्थः॥ २१॥ के, ते तीव्रसंवेगाः? इत्याह—

भो० वृ० भा०—तीव्र संवेग वालों को समाधिसिद्धि शीघ्र मिलती है, सवेग अर्थात् क्रिया का हेतु जो दृढ संस्कार है वह है तीव्र जिनका अर्थात् दृढ़ उपायवालों को समाधि और समाधिफल समीप होता है अर्थात् शीघ्र प्राप्त होता है॥ २१॥

अगले सूत्र में तीव्रसंवेग वालों के भेद वर्णन करेंगे।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपिविशेषः॥ २२॥

पदार्थ—(मृदुमध्याधिमात्रत्वात्) मृदु, मध्य और अधिमात्र (ततोऽपि) उनसे भी (विशेषः) विशेष भेद हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ—मृदुपाय मध्योपाय और अधिमात्रोपाय इनसे भी विशेष भेद हैं ॥ २२ ॥

भाष्य—मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति । ततोपि विशेषस्तद्विशेषान् मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नः, ततो मध्य तीव्रसंवेगस्यासन्नतरः, तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रो पायस्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं चेति ॥२२॥ किमेतस्मादेवासन्नतमस्समाधिर्भवति अथास्य लाभे भवति अन्योपि कश्चिदुपायो न वेति ।

पदार्थ—मृदुतीव्र मध्यतीव्र और अधिमात्रतीव्र इससे अर्थात् वह आसन्न समीप से अधिक होता है उसके अधिक समीप होने से मृदुतीव्रसंवेग के समीप उससे मध्यतीव्रसंवेग के अति समीप उस से अधिमात्रतीव्रसंवेगयुक्त अधिमात्रोपाय के अत्यन्त ही समीप है असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति और समाधि का फल क्या इस ही से अत्यन्त समीप समाधि होती है अथवा इसके प्राप्त होने पर समीप होती है और भी कोई उपाय है वा नहीं ? २२ ॥

भावार्थ—पूर्व सूत्र में मृदूपाय मध्योपाय और अधिमात्रोपाय और इन्हीं तीनों के तीन भेद अर्थात् मृदूपाय मृदुसंवेग मृदुपाय मध्यसंवेग मृदूपायतीव्रसंवेग आदि कह चुके और यह भी कहा था कि तीव्रसंवेग के आश्रय से समाधि सुलभ होती है परन्तु अब

मृदुमध्य और अधिमात्र के योग से तीव्रसवेग भी ३ प्रकार का हुआ तब उसको सुलभ कहना भी ठीक भान नहीं होता है इस-लिए मृदूपायतीव्रसंवेग से सुलभ मध्योपायतीव्रसवेग से अति सुलभ अधिमात्रोपायतीव्रसंवेग से अत्यन्तसुलभ सम्प्रज्ञात समाधि होती है अब यह प्रश्न होता है कि उपायप्रत्यय योगियो को समाधि लाभ करने का यही एक उपाय है वा कोई और भी उपाय है ? ॥ २२ ॥

भो० वृ—तेभ्य उपायेभ्यो मृद्वादिभेदभिन्नेभ्य उपायवतां विशेषो भवति । मृदुर्मध्योऽधिमात्र इत्युपायभेदाः । ते प्रत्येकं मृदुसवेगमध्यसंवेगतीव्रसंवेगभेदात् त्रिधा । तद्भेदेन च नव योगिनो भवन्ति मृदूपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च । मध्योपाय मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च । अधिमात्रोपायो मृदुसवेगो मध्यसंवेगतीव्रसंवेगश्च अधिमात्रोपाये तीव्रसंवेगे च महान् यत्नः कर्त्तव्यो इति भेदोपदेशः ॥ २२ ॥ इदानीमेतदुपाय-विलक्षणं सुगममुपायान्तरं दर्शयितुमाह—

भो० वृ० भा०—मृदुमध्य और अधिमात्र यह उपायों के भेद हैं, यह तीनों उपाय मृदुसंवेग, मध्यसंवेग और तीव्रसंवेग के भेद से तीन प्रकार के हैं, इस रीति से योगी नौ ९ प्रकार के होते हैं, १–मृदूपायमृदुसंवेग, २–मृदुपाय मध्यसंवेग, ३–मृदूपाय तीव्रसंवेग, ४–मध्योपायमृदुसंवेग, ५–मध्योपायमध्यसंवेग, ६–मध्योपायतीव्रसंवेग ७–तीव्रोपायमृदुसवेग ८–तीव्रोपाय मध्य सवेग ९–तीव्रोपायतीव्रसंवेग, फलितार्थ यह हुआ कि मुमुक्षु को तीव्रोपायतीव्रसंवेग वाला होना चाहिये ।

इन उपायों से भिन्न समाधिसिद्धि का एक सुगम उपाय अगले सूत्र में लिखते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

पदार्थ—(ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वर की उपासना से (वा) अथवा ॥ २३ ॥

भावार्थ—अथवा ईश्वर की भक्ति से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

भाष्य—प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण । तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमस्समाधिलाभः समाधिफलञ्च भवतीति ॥ २३ ॥ अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ?

पदार्थ—चिन्तन से "यही का अर्थ भाष्यकार करते हैं" (भक्तिविशेष) से भली प्रकार से लाया गया ईश्वर उस ध्यान करनेवाले योगी पर अनुग्रह करता है केवल ध्यान से ॥ २३ ॥ अब प्रश्न होता है कि प्रधान पुरुष अर्थात् सर्वव्यापक से भिन्न ईश्वर नामक यह कौन है ?

भावार्थ—ईश्वर भक्तिविशेष अर्थात् निरन्तर चिन्तन से प्रकाशित होकर योगी पर कृपा करता है जिससे योगी को असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है ॥ २३ ॥ अब प्रश्न यह होता है कि प्रधान पुरुष से भिन्न यह ईश्वर कौन है ?

भो० वृ०—ईश्वरः वक्ष्यमाणलक्षणः तत्र प्रणिधानं भक्तिविशेषः विशिष्टमुपासनम् सर्वक्रियाणां तत्रार्पणम् विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् परमगुरावर्पयति तत् प्रणिधानं समाधेस्तत्फलस्य च प्रकृष्ट उपायः ॥ २३ ॥

ईश्वरस्य प्रणिधानात् समाधिलाभ इत्युक्तम् । तत्रेश्वरस्य स्व

रूपं प्रमाणं प्रभावं वाचकम् उपासनोक्रमं तत् फलञ्च क्रमेण वक्तुमाह—

भो० वृ० भा०—आगे (२४ सूत्र में) जिसके लक्षण कहेंगे उसके प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेष से योग सिद्ध होता है, भक्ति-विशेष का अर्थ उपासना है अर्थात् विषयभोग की इच्छा को त्याग कर सब क्रियाओं को उसही परमगुरु में अर्पण कर देना उपासना कहाती है ईश्वर की उपासना से समाधि और समाधि का फल प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

ईश्वरप्रणिधान से समाधि की प्राप्ति कही परन्तु वह ईश्वर क्या है? उसका प्रभाव कैसा है? उसका वाचक कोई शब्द है वा नहीं? उसकी उपासना की क्या रीति है? क्रम से इसका उत्तर आगे लिखते हैं:—

क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः ॥ २४ ॥

पदार्थ—(क्लेशकर्म्मविपाकाशयैः) क्लेश कर्म्म तथा कर्म्मफल और संस्कार से (अपरामृष्टः) असम्बद्ध (पुरुषविशेषः) जीव से भिन्न (ईश्वर) ईश्वर कहाता है ॥ २४ ॥

भावार्थ—जिसमे क्लेश, कर्म, कर्म के फल तथा सस्कारो का सम्बन्ध नहीं है वह जीव से भिन्न ईश्वर है ॥ २४ ॥

भाष्य-अविद्यादयः क्लेशाः। कुशलाकुशलानि कर्माणि तत्फलम् विपाकः। तदनुगुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य

मोक्षेति । यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वा-
मिनि व्यपदिश्यते यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष
ईश्वरः । कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः ।
ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यम्प्राप्ताः ईश्वरस्य च
तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः
प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्ध
कोटिस्सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवे
श्वर इति । योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक
उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति । तस्य
शास्त्रं निमित्तम् शास्त्रं पुनः किंनिमित्तं ? प्रकृष्टसत्त्वनि
मित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः
सम्बन्धः एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति ।
तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम् । न तावदैश्वर्या
न्तरेण तदतिशय्यते यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात् तस्माद्
यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इति । न च तत्समा
नमैश्वर्यमस्ति । कस्मात् , द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्का
मितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति एकस्य सिद्धावि
तरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वम्प्रसक्तम् द्वयोश्चतुल्ययोर्युगप
त्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति । अर्थस्य विरुद्धत्वात् तस्माद्यस्य
साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः स च पुरुषविशेष
इति ॥ २४ ॥

पदार्थ — क्लेश अविद्यादिक अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को कहते हैं शुभ और अशुभ कर्म उन शुभाशुभ कर्मों के फल को विपाक कहते हैं उन कर्मफलों के अनुसार जो वासना होती है उसे आशय कहते हैं और वे मनमे रहते हैं परन्तु जीवात्मा में लगाये जाते हैं क्योंकि वह जीवात्मा उन कर्मों के फल तथा वासना के फल का भोक्ता है। जैसे जीतना या हारना योद्धाओं में रहता है स्वामी अर्थात् राजा मे लगाया जाता है इस प्रकार से जो उन कर्मफल तथा आशय से सम्बन्धरहित है जीव से विशेष ईश्वर है। तो अनेक केवली मोक्ष को प्राप्त हुये कर्मबन्धन से मुक्त हैं क्योंकि वे लोग तीनों कर्मबन्धन अर्थात् शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक अथवा प्रारब्ध सञ्चित और क्रियमाण आदि कर्मों के बन्धन को काट कर मोक्ष को प्राप्त हुये हैं। ईश्वर का कर्मफलादि सम्बन्ध न था और न होगा। जैसे मुक्ति को प्राप्त हुये मनुष्य की प्रथम बन्धयुक्त अवस्था जानी जाती है परन्तु ईश्वर मे बन्धकोटि नहीं मालूम होती है जैसे प्रकृतिलीन योगी को योगावस्था के पश्चात् बन्धकोटि निश्चय की जाती है ईश्वर को ऐसी नहीं। वह तो सब काल में बन्धनरहित है किसी काल मे उसका ऐश्वर्य नष्ट नहीं होता। जो यह सर्वोत्तम बलादि युक्त नित्य ऐश्वर्य है वह क्या कारणसहित है या विना कारण के है? उस उत्कर्ष अर्थात् ऐश्वर्य का वेद ही निमित्त है? फिर शास्त्र का निमित्त क्या है? सर्वोत्तम ऐश्वर्य उसका निमित्त है इन दोनों शास्त्र और उत्कर्ष का ईश्वर की सत्ता मे विद्यमान रहनेवालों का नित्य सम्बन्ध है। इससे यह सिद्ध होता है पुरुषविशेष सदा ऐश्वर्ययुक्त सदा बन्धनरहित है और उसका ऐश्वर्य समानता और अधिकता से रहित है अर्थात् उसके समान वा अधिक किसी का ऐश्वर्य नहीं है वैसा दूसरे ऐश्वर्य से (अतिश-

भोक्तेति । यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः । कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः । ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यम्प्राप्ताः ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिस्सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति । योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादनादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति । तस्य शास्त्रं निमित्तम् शास्त्रं पुनः किंनिमित्त ? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति । तच्च तस्यैश्वर्य्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम् । न तावदैश्वर्य्यान्तरेण तदतिशय्यते यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात् तस्माद् यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इति । न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति । कस्मात्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वम्प्रसक्तम् द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति । अर्थस्य विरुद्धत्वात् तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः स च पुरुषविशेष इति ॥ २४ ॥

पदार्थ—क्लेश अविद्यादिक अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को कहते हैं शुभ और अशुभ कर्म उन शुभाशुभ कर्मों के फल को विपाक कहते हैं उन कर्मफलों के अनुसार जो वासना होती है उसे आशय कहते हैं और वे मनमे रहते हैं परन्तु जीवात्मा मे लगाये जाते हैं क्योंकि वह जीवात्मा उन कर्मों के फल तथा वासना के फल का भोक्ता है। जैसे जीतना या हारना योद्धाओं में रहता है स्वामी अर्थात् राजा में लगाया जाता है इस प्रकार से जो उन कर्मफल तथा आशय से सम्बन्धरहित है जीव से विशेष ईश्वर है। तो अनेक केवली मोक्ष को प्राप्त हुये कर्मबन्धन से मुक्त हैं क्योंकि वे लोग तीनों कर्मबन्धन अर्थात् शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक अथवा प्रारब्ध सञ्चित और क्रियमाण आदि कर्मों के बन्धन को काट कर मोक्ष को प्राप्त हुये हैं। ईश्वर का कर्मफलादि सम्बन्ध न था और न होगा। जैसे मुक्ति को प्राप्त हुये मनुष्य की प्रथम बन्धयुक्त अवस्था जानी जाती है परन्तु ईश्वर मे बन्धकोटि नहीं मालूम होती है जैसे प्रकृतिलीन योगी को योगावस्था के पश्चात् बन्धकोटि निश्चय की जाती है ईश्वर को ऐसी नहीं। वह तो सब काल में बन्धनरहित है किसी काल में उसका ऐश्वर्य्य नष्ट नहीं होता। जो यह सर्वोत्तम बलादि युक्त नित्य ऐश्वर्य है वह क्या कारणसहित है या बिना कारण के है? उस उत्कर्ष अर्थात् ऐश्वर्य का वेद ही निमित्त है? फिर शास्त्र का निमित्त क्या है? सर्वोत्तम ऐश्वर्य उसका निमित्त है इन दोनों शास्त्र और उत्कर्ष का ईश्वर की सत्ता में विद्यमान रहनेवालों का नित्य सम्बन्ध है। इससे यह सिद्ध होता है पुरुषविशेष सदा ऐश्वर्ययुक्त सदा बन्धनरहित है और उसका ऐश्वर्य समानता और अधिकता से रहित है अर्थात् उसके समान वा अधिक किसी का ऐश्वर्य नहीं है वैसा दूसरे ऐश्वर्य से (अतिश-

च्यत) ईश्वर हो सकता है। जो ही अवय ऐश्वर्यवान् हो वही ईश्वर होगा। इसलिये जिसमें ऐश्वर्य की सीमा न हो वह ईश्वर है क्योंकि समान गुणवाले दो का एक ही काल में विचार करने से यह नया है यह पुराना है एक की सिद्धि होने से दूसरे की अका-मता अर्थात् वह ऐश्वर्य कि जिससे किसी प्रकार की इच्छापूर्ति में अंश न हो उसके नष्ट होने ही से न्यूनता सिद्ध हुई समान गुण वाले दो पदार्थों की इच्छारूप एकता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि दोनों पदार्थों के गुण में अवश्य कुछ भेद होगा इसलिये जिसका समानता व न्यूनता से रहित ऐश्वर्य है वह ईश्वर है और वह जीव से भिन्न है ॥ २४ ॥

भाष्य का भाव०—अविद्यादि को क्लेश और पाप पुण्य को कर्म कहते हैं एवं कर्म के फल विपाक और फलानुसार वासना आशय कहलाती है ये आशय यद्यपि मनमें होते हैं तथापि जीव में आरोपित किये जाते हैं क्योंकि जीव ही उनके फल का भोक्ता है जैसे संग्राम में जीत और हार योद्धाओं की होती है परन्तु राजा में आरोपित की जाती है जो इन क्लेशादिकों से सम्बन्धरहित है वह जीव से भिन्न व्यापक परमेश्वर है (प्र० बहुत से केवली लोग* मोक्ष को प्राप्त हुये हैं वे लोग तीनों बन्धनों को काट कर कैवल्यपद को प्राप्त हुये हैं उनसे भिन्न एक ईश्वर क्यों मानना ? (उत्तर) जैसे केवली लोगों का प्रथम बन्धन था पश्चात् बन्धन से मुक्त हुये तब ईश्वर बने परन्तु ईश्वर में बन्धन न कभी था न है न होगा, वह सदैव मुक्त और सदैव ईश्वर रहता है (प्र०) अच्छा तो प्रकृतिलीन योगी तो ईश्वर हो सकते हैं क्योंकि उनमें पूर्व बन्धकोटि भास नहीं होती (उ०) नहीं वा भी ईश्वर नहीं हो सकते

---

* केवली जैन मतवालों के तीर्थंकरों को कहते हैं।

क्योंकि उनको उत्तर काल में अवश्य बंधन होगा (प्र०) ईश्वर को जो नित्य अविनाशी ऐश्वर्य्य है वह सनिमित्त है या निर्निमित्त है (उ०) सनिमित्त (प्र०) उसका कौन निमित्त है? (उ०) उसका निमित्त वेद है (प्र०) वेद का निमित्त क्या है? (उ०) ईश्वरीय ज्ञान, ऐश्वर्य्य और वेद का ईश्वर से अनादि सम्बन्ध है क्योंकि गुण और गुणी का नित्य सम्बन्ध होता है इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर सदामुक्त और सदैव ऐश्वर्ययुक्त है परन्तु ऐश्वर्य उसका तुलना से रहित है क्योकि दूसरे ऐश्वर्य्य से उसकी समानता नहीं हो सकती क्योंकि जिसमे अधिक ऐश्वर्य्य होगा वही ईश्वर होगा। इसलिये जिसमें ऐश्वर्य्यकी सीमा न हो वही ईश्वर है क्योंकि उसके समान ऐश्वर्य्य दूसरे में नहीं है वे जैसे दो वस्तुओं का उत्पत्ति-काल विचारने को एक ही समय में प्रवृत्त हों तो अवश्य यह सिद्ध हो जायगा कि यह वस्तु नई और वह पुरानी है जब एक का नूतनत्व सिद्ध हुआ तब न्यूनता भी सिद्ध हो गई इसलिये जिसमें ऐश्वर्य्य की पराकाष्ठा हो और जिसका ऐश्वर्य्य समानतारहित हो वही ईश्वर है॥ २४॥

भो० वृ०—क्लिश्नन्तीति क्लेशा अविद्यादयो वक्ष्यमाणा। विहितप्रतिषिद्धव्यामिश्ररूपाणि कर्म्माणि। विपच्यन्त इति विपाकाः कर्मफलानि। जात्यायुर्भोगाः। आफलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशया वासनाख्याः संस्काराः तैरपरामृष्टः केष्वपि कालेषु न संस्पृष्ट.। पुरुषविशेषः अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति विशेषः। ईश्वर ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः। यद्यपि सर्वेषामात्मना क्लेशादिस्पर्शो नास्ति तथापि चित्तगतस्ते-षामुपदिश्यते। यथा योद्धृगतौ जयपराजयौ स्वामिनः। अस्य तु त्रिष्वपि कालेषु तथाविधोऽपि क्लेशादिपरामर्शो नास्ति। अतः स विलक्षण एव भगवानीश्वरः। तस्य च तथाविधमैश्वर्य्यमनादे·

सत्त्वोत्कर्षात्। सत्त्वोत्कर्षेण प्रकृष्टम् ज्ञानादेव न च अनयोर्ज्ञानैश्वर्ययोरितरेतराश्रयत्वं, परस्परानपेक्षत्वात्। ते द्वे ज्ञानैश्वर्ये ईश्वरसत्त्वे वर्तमाने अनादिभूते तेन च तथाविधेन सत्त्वेन तस्यानादिरेव सम्बन्धः प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्छाव्यतिरेकेणानुपपत्तेः। यथेतरेषां प्राणिनां सुखदुःखमोहात्मकतया परिणतं चित्तं निर्म्मले सात्त्विके धर्म्मात्मप्रख्ये प्रतिसङ्क्रान्तं चिच्छाया संक्रान्ते संवेद्यं भवति नैवमीश्वरस्य। तस्य केवल एव सात्त्विकः परिणाम उत्कर्षेणाम् अनादिसम्बन्धेन भोग्यतया व्यवस्थितः। अतः पुरुषान्तरविलक्षणतया स एव ईश्वरः। मुक्तात्मनां तु पुनः पुनः क्लेशादियोगस्तैस्तैः शास्त्रोक्तैरुपायैर्निवर्तितः। अस्य पुनः सर्वदैव तथाविधत्वान्न मुक्तात्मतुल्यत्वम्। न चेश्वराणामनेकत्वं, तेषां तुल्यत्वे भिन्नाभिप्रायत्वात् कार्यस्यैवानुपपत्तेः उत्कर्षापकर्षयुक्तत्वे च य एवोत्कृष्टः स एवेश्वरः अत्रैव काष्ठा प्राप्तत्वादैश्वर्यस्य॥२४॥
एवमीश्वरस्वरूपमभिधाय प्रमाणमाह—

भो० सू० का भा०—जीव जिनके द्वारा दुःख पावें वे क्लेश कहाते हैं, ये अविद्यादि पांच क्लेश आगे कहे जावेंगे। कर्म्म वेद में लिखे वा वेद में निषेध किये हुए अथवा दोनों मिले हुए जो पक्व हैं यह विपाक अर्थात् कर्म्मफल कहे जाते हैं वे कर्म्मफल जन्म, आयु और भोग हैं। फल भोगने तक जो चित्त में रहें उसे आशय कहते हैं सो वासना नामक संस्कार है इन सबसे तीन काल में स्पर्श न रखता हो वह पुरुष अर्थात् जीवों से विशेष अर्थात् विलक्षण अर्थात् इच्छामात्र से जो सम्पूर्ण जगत का उद्धार करने में समर्थ है। यद्यपि सब जीवों का क्लेश से स्पर्श नहीं है तो भी मनुष्यों के चित्त में जो क्लेश होते हैं वह जीव में आरोपित किये जाते हैं जैसे जीत और हार सिपाहियों में रहती है तो भी राजा में आरोपित की जाती है ऐसे ही चित्त के क्लेश जीवों में आरो

पित होते हैं परन्तु ३ काल में भी किसी प्रकार से क्लेश ईश्वर को स्पर्श नहीं कर सकते हैं, इस कारण से भगवान् ईश्वर जीवों से विलक्षण हैं। ईश्वर का ऐश्वर्य्य अनादि होने के कारण से सबसे उत्तम है क्योंकि ज्ञानयुक्त है। यदि कोई शंका करे कि ज्ञान और ऐश्वर्य क्या परस्पर आश्रित है, अर्थात् जहाँ ऐश्वर्य होगा वहाँ ज्ञान अवश्य होगा ? फलितार्थ यह हुआ कि ज्ञान के विना ऐश्वर्य नहीं होता और ज्ञान के बिना ऐश्वर्य असम्भव है अतएव दोनों मे अन्योन्याश्रय दोष आता है ? इसका उत्तर यह है कि इन दोनो में अन्योन्याश्रयदोष नहीं आता है क्योंकि यह दोनों सापेक्ष नहीं है, ज्ञान और ऐश्वर्य ईश्वर में अनादिकाल से है अर्थात् जैसे ईश्वर अनादि है ऐसे ही उसका ऐश्वर्य ज्ञान भी अनादि है, इससे ज्ञान और ऐश्वर्य का ईश्वर से अनादि सम्बन्ध है क्योंकि प्रकृति और पुरुष का संयोग विभाग ईश्वरेच्छा के बिना नहीं हो सकता +। जैसे और जीवों का चित्त सुख और दुःख तथा मोह से पूर्ण रहता है और सत्व गुण युक्त होकर धर्मात्म भाव मे परिणत होता (बदलता) है ऐसे ईश्वर का नहीं होता क्योंकि उसमें सदा सत्वगुण रहता है इस हेतु से जीवों से विलक्षण ईश्वर है।

मुक्त जीवों को बारम्बार क्लेशों का सम्बन्ध शास्त्रोक्त उपायों से दूर करना पड़ता है परन्तु ईश्वर में क्लेशों का सम्बन्ध न था और न होगा इससे मुक्त जीवों से भी ईश्वर विलक्षण है, अनेक-ईश्वर होने का सन्देह भी नहीं करना चाहिये क्योंकि अनेक ईश्वर होने से उनके ऐश्वर्य की तुलना की जायगी उनमें जो अधिक-ऐश्वर्यवान् होगा वही ईश्वर रहेगा क्योंकि ईश्वर में ऐश्वर्य का अन्त होता है ॥ २४ ॥

ईश्वर का स्वरूप कहके अब उसमे प्रमाण दिखाते हैं।

करके जीव को वेदोपदेश किया॥ २५॥

भो० वृ०—तस्मिन् भगवति सर्वज्ञत्वस्य यदतीतानागतादिग्रहणस्याल्पत्वं महत्त्वं च मूलत्वाद्बीजमिव बीजं तत्तत्र निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम्। दृष्टा ह्यल्पत्वमहत्त्वादीनां धर्माणां सातिशयानां काष्ठा प्राप्तिः। यथा परमाणावल्पत्वस्य परमाकाशे महत्त्वस्य। एवं ज्ञानादयोऽपि चित्तधर्मास्तारतम्येन परिदृश्यमानाः क्वचिन्निरतिशयतामासादयन्ति। यत्र चैते निरतिशयाः स ईश्वरः। यद्यपि सामान्यमात्रेऽनुमानस्य पर्यवसितत्वान्न विशेषावगतिः सम्भवति तथापि शास्त्रादस्य सर्वज्ञत्वादयो विशेषा अवगन्तव्याः। तस्य स्वप्रयोजनाभावे कथं प्रकृतिपुरुषयोः संयोगवियोगौ वा आपादयतीति नाशङ्कनीयं, तस्य कारुणिकत्वाद्भूतानुग्रह एव प्रयोजनम् कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु निःशेषान् संसारिण उद्धरिष्यामीति तस्याध्यवसायः। यदस्येष्टं तदस्य प्रयोजनमिति॥ २५॥

एवमीश्वरस्य प्रमाणमभिधाय प्रभावमाह।

भो० वृ० का भाष्य—उस परमेश्वर में सर्वज्ञता का जो बीज है भूत और भविष्यत् ज्ञान की अधिकता और न्यूनता जो बीज के समान है वह परमेश्वर में सीमा को प्राप्त हो गई है। जैसे सूक्ष्मता की सीमा (हद) परमाणु में और स्थूलता की सीमा आकाश में है ऐसे ही ज्ञानादि चित्त के धर्मों की न्यूनता और अधिकता जीवों में देखी जाती है जिसमें ज्ञान की अधिकता सीमा को प्राप्त हो जाय वही ईश्वर है। यद्यपि सामान्य को देखकर विशेष का अनुमान किया जाता है तो ईश्वर के ज्ञान को देखकर उससे अधिक ज्ञान का अनुमान हो सकता है परन्तु शास्त्रों में उससे अधिक ज्ञान का अभाव लिखा है इससे ईश्वरनिष्ठ ज्ञान से अधिक ज्ञान का अनुमान करना केवल बुद्धि को भ्रम में डालना है। यहाँ पर ऐसी शंका भी न करनी चाहिये कि ईश्वर का तो कुछ प्रयोजन

है ही नहीं तब वह क्यों सृष्टि को रचता है? क्योंकि परमेश्वर दयालु है जीवों पर दया करना ही उसको अभीष्ट रहता है जो जिसका अभीष्ट होता है वही उसका प्रयोजन होता है ॥२५॥ इस रीति से ईश्वर में प्रमाण दिखा के अगले सूत्र में प्रभाव कहते हैं।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

पदार्थ—(सः) यह पूर्वोक्त ईश्वर (पूर्वेषामपि) पहिले ऋषियों का भी (गुरुः) उपदेशक है (कालेन) काल से (अनवच्छेदात्) खण्डन न होने के कारण ।२६।

भावार्थ—पूर्वोक्त गुणयुक्त परमेश्वर पूर्व महर्षियों का भी उपदेष्टा है क्योंकि उसमें कालकृत सीमा नहीं है ॥ २६ ॥

भाष्य—पूर्वेहि गुरवः कालेनावच्छिद्यंते। यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्यासिद्धः तथातिक्रांतसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ २६ ॥

भा० का पदार्थ—पहिले गुरु अर्थात् शास्त्रप्रणेता ऋषि लोग समय से खण्डित अर्थात् सीमाबद्ध हो जाते हैं जिसमें सीमाबद्ध करने के अभिप्राय से समय नहीं पहुँचता है वह परमेश्वर पूर्व ऋषियों का भी उपदेष्टा है जैसे सृष्टि के आदि में ज्ञानयुक्त था तैसे ही सृष्टि के अन्त में भी निश्चय करना चाहिये ॥ २६ ॥

भा० का भावार्थ—प्रथम के गुरु लोग भी समयकृत सीमा मे बद्ध हो जाते हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति का समय नियत है परन्तु उनसे प्रथम कौन गुरु था यह शंका बनी रहती है, किन्तु ईश्वर में कालकृत सीमा नहीं है अर्थात् जैसा वह अब है वैसा ही आदि

तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

पदार्थ—(तत्र) उस ईश्वर में (निरतिशयम्) अत्यन्त अर्थात् सीमाप्राप्त (सर्वज्ञबीजम्) सम्पूर्ण ज्ञान का कारण ॥ २५ ॥

भावार्थ—उस ईश्वर में ज्ञान की अवधि भी सीमक है ॥२५॥

भाष्य—यदिदमतीतानागतम् प्रत्युत्पन्न प्रत्येकसमु च्चयातीन्द्रियग्रहणमल्प बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशय स सर्वज्ञः अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवदिति यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति सामान्यमात्रोपसंहारे कृतो- पक्षयमनुमान न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति, तस्य संज्ञादि विशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलय येषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथाचोक्तं आदिवि द्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्र प्रोवाचेति ॥ २५ ॥ स एषः—

भा० का पदार्थ—जो यह भूत भविष्यत् वर्तमान रूप ..
जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता किन्तु मन और ..
जिस ज्ञान का सम्बन्ध है थोड़ा वा अधिक सर्वज्ञता का
ज्ञान बढ़ा हुआ जिसमें अतिशय से रहित अर्थात्
हो जाय वह सर्वज्ञ है ज्ञान की सीमा अति-
शोल का संख्या के समान जिसमें ज्ञान

और वह सर्वज्ञ पुरुषविशेष है वह सामान्य ज्ञान में सामान्यदृष्ट अनुमान किया है विशेष निश्चय मे नहीं। उस सर्वज्ञ परमेश्वर (संज्ञादिप्रतिपत्तिः) अभिधान अर्थात् गुणानुसार व्यापक विष्णु आदि नामों का निर्णय वेद से विचारना चाहिये। उस पुरुषविशेष के अपना हितसाधन नहीं करते भी प्राणियो का हितसाधन ही प्रयोजन है। ज्ञान के उपदेश और धर्म के उपदेश से नित्यप्रलय अर्थात् जब प्राण और शरीर का वियोग होता है और महाप्रलय अर्थात् समस्त कार्य पदार्थों का जब कारण मे लय होगा जीवों का उद्धार करूँगा ऐसा ब्राह्मणग्रंथों में भी लिखा है। प्रथम विद्यावित् परमेश्वर ने वेदविद्या के प्रकाश करने की रुचि को स्थिर करके अनुग्रह से ईश्वर ने (परमर्षि) परम ऋषि अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानमय ने (आसुरये) जीव को (तन्त्र) वेद उपदेश किया ॥२५॥

भावार्थ—भूत भविष्यत् वर्त्तमान काल का जो ज्ञान है यद्यपि वह अतीन्द्रिय है तथापि मन से ग्रहण होता है, वह ज्ञान प्राणीमात्र को होता है चाहे स्वल्प हो वा अधिक हो परन्तु होता सबको है, वही ज्ञान बढ़ते २ जिसमे अवधि को प्राप्त हो जाय वही सर्वज्ञ है। ज्ञान की भी अवधि होती है क्योंकि जो वस्तु घटती बढती है उसकी अवधि भी अवश्य होती है जैसे परिमाण में न्यूनाधिक्य होता है तो उसमे अवधि भी होती है। बस जिसमे ज्ञान की अवधि होती है वही सर्वज्ञ ईश्वर है यह सामान्य से सर्वज्ञता का अनुमान है विशेष निश्चय वेदादि सत्यग्रन्थों से करना योग्य है। यद्यपि परमेश्वर को ज्ञानोपदेश वा धर्मोपदेश से स्वार्थ कुछ नहीं है क्योंकि वह पूर्णकाम है परन्तु ज्ञानोपदेश और धर्मोपदेश से प्राणियों पर कृपा करना ही प्रयोजन है अर्थात् उसकी यही अभिलाषा होती है कि मैं नित्य प्रलयादि में जीवों का उद्धार करूँ— ऐसा ही लिखा भी है—आदि विद्वान् परमेश्वर ने प्राणियों पर कृपा

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

पदार्थ—(तत्र) उस ईश्वर में (निरतिशयम्) अत्यन्त अर्थात् सीमाप्राप्त (सर्वज्ञबीजम्) सम्पूर्ण ज्ञान का कारण ॥ २५ ॥

भावार्थ—उस ईश्वर में ज्ञान की अवधि भी बोधक है ॥२५॥

भाष्य—यदिदमतीतानागतम् प्रत्युत्पन्न प्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवदिति यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति, तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथा चोक्तं आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति ॥ २५ ॥ स एषः—

भा० का पदार्थ—जो यह भूत भविष्यत् वर्तमान रूप समुदाय जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता किन्तु मन और बुद्धि से जिस ज्ञान का सम्बन्ध है थोड़ा वा अधिक सर्वज्ञता मूल है यही ज्ञान बढ़ा हुआ जिसमें अतिशय से रहित अर्थात् ज्ञान की सीमा हो जाय वह सर्वज्ञ है ज्ञान की सीमा अधिक होने के कारण से ताल वा संख्या के समान जिसमें ज्ञान की सीमा हो वह सर्वज्ञ है

और वह सर्वज्ञ पुरुषविशेष है वह सामान्य ज्ञान में सामान्यदृष्ट अनुमान किया है विशेष निश्चय मे नहीं। उस सर्वज्ञ परमेश्वर (संज्ञादिप्रतिपत्तिः) अभिधान अर्थात् गुणानुसार व्यापक विष्णु आदि नामों का निर्णय वेद से विचारना चाहिये। उस पुरुषविशेष के अपना हितसाधन नहीं करते भी प्राणियों का हितसाधन ही प्रयोजन है। ज्ञान के उपदेश और धर्म के उपदेश से नित्यप्रलय अर्थात् जब प्राण और शरीर का वियोग होता है और महाप्रलय अर्थात् समस्त कार्य पदार्थों का जब कारण मे लय होगा जीवों का उद्धार करूँगा ऐसा ब्राह्मणग्रंथों में भी लिखा है। प्रथम विद्यावित् परमेश्वर ने वेदविद्या के प्रकाश करने की रुचि को स्थिर करके अनुग्रह से ईश्वर ने (परमर्षि) परम ऋषि अर्थात सम्पूर्ण ज्ञानमय ने (आसुरये) जीव को (तन्त्र) वेद उपदेश किया ॥२५॥

भावार्थ—भूत भविष्यत् वर्त्तमान काल का जो ज्ञान है यद्यपि वह अतीन्द्रिय है तथापि मन से ग्रहण होता है, वह ज्ञान प्राणीमात्र को होता है चाहे स्वल्प हो वा अधिक हो परन्तु होता सबको है, वही ज्ञान बढ़ते २ जिसमे अवधि को प्राप्त हो जाय वही सर्वज्ञ है। ज्ञान की भी अवधि होती है क्योकि जो वस्तु घटती बढ़ती है उसकी अवधि भी अवश्य होती है जैसे परिमाण में न्यूनाधिक्य होता है तो उसमे अवधि भी होती है। बस जिसमे ज्ञान की अवधि होती है वही सर्वज्ञ ईश्वर है यह सामान्य से सर्वज्ञता का अनुमान है विशेष निश्चय वेदादि सत्यग्रन्थों से करना योग्य है। यद्यपि परमेश्वर को ज्ञानोपदेश वा धर्मोपदेश से स्वार्थ कुछ नहीं है क्योंकि वह पूर्णकाम है परन्तु ज्ञानोपदेश और धर्मोपदेश से प्राणियों पर कृपा करना ही प्रयोजन है अर्थात् उसकी यही अभिलाषा होती है कि मैं नित्य प्रलयादि मे जीवो का उद्धार करूँ—ऐसा ही लिखा भी है—आदि विद्वान् परमेश्वर ने प्राणियों पर कृपा

करके जीव को वेदोपदेश किया ॥ २५ ॥

भो० वृ०—तस्मिन् भगवति सर्वज्ञत्वस्य यद्बीजमतीतानागतादिग्रहणस्याल्पत्वे महत्त्वं च मूलत्वाद्बीजमिव बीजं तत्तत्र निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम्। दृष्टा ह्यल्पत्वमहत्त्वादीनां धर्म्माणां सातिशयानां काष्ठा प्राप्तिः। यथा परमाणावल्पत्वस्य परमाकाशे महत्त्वस्य। एवं ज्ञानादयोऽपि चित्तधर्म्मास्तारतम्येन परिदृश्यमानाः क्वचिन्निरतिशयतामासादयन्ति। यत्र चैते निरतिशयाः स ईश्वरः। यद्यपि सामान्यमात्रेऽनुमानस्य पर्य्यवसितत्वान्न विशेषावगतिः सम्भवति तथापि शास्त्रादस्य सर्वज्ञत्वादयो विशेषा अवगन्तव्याः। तस्य स्वप्रयोजनाभावे कथं प्रकृतिपुरुषयोः संयोगवियोगा वा पादयतीति नाशङ्कनीयं, तस्य कारुणिकत्वाद्भूतानुग्रह एव प्रयोजनम् कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु निःशेषान् संसारिण उद्धरिष्यामीति तस्याध्यवसायः। यदस्येष्टं तदस्य प्रयोजनमिति ॥ २५ ॥

एवमीश्वरस्य प्रमाणमभिधाय प्रभावमाह।

भो० वृ० का भाष्य—उस परमेश्वर में सर्वज्ञता का जो बीज है भूत और भविष्यत् ज्ञान की अधिकता और न्यूनता जो बीज के समान है वह परमेश्वर में सीमा को प्राप्त हो गई है। जैसे सूक्ष्मता की सीमा (हद) परमाणु में और स्थूलता की सीमा आकाश में है ऐसे ही ज्ञानादि चित्त के धर्मों की न्यूनता और अधिकता जीवों में देखी जाती है जिसमें ज्ञान की अधिकता सीमा को प्राप्त हो जाय वही ईश्वर है। यद्यपि सामान्य को देखकर विशेष का अनुमान किया जाता है तो ईश्वर के ज्ञान को देखकर उससे अधिक ज्ञान का अनुमान हो सकता है परन्तु शास्त्रों में उससे अधिक ज्ञान का अभाव लिखा है इससे ईश्वरनिष्ठ ज्ञान से अधिक ज्ञान का अनुमान करना केवल बुद्धि को भ्रम में डालना है। यहाँ पर ऐसी शंका भी न करनी चाहिये कि ईश्वर का तो कुछ प्रयोजन

है ही नहीं तब वह क्यों सृष्टि को रचता है? क्योंकि परमेश्वर दयालु है जीवों पर दया करना ही उसको अभीष्ट रहता है जो जिसका अभीष्ट होता है वही उसका प्रयोजन होता है ॥२५॥ इस रीति से ईश्वर में प्रमाण दिखा के अगले सूत्र में प्रभाव कहते हैं।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

पदार्थ—(सः) यह पूर्वोक्त ईश्वर (पूर्वेषामपि) पहिले ऋषियों का भी (गुरुः) उपदेशक है (कालेन) काल से (अनवच्छेदात्) खण्डन न होने के कारण ।२६।

भावार्थ—पूर्वोक्त गुणयुक्त परमेश्वर पूर्व महर्षियों का भी उपदेष्टा है क्योंकि उसमें कालकृत सीमा नहीं है ॥ २६ ॥

भाष्य—पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यंते। यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्यासिद्धः तथातिक्रांतसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ २६ ॥

भा० का पदार्थ—पहिले गुरु अर्थात् शास्त्रप्रणेता ऋषि लोग समय से खण्डित अर्थात सीमाबद्ध हो जाते हैं जिसमें सीमाबद्ध करने के अभिप्राय से समय नहीं पहुँचता है वह परमेश्वर पूर्व ऋषियों का भी उपदेष्टा है जैसे सृष्टि के आदि में ज्ञानयुक्त था तैसे ही सृष्टि के अन्त में भी निश्चय करना चाहिये ॥ २६ ॥

भा० का भावार्थ—प्रथम के गुरु लोग भी समयकृत सीमा में बद्ध हो जाते हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति का समय नियत है परन्तु उनसे प्रथम कौन गुरु था यह शंका बनी रहती है, किन्तु ईश्वर में कालकृत सीमा नहीं है अर्थात् जैसा वह अब है वैसा ही आदि

सृष्टि में और उससे भी प्रथम ज्ञानयुक्त था और सृष्टि के अन्त में भी वैसा ही रहेगा एवम् सहस्रों सृष्टि व्यतीत हो गई और होंगी परन्तु उसका अपरिणामी ज्ञान तथा स्थिति इसलिये कालकृत सीमाबद्ध परमेश्वर नहीं है और इसही कारण से परमेश्वर पूर्वज ऋषियों का भी गुरु है ॥ २६ ॥

भो० वृ०—आद्यानां स्रष्टॄणां ब्रह्मादीनामपि स गुरुः उपदेष्टा। यतः स कालेन नावच्छिद्यते अनादित्वात्। तेषां ब्रह्मादीनां पुनरादिमत्त्वादस्ति कालेनावच्छेदः ॥ २६ ॥

एवंप्रमाणमुक्त्वा उपासनोपयोगाय वाचकमाह।

भो० वृ० का भा —जो अनेक विद्याओं को चलानेवाले सबसे प्रथम उत्पन्न हुए ब्रह्मादिक हैं उनका भी वह परमेश्वर गुरु अर्थात् उपदेश करनेवाला है क्योंकि वह अनादि होने के कारण काल से नहीं बँधता है ब्रह्मादि पुराने हैं ऐसा कहने से उनके उत्पन्न होने के समय की सीमा पाई जाती है ॥ २६ ॥ ईश्वर का प्रमाण कहकर अगले सूत्र में उसके वाचक का वर्णन करते हैं।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

पदार्थ—(तस्य) उस परमेश्वर का (वाचकः) बोध करानेवाला (प्रणवः) ओंकार है ॥ २७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का वाचक ओ३म् है ॥ २७ ॥

भाष्य——वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति। स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः

संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति । सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते । सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते ॥ २७ ॥ विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः ।

भा० का पदार्थ–जिसके द्वारा जाना जाता है वह वाचक और जो जाना जाता है वह वाच्य कहाता है । इस स्थल पर वाचक प्रणव और वाच्य ईश्वर है प्रणव का क्या । इसका संकेत अर्थात् मनुष्यों ने अपने बोध के लिए कल्पनामात्र वाच्यवाचकत्व नियत किया है । अथवा दीपक और प्रकाश के समान समवाय सम्बन्ध है ? इस स्थल मे वाच्य और वाचक का अनादि संबन्ध है । संकेत तो केवल ईश्वर के स्थिर किये सम्बन्ध को प्रकाश करता है । जैसे ईश्वर का नियत किया है पिता और पुत्र मे सम्बन्ध संकेत से प्रकाशित किया जाता है यह इसका पिता है यह इसका पुत्र है, अन्य सृष्टियों में भी वाच्य और वाचक में परस्पर सम्बन्ध शब्द शक्ति ही से प्रकाशित होता है । इसके अनुसार ही सकेत किया जाता है । क्योंकि शब्द और अर्थ नित्य हैं । नित्य अनादि है,शब्द और अर्थ नित्य हैं नित्य अनादि है शब्द और अर्थों का परस्पर सम्बन्ध यह शाब्दिक मानते हैं । वाच्य और वाचक का सम्बन्ध योगी लोग जानते हैं ॥ २७ ॥

भाष्य का भावार्थ—प्रणव वाचक और ईश्वर वाच्य है । प्र०) ईश्वर और प्रणव का वाच्यवाचकभाव केवल सकेतमात्र है या दीपक और प्रकाश के समान सम्बन्ध है ? (उ०) ईश्वर और प्रणव का वाच्यवाचक सम्बन्ध साकेतिक है परन्तु कल्पित नहीं अनादि है क्योंकि सकेत भी ईश्वर में जो वाच्यभाव है उस सम्ब-

ध्य को ही प्रकाश करता है, जैसे पिता और पुत्र का सम्बन्ध नियत है परन्तु संकेत बिना प्रकाशित नहीं होता सो केवल इतना ही संकेत करना पड़ता है कि यह पुत्र और यह इसका पिता है। यह संकेत अवश्य ईश्वर के नित्य सम्बन्ध में लगाना पड़ेगा। एवम् शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध शाब्दिक मानते हैं इस लिए योगी लोग भी प्रणव और ईश्वर में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध नित्य मानते हैं ॥ २७ ॥

भो० वृ०—इत्थमुक्तस्वरूपेश्वरस्य वाचकोऽभिधायकः प्रकर्षेण नूयतेऽनेनेति नौति स्तौतीति वा प्रणव ओङ्कारस्तयोश्च वाच्यवाचकलक्षणः सम्बन्धो नित्यः संकेतेन प्रकाश्यते न तु केनचित् क्रियते, यथा पितापुत्रयोः विद्यमान एव सम्बन्धोऽस्यायं पिताऽस्यायं पुत्र इति केनचित् प्रकाश्यते ॥ २७ ॥ उपासनमाह—

भो० वृ० का भा०—जिसका पिछले सूत्रों में वर्णन कर चुके उसका वाचक अर्थात् कहने वाला प्रणव का अर्थ यह है कि उत्तम रीति के साथ स्तुति की जाय जिसके द्वारा अथवा उत्तम रीति से जो स्तुति करे उसे प्रणव कहते हैं प्रणव नाम ओ३म् का है। ओ३म् और ईश्वर का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध (नित्य) अनादि है किन्तु वर्णोक्त संकेत से उसे प्रकाशित किया जाता है किन्तु बनाया नहीं जाता है जैसे पिता और पुत्र सम्बन्ध को कोई उपजाता नहीं है किन्तु उसे प्रकाशित कर देते हैं ॥ २७ ॥ अथ उपासना कहते हैं।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

पदार्थ—(तज्जप) उस प्रणव का जप अर्थात् उच्चारण करना (तदर्थभावनम्) उसके अर्थ का विचारना है ॥ २८ ॥

भावार्थः—प्रणव के जप करने और अर्थ विचारने से समाधि लाभ होता है ॥ २८ ॥

भाष्य-प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्यचेश्वरस्य भावनम् तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावतश्चित्तमेकाग्रंसम्पद्यते । तथाचोक्तम् स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ॥ २८ ॥ भवति इति किंचास्य स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते" ।

भा० का पदार्थ—ओ३म् का प्रणव वाच्य ईश्वर की भावना अर्थात् विचार वा चिन्तन करना है । प्रणव का जप करने से और प्रणव का जो अर्थ ईश्वर है उसके चिन्तन से योगी का चित्त चंचलतारहित हो जाता है । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है स्वाध्याय अर्थात् वेद वा प्रणव के जप से "स्वाध्यायो जपउत्युक्तो वेदाध्ययनकर्म्मणि" योग्याभ्यास करे योग अर्थात् समाधि होकर जप करे (स्वध्याययोगसम्पत्या) स्वाध्याय और योग के बल से परमात्मा (प्रकाशते) ईश्वर का पूर्ण ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

भाष्य का भावार्थ—प्रणव के जप और प्रणव के अर्थ विचारने तथा प्रणव वाच्य ईश्वर के चिन्तन से योगी का चित्त एकाग्र होता है, प्रमाण, उपनिषत् ग्रन्थों मे लिखा है कि जप से योग और योग से जप को सिद्ध करै तथा दोनो के बल से परमात्मा का पूर्ण ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

भो० वृ०—तस्य सार्द्धत्रिमात्रिकस्य प्रणवस्य जपो यथावदुच्चारणं तद्वाच्यस्य ईश्वरस्य भावनं पुनः पुनश्चेतसि निवेशनमेकाग्रताया उपायः । अतः समाधिसिद्धये योगिना प्रणवो जप्यस्तदर्थ ईश्वरश्च भावनीय इत्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

उपासनायाः फलमाह—

भो० वृ० का भा०—उस साढ़े तीन मात्रा वाले प्रणव का जप अर्थात् उसका ठीक रीति से उच्चारण करना और उसके वाच्य परमेश्वर का चिन्तन अर्थात् उसका वारम्वार हृदय में ध्यान करना एकाग्रता का उपाय है, इसलिए समाधि सिद्ध के वास्ते योगी को प्रणव का जप करना चाहिए और उसके अर्थ अर्थात् ईश्वर का ध्यान करना चाहिये ॥ २८ ॥ उपासना का फल कहते हैं।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।२९।

[ततः] तब (प्रत्यक्चेतनाधिगमः) परमेश्वर का ज्ञान होता है [अन्तरायाभावश्च] और विघ्नों का अभाव भी हो जाता है ॥ २९ ॥

भावार्थ—तब योगी के विघ्न नष्ट हो जाते हैं और ईश्वर का पूर्ण ज्ञान हो जाता है ॥ २९ ॥

भाष्य—ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वर प्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति यथैवे-श्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदनीयं पुरुषस्तमधिगच्छति ॥ २९ ॥ अथ केऽन्तराया ये चित्तस्य विक्षेपाः के पुनस्ते कियन्तो वेति।

भा० का पदार्थ—जितने विघ्न हैं शरीर के रोग आदि वे ईश्वर की भक्ति से नहीं होते ईश्वर के स्वरूप का दर्शन भी योगी को होता है। जैसा कि ईश्वर सर्वव्यापक है अर्थात् कर्मफल से रहित अविद्यादि क्लेशों से रहित अद्वितीय जन्ममृत्युरहित ऐसे ही यह योगी भी बुद्धि से जानने योग्य जो ईश्वर है उसको जान लेता है अब विघ्न कौन हैं जो चित्त के बिगाड़ने वाले हैं

उनके नाम क्या हैं और वे कितने हैं ? यह अगले सूत्र में कहते हैं२९

भावार्थ—जितने योग में विघ्नकारक रोगादि हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं और योगी को ईश्वर के स्वरूप का दर्शन भी होता है अर्थात् जैसा ईश्वर सर्वव्यापक आनन्दमय और अद्वितीय है वैसा ही यथार्थ ज्ञान योगी को हो जाता है। अब यह भी विचारना चाहिये कि योग में विघ्न कौन और कितने हैं सो अगले सूत्र मे इसका वर्णन करते हैं ॥ २९ ॥

भो० वृ०—तस्माज्जपात्तदर्थ भावनाच्च योगिनः प्रत्यक्चेतनाधिगमो भवति विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तः करणाभिमुखमञ्चति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक्चेतना तस्याऽधिगमो ज्ञानं भवति। अन्तरायावक्ष्यमाणास्तेषामभावः शक्तिप्रतिबन्धोऽपि भवति ॥२९॥ अथ केऽन्तराया ? इत्याशङ्कायामाह ।

भो० वृ० का भा०—चिन्तन अर्थात् उसका बारम्बार हृदय में ध्यान करना एकाग्रता का उपाय है, इसलिये समाधिसिद्धि के वास्ते योगी को प्रणव का जप करना चाहिये, और उसके अर्थ अर्थात् ईश्वर का ध्यान करना चाहिये ॥ २९ ॥ अब विघ्नों को कहते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनलब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

सूत्र का पदार्थ—[व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्य विपरीतभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि] रोगादिशारीरिक विघ्न, स्त्यान सुस्ती संशय, प्रमाद आलस्य,

[अविरति] व्यापार रहित हो जाना [भ्रान्तिदर्शन] मिथ्याज्ञान, अलब्धभूमि, अर्थात् योगाभ्यास की विशेष भूमि का प्राप्त न होना [अनवस्थितत्व] ध्येय ईश्वर में चित्त का स्थिर न होना [चित्तविक्षेपाः] चित्त के विक्षेप हैं [ते] यही [अन्तरायाः] योग के विघ्न हैं ॥ ३० ॥

सू का भा०—व्याधि, स्त्यान संशय, प्रमाद, आलस्य अविरति भ्रान्तिदर्शन आलब्धभूमिकत्व अनवस्थितत्व चित्त के विक्षेप योग में विघ्न हैं ॥ ३ ॥

भाष्य—नवान्तराया चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्ति भिर्भवन्त्येतेषामभावेन भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः व्याधिर्धा तुरसकरणवैषम्यस्त्यानमकर्म्मण्यता चित्तस्य। संशय उभय कोटिस्पृक् विज्ञान स्यादिदमेवं नैवंस्यादिति प्रमादः समा धिसाधनानामभावनम्। आलस्यं कायस्य चित्तस्य गुरुत्वा दप्रवृत्ति अविरतिश्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मागर्द्धः। भ्रान्तिदर्शन विपर्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमे रलाभ। अनवस्थितत्वं यल्लब्धायांभूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा समाधिप्रतिलम्भे हि सतितदवस्थित स्यादिति। एते चित्त विक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यमि- धीयन्ते ॥ ३ ॥

भाष्य का पदार्थ—जो विघ्न चित्त के विक्षेप होते हैं इनके न होने से नहीं होते। व्याधि उसे कहते हैं जो शरीरस्थ धातु और रस के बिगड़ने से शरीर में विकलता होती है स्त्यान उस विघ्न

को कहते हैं जिससे चित्त कर्म्मरहित होने की इच्छा करता है संशय उस ज्ञान को कहते हैं जो दोनों पक्षों को स्पर्श करे अर्थात् कभी कहे यह ठीक है कभी कहे दूसरा ठीक है। योग के साधन अर्थात उपायों को चिन्तन न करने को प्रमाद कहते हैं, आलस्य उसे कहते हैं जो शरीर वा चित्त के भारीपन से चेष्टारहित हो जाना है अविरति उस वृत्ति को कहते हैं जिसमे चित्त विषय के संसर्ग से आत्मा को मोहित वा प्रलोभित कर देता है। विपरीत अर्थात् उल्टे ज्ञान को भ्रान्तिदर्शन कहते हैं अलब्धभूमिकत्व उसे कहते हैं कि जिससे समाधि की भूमि की प्राप्ति नहीं होती। अनवस्थितत्व उसे कहते हैं जिससे प्राप्त हुई भूमि में चित्त की स्थिति नहीं होती। समाधि के प्राप्त होने पर चित्त स्थिर हो जाता है संख्या मे ९ चित्तविक्षेप योग के निवारण हैं अर्थात् योग के शत्रु यही योगान्तराय अर्थात् योग के विघ्न कहलाते हैं॥ ३०॥

भावार्थ – चित्त के विक्षेप स्वयम् योग के विघ्न नहीं हैं किन्तु चित्तवृत्तियों के साथ मिलकर विघ्नकारक होते हैं और वृत्तियो के अभाव में बाधक नहीं हो सकते। विक्षेप ये हैं, व्याधि वह है जो शरीर के धातु और रसादि के बिगड़ने से शरीर में अस्वस्थता होती है. स्त्यान वह है जिसमे चित्त चेष्टारहित हो जाता है, संशय उसे कहते हैं जिसमें दो विषयों में भ्रम होता है कि यह करना उचित है वा वह करना उचित है, समाधि के साधनों के चिन्तन न करने को प्रमाद कहते हैं, आलस्य वह कहाता है कि जिसमें चित्त और शरीर भारीपन से चेष्टारहित होने की इच्छा करता है, अविरति वह है जिसमें चित्त विषयससर्ग से आत्मा को मोहित कर देता है, भ्रान्तिदर्शन विपर्य्ययज्ञान को कहते हैं, समाधिभूमि की अप्राप्ति को अलब्धभूमिकत्व कहते हैं और अनवस्थितत्व उसे कहते हैं जिससे योगभूमि प्राप्त होने पर भी चित्त उसमें

स्थिरता को प्राप्त नहीं होता। इन्हीं चित्तविक्षेपों को योगप्रतिपक्ष योगान्तराय भी कहते हैं ॥ ३० ॥

भो० वृ०—नवैते रजस्तमोबलात् प्रवर्तमानाश्चित्तस्य विक्षेपा भवन्ति। यैरेकाग्रताविरोधिभिश्चित्तं विक्षिप्यत इत्यर्थः। तत्र व्याधि धातुवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिः। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। उभय-कोट्यालम्बनं ज्ञानं संशयो योगः साध्यो न वेति। प्रमादोऽनवधानता समाधिसाधनेष्वौदासीन्यम्। आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वं योग विषये प्रवृत्त्यभावहेतुः। अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मागर्धः। भ्रान्तिदर्शनं शुक्तिकायां रजतमितिवद्विपर्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं कुतश्चिन्निमित्तात् समाधिभूमेरलाभोऽसंप्राप्तिः। अनवस्थितत्वं लब्धायामपि भूमौ चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठा। तस्य समाधेरेकाग्रताया यथायोगं प्रतिपक्षत्वादन्तराया इत्युच्यन्ते ॥ ३० ॥ चित्त विक्षेप कारकानन्यानप्यन्तरायान् प्रतिपादयितुमाह—

भो० वृ० का भाष्य—रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग से उत्पन्न हुए ९ चित्त विक्षेप हैं इन एकाग्रता के विरोधियों से चित्त विक्षिप्त हो जाता है, इनमें से व्याधि वो कहाती है जो धातुओं की विषमता अर्थात् न्यूनता वा अधिकता से उत्पन्न होती है जैसे ज्वर आदि से चित्त का ऐसा हो जाना जो किसी काम के करने योग्य न रहे। योग मुझे सिद्ध होगा या नहीं? ऐसे दो प्रकार के ज्ञानों का धारण करना संशय कहाता है। सावधान न रहने को प्रमाद कहते हैं जैसे योग करने में उदासी दिखाना। शरीर और चित्त के भारी रहने को आलस्य कहते हैं। विषयों की प्राप्ति में जो लोभ होता है उसे अविरति कहते हैं। भ्रान्तिदर्शन वह है जिससे सीप में चाँदी का ज्ञान होता है। किसी कारण से योग की भूमि को न पाना अलब्धभूमिकत्व कहाता है, योग भूमि के प्राप्त होने पर भी चित्त के उसमें स्थिर न रहने का अनवस्थितत्व

कहते हैं ये सब समाधि के विरोधी हैं अतएव इन्हें विघ्न कहते हैं ॥३०॥ चित्त को बिकाडनेवाले और विघ्नों का भी वर्णन करते हैं।

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेप सहभुवः ॥ ३१ ॥

सू० का पदार्थ—(दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वास प्रश्वासाः) तीनों प्रकार के दुःख, दौर्मनस्य मनकाक्षोभित होना, अंगमेजयत्व जो अंगों को कंपित करे श्वास वायु का इन्द्रियों के द्वारा खींचना, प्रश्वास वायु का निकलना (विक्षेपसहभुवः) विक्षेप के संग यह उत्पन्न होते हैं।३१

भावार्थ—दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास विक्षिप्त चित्तवालों को होते हैं ॥ ३१ ॥

दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकञ्च । येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्तेतद्दुःखम् । दौर्मनस्यमिच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः यदङ्गान्येजयति कम्पयतितदंगमेजयत्वम् प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः यत्कौष्ठ्यं वायु निःसारयति स प्रश्वासः एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति। अथैतेविक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यान्निरोद्धव्याः तत्राभ्यासस्य विषयमुपसहरन्निदमाह।३१

भा० का प०—इन्द्रियाँ जिसमें पीडित हों जो मन और शरीरादि में रोग होते हैं जो दूसरे प्राणी अर्थात् व्याघ्र वा चोर आदि

से होते हैं या वैसकर्म दुःख है जिससे, पीड़ित हुए प्राणीसमुदाय उसके नाश करने को प्रयत्न करता है उस दुःख को ही (दौर्मनस्य कहते हैं, जो इच्छाभंग होनेसे मनमें क्षोभ अर्थात् अप्रसन्नता उत्पन्न होती है जो शरीर के अंगों को कँपाता है वह अंगमेजयत्व कहाता है प्राणवायु जो बाहरकी वायुको खींचता है वह श्वास कहा जाता है जो अन्दर के वायु को बाहर निकालता है वह प्रश्वास कहाता है। (एते) ये विक्षेप विक्षेप के साथ उत्पन्न होते हैं। विक्षिप्तचित्त वाले को यह होते हैं सावधानचित्त वाले को यह नहीं होते ॥ ३१ ॥

अब विचारना चाहिये ये विक्षेप योग के शत्रु हैं इनका अभ्यास और वैराग्य से रोकना वा निवृत्त करना चाहिये इनमें से अभ्यास के विषय को वर्णन करते हुए अगला सूत्र कहते हैं।

भाषा०—दुःख तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। दुःख का सामान्य लक्षण यह है कि जिससे पीड़ित होकर प्राणी उसके नाश करने का प्रयत्न करता है उसे दुःख कहते हैं दौर्मनस्य उसे कहते हैं कि जो इच्छाभंग होने से मन में क्षोभ उत्पन्न होता है। तीसरा विक्षेप अंगमेजयत्व है इसका लक्षण यह है कि जो अंगों को कंपावे उसको अंगमेजयत्व कहते हैं। चौथा श्वास जिससे बाहर की वायु को खींचा जाता है उसे श्वास कहते हैं पांचवाँ प्रश्वास जिससे अन्दरस्थ वायु को बाहर निकाला जाता है यह विक्षेप विक्षिप्त अर्थात् चञ्चल चित्त वालों को होते हैं और सावधान चित्त वालों को नहीं होते ये विक्षेप योग के शत्रु हैं इसलिए इन्हें अभ्यास और वैराग्य से निरुद्ध करना उचित है, अभ्यास का लक्षण अगले सूत्र में कहते हैं ॥ ३१ ॥

यो० वृ०—दुःखादिनिमित्तादुत्पन्नेषु विक्षेपेषु एते दुःखादयः प्रवर्तन्ते। तत्र दुःखं चित्तस्य राजसः परिणामो बाधनालक्षणः

यद्वाधात् प्राणिनस्तदुपघाताय प्रवर्त्तन्ते । दौर्मनस्य वाह्याभ्यान्तरैः कारणैर्मनसो दौरथ्यम् अगमेजयत्वं सर्वाङ्गीणो वेपथुरासनमनः-स्थैर्य्यस्य वाधकः । प्राणो यद्वाह्यं वायुमाचामति स श्वासः यत् कौष्ठयं वायुं निःश्वसिति स प्रश्वासः एत एतेविक्षेपैः सह प्रवर्त-माना यथोदिताभ्यासवैराग्याभ्यां निरोधव्या इत्येषामुपदेशः ॥ ६१ ॥

सोपद्रवविक्षेपप्रतिषेधार्थमुपायान्तरमाह—

भो० वृ० का भाष्य—किसी कारण से यदि विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं दुःखादि योगी को आ घेरते हैं, इनमे से दुःख वह कहाता है जो रजोगुण से उत्पन्न होता है और प्राणियों को सताता है जिसके सताये हुए प्राणी उसके नाश का उद्योग करते हैं उसे दुःख कहते हैं । दौर्मनस्य उसे कहते हैं जिसमे वाह्य वा आभ्या-न्तर कारणों से मन चञ्चल हो जाय । अङ्गमेजयत्व वह है जिसमें सब अङ्ग कापने लगे ऐसे आसन से भी मन स्थिर नहीं होता है वायु को जो वाहर निकाला जाता है उसे श्वास कहते हैं । प्रश्वास वायु के भीतर खीचने को कहते हैं । ये सब विघ्नों के साथ उत्पन्न होने वाली भूमिका हैं, प्रथम कहे हुए अभ्यास और वैराग्य से इनका निरोध करना चाहिये इस ही उपदेश के वास्ते सूत्रकार ने इन्हें लिखा है ॥ ३१ ॥

उपद्रव सहित विघ्नों के निवारण का दूसरा उपाय लिखते हैं ।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

पदार्थ—(तत्प्रतिषेधार्थम्) उसके दूर करने को तत्वा-भ्यास एकतत्व का अभ्यास करे ॥ ३२ ॥

भावार्थ—उक्त विक्षेपभूमियों की निवृत्ति के लिये एक तत्व अर्थात् एकाग्रचित्तता वा एक ईश्वर स्मरण का अभ्यास करे ।३२

भाष्य—विक्षेपप्रतिमेधार्थमेकतत्वावलम्बनं चित्तम-

भ्यसेत् यस्य तु प्रत्यर्थनियत प्रत्ययमात्र क्षणिक च चित्त तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्र नास्त्येव विक्षिप्तम्। यदि पुनरिद सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम्। योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तस्य क्षणिकत्वात्। अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्म्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्यय प्रवाही वा प्रत्ययनियतत्वादेकाग्रएवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः तस्मादेकमनेकार्थमवस्थित चित्तमिति यदि च चित्तेनैकेनानन्विताःस्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्न कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत् अन्यप्रत्ययोपचितस्य कर्माशयस्यान्य प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् कथचित समाधीयमानमप्येतद्गोमयपायसीयन्यायमाक्षिपति। किञ्च स्वात्मानुभवापह्नवःश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति कथ, यदहमद्राक्ष तत्स्पृशामि यच्चास्प्राक्ष तत्पश्यामीत्यहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः। एक प्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः सामान्यमेक प्रत्ययिनमाश्रयेत्। स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माहमिति प्रत्ययः नच प्रत्यक्षस्य माहात्म्य प्रमाणान्तरेणाभिभूयते। प्रमाणान्तर च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहार लभते तस्मादेकमने

कार्यमवस्थितं च चित्तम् ॥ ३२ ॥ यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदम् शास्त्रेण परिकर्म्म निर्दिश्यते तत्कथम् ।

भाष्य का पदार्थ—चित्तविक्षेप के निवृत करने को एक ही परमेश्वर के तत्व अर्थात ज्ञान के आश्रय के धारण और विचार मे मग्नता को चित्त से अभ्यास करे। और जिसका चित्त एक एक विषय में नियुक्त रहता है, केवल ज्ञानमात्र क्षणिक चित्त है उसका सम्पूर्ण ही चित्त एकाग्र नहीं है। विक्षिप्त चाहे हो परन्तु जब इस चित्त को सब विषयों से हटाकर एक ध्येय मे स्थिर किया जाता है तब एकाग्र हो जाता है। इस कारण से एक एक विषय के लिए चित्त नियत नहीं है। जो समान ज्ञान के प्रवाह द्वारा चित्त को एकाग्र मानता है उसके चित्त की एकाग्रता यदि प्रवाह चित्त का गुण है तो चित्त एक नहीं हो सकता प्रवाह रूप चित्त क्षणिक होता है यदि प्रवाहांश ज्ञान ही का गुण है तो वह सम्पूर्ण प्रवाह समान ज्ञानके प्रवाह वाला है या असमान ज्ञान प्रवाह वाला है? प्रत्यर्थ नियत होने के कारण यदि एकाग्र है तो विक्षिप्त चित्त सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए एक ही अनेक विषयों में जो स्थित है वह चित्त है और जो एक ही चित्त से सम्बन्धरहित अर्थात् भिन्न स्वभाव के ज्ञात होते हों तो किस प्रकार से और के देखे हुए पदार्थ का दूसरा स्मरण करने वाला हो सकता है दूसरे के द्वारा जो सग्रह किये गये कर्म्म उनके फलो का दूसरा भोग करने वाला हो जायगा तो किसी प्रकार से एकाग्र चित्त होने पर भी गोमयपायसी। यन्याय अर्थात् खीर और गोवर की जनश्रुति के अनुसार हो जायगा। जैसे किसी ने सुना कि गाय से खीर वनती है और दुग्ध से वनी खीर खाई भी परन्तु पुनर्वार उसने गाय के गोवर को चावलों में मिलाकर अग्नि मे सिद्ध करके खाना आरम्भ

कर दिया। और अपने आत्मा के अनुभव में विषयादि चित्त की भिन्नता में प्राप्त होती है यदि कहते हैं कि भिन्न है तो जो मैंने देखा था उसे छूता हूँ और जिसे छूआ था उसे देखता हूँ इन स्पर्शों में जो 'मैं' का ज्ञान है यह कैसे अत्यन्त भिन्न चित्तों में वर्तमान सामान्य रीति से एक ज्ञानी को आश्रय कर सकता है। अपने अनुभव से ग्रहण करने योग्य यह एक ही आत्मा 'अहम्' ज्ञान से जाना जाता है और न प्रत्यक्ष प्रमाण का माहात्म्य अर्थात् प्रबलता दूसरे प्रमाण से खंडित होती है और दूसरे अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण के आश्रय ही से सिद्ध होते हैं इस कारण से जो एक अनेक विषयों में अवस्थित अर्थात् मस्त हो (चितम्) उसे चित्त कहते हैं।

भा० का भावार्थ—पूर्वसूत्र में कहे जो दुःखादि विक्षेप हैं उनके निवृत करने को एक अद्वितीय ईश्वर का चिन्तन करे परन्तु चिंतन में चित्त एकाग्र होना चाहिये यदि कोई कहे कि अनेक विषयों में भ्रमण करना चित्त का स्वाभाविक गुण है उसका एक ज्ञात या अज्ञात विषय में स्थिर होना असम्भव है तो उसे पूछना चाहिये कि यदि भ्रमण चित्त का स्वाभाविक गुण है तो जब सब विषयों से खींच कर चित्त को एक विषय में लगाते हैं तब एकाग्र क्यों हो जाता है? एकाग्र हो जाने से सिद्ध होता है कि चित्त सर्वार्थ नियत नहीं है और ऐसा मानते हैं कि विषमप्रवाह में चित्त एकाग्र होता है अर्थात् एक ही विषय के अवान्तर भेदों में चित्त की गति को एकाग्रता कहते हैं तो उनसे यह प्रश्न है कि चित्त क्या पदार्थ है? यदि कहें कि चिन्तन को चित्त कहते हैं तो विषय प्रवाह क्षणिक होने से भी क्षणिक हुआ और जो एकाग्रता प्रवाहांश का धर्म मानते हो चित्तवह सम्पूर्ण सदृश प्रत्यय प्रवाह है? या विसदृश प्रत्यय प्रवाह? यदि इन सब प्रश्नों के उत्तर में यह कहें कि एका

ग्रता ही चित्त का गुण है तो विक्षिप्त चित्त सिद्ध हो सकता इस कारण से चित्त वह पदार्थ है कि जिस एक में क्षिप्त एकाग्रतादि अनेक गुण रहते हैं यदि कहे कि चित्त कोई पदार्थ नहीं है किन्तु स्वभाव से भिन्न २ अनेक ज्ञान उत्पन्न हुआ करते हैं, तो हम कहते हैं कि अन्य पुरुष के देखे हुए पदार्थों का अन्य पुरुष भोक्ता हो जायँ, परन्तु ऐसा जगत् मे होना सृष्टिक्रम के विरुद्ध है और यदि चित्त कोई पदार्थ न होता तो किसी प्रकार से सावधान होने पर भी गोमयपायसीय न्याय की कहावत हो जायगी। इसके अतिरिक्त आत्मा के होने मे भी सन्देह होने लगेगा क्योंकि जो मैंने देखा था उसे छूता हूँ। जिसे छुआ था उसको देखता हूँ स्मरण का आधार कोई नहीं है अर्थात् जिस ज्ञान से भिन्न एक पदार्थ अवश्य है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है और प्रत्यक्ष प्रमाण को अन्य प्रमाणों से कोई खण्डन नहीं कर सकता किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के आश्रय से अन्य प्रमाण भी सिद्ध होते हैं। इस हेतु से चित्त वह पदार्थ है जिससे अनेक विषयोंका चिन्तन होता है, बस उसही को अनेक विषयों से हटाकर एक ईश्वरीय विषय में लगाने के लिये शास्त्र का उपदेश है उसको विषयों से हटाने का उपाय क्या है? इसका उत्तर अगले सूत्र में लिखते हैं॥ ३२॥

भो० वृ०—तेषा विक्षेपाणा प्रतिषेधार्थमेकस्मिन् कस्मिश्चिद-भिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कार्य्यः। यद्बलात् प्रत्युदितायामेकाग्रताया विक्षेपाः प्रणाशमुपयान्ति॥ ३२॥

इदानीं चित्तसंस्कारापादकपरिकर्म्मकथनमुपायान्तरमाह—

भोजवृत्ति का भाष्य—उक्त विघ्नों को निवारण करने के वास्ते किसी अपने प्यारे तत्व मे अभ्यास करे अर्थात् चित्त वारम्बार एक ही तत्व मे लगाये रहे इस अभ्यास के बल से एकाग्रता के विघ्न नाश हो जाते हैं॥ ३१॥ अब चित्त के संस्कारों को उत्पन्न

करने वाला उपाय कहते हैं।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सू० का पदार्थ—(मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्) प्रीति, दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की (सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम्) सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों में (भावनतः धारणा से (चित्तप्रसादनम्) चित्त प्रसन्न होता है।३३

सू० का भा०—सुखी से प्रीति दुःखी पर दया, पुण्यात्मा पर प्रसन्नता और पापी का त्याग करनेसे चित्त सावधान होता है।३३

भाष्य—तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्। दुःखितेषु करुणां पुण्यात्मकेषु मुदिताम्। अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म्म उपजायते। तत्र चित्तं प्रसीदति। प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥३३॥

भाष्य का पदार्थ—इनमें से जो सब प्राणी आ सुख और संपत्ति से युक्त हैं उनसे मित्रता दुःखियों पर दया पुण्य अर्थात् सुकर्म्म करनेवालोंसे प्रसन्नता, दुष्ट कर्म्म करनेवालों से त्याग अर्थात् उनसे दूर रहने की भावना करे इस प्रकार से मनुष्य के भावना करने से चित्त प्रसन्न हुआ एक ईश्वर में स्थिति को प्राप्त करता है॥३३॥

भावार्थ—सुख सम्भोगयुक्त प्राणियों में मैत्री, दुःखितों पर दया पुण्यात्माओं में मुदिता और पापियों में उपेक्षा करने से शुद्ध धर्म्म की प्राप्ति होती है उससे चित्त प्रसन्न होकर चित्त एकाग्र तथा स्थिर हो जाता है ॥ ३३ ॥

भो० वृ०—मैत्री सौहार्दम्। करुणा कृपा। मुदिता हर्षः। उपेक्षौदासीन्यम्। एता यथाक्रमं सुखितेषु दुःखितेषु पुण्यवत्सु अपुण्यवत्सु च विभावयेत्। तथाहि सुखितेषु साधुषु एव सुखित्वमिति मैत्रीं कुर्यान्नतु ईर्ष्याम्। दुःखितेषु कथं न नामैषां दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपामेव कुर्यान्न ताटस्थ्यम्। पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षमेवं कुर्यान्नतु किमेते पुण्यवन्त इति विद्वेषम्। अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेत् नानुमोदनं नवा द्वेषम्। सूत्रे सुख दुःखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपादिताः। तदेवं मैत्र्यादि परिकर्म्मणा चित्तं प्रसीदति सुखेन समाधेराविर्भावो भवति। परिकर्म चैतत् वाह्यं कर्म्म। यथा गणिते मिश्रकादि व्यवहारो गणितनिष्पत्तये सङ्कलितादिकर्म्मोपकारकत्वेन प्रधानकर्म्मनिष्पत्तये भवति। एवं द्वेषरागादिप्रतिपक्षभूतमैत्र्यादिभावनया समुत्पादितप्रसादं चित्तं संप्रज्ञातादिसमाधियोग्यं सम्पद्यते। रागद्वेषावेव मुख्यतया विक्षेपमुत्पादयतः। तौ चेत् समूलमुन्मूलितौ स्यातां तदा प्रसन्नत्वान्मनसो भवत्येकाग्रता॥ ३३॥ उपायान्तरमाह।

भो० वृ० का भाष्य—मैत्री=बन्धुभाव, करुणा=पराया दुःख दूर करने की इच्छा, मुदिता=प्रसन्नता, उपेक्षा=उदासीनता वा त्याग इनको क्रम से सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापी में व्यवहार करै, अर्थात् सुखयुक्त साधुओं से प्रीति करै किन्तु ईर्ष्या न करे, दुःखियों के दुःख को देखकर हँसी न करे वरन् उनके दुःख दूर करने के उपाय सोचे, पुण्यात्माओं के पुण्य को देखकर प्रसन्न हो किन्तु दम्भ वश होके उनसे विरोध न करै, पापियों से उदासीन रहै अर्थात् उनके कर्मों का अनुमोदन भी न करे और न उनसे विरोध ही करे। सूत्र मे जो सुख और दुःख आदि शब्द लिखे हैं उनसे तद्विशिष्ट जीवों को समझना चाहिये। फलितार्थ यह हुआ कि मैत्री आदि कर्मों से चित्त में प्रसन्नता होती है और

करना चाहिए उपाय कहते हैं।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सू० का पदार्थ—(मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्) प्रीति, दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की (सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम्) सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों में (भावनातः धारणा से (चित्तप्रसादनम्) चित्त प्रसन्न होता है।३३

सू० का भा०—सुखी से प्रीति दुःखी पर दया, पुण्यात्मा पर प्रसन्नता और पापी का त्याग करनेसे चित्त सावधान होता है।३३

भाष्य—तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्। दुःखितेषु करुणां पुण्यात्मकेषु मुदिताम्। अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति। प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥३३॥

भाष्य का पदार्थ—इनमें से व सब प्राणी जो सुख और संपत्ति से युक्त हैं इनसे मित्रता दुःखियों पर दया, पुण्य अर्थात् सुकर्म्म करनेवालोंसे प्रसन्नता दुष्ट कर्म्म करनेवालों से त्याग अर्थात् इनसे दूर रहने की भावना करे इस प्रकार से मनुष्य के भावना करने से चित्त प्रसन्न हुआ एक ईश्वर में स्थिति को प्राप्त करता है॥३३॥

भावार्थ—सुख सम्भोगयुक्त प्राणियों में मैत्री, दुखियों पर दया पुण्यात्माओं में मुदिता और पापियों में उपेक्षा करने से शुद्ध धर्म्म की प्राप्ति होती है इससे चित्त प्रसन्न होकर चित्त एकाग्र तथा स्थिर हो जाता है ॥ ३३ ॥

भो० वृ०—मैत्री सौहार्दम् । करुणा कृपा । मुदिता हर्षः । उपेक्षौदासीन्यम् । एता यथाक्रमं सुखितेषु दुःखितेषु पुण्यवत्सु अपुण्यवत्सु च विभावयेत् । तथाहि सुखितेषु साधुषु एव सुखित्वमिति मैत्रीं कुर्य्यान्नतु ईर्ष्याम् । दुःखितेषु कथं न नामैषां दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपामेव कुर्य्यान्न ताटस्थ्यम् । पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षमेव कुर्य्यान्नतु किमेते पुण्यवन्त इति विद्वेषम् । अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेत् नानुमोदनं नवा द्वेषम् । सूत्रे सुख दुःखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपादिताः । तदेवं मैत्र्यादि परिकर्म्मणा चित्तं प्रसीदति सुखेन समाधेराविर्भावो भवति । परिकर्म चैतत् वाह्य कर्म्म । यथा गणिते मिश्रकादि व्यवहारो गणितनिष्पत्तये सङ्कलितादिकर्म्मोपकारकत्वेन प्रधानकर्म्मनिष्पत्तये भवति । एवं द्वेषरागादिप्रतिपक्षभूतमैत्र्यादिभावनया समुत्पादितप्रसादं चित्तं संप्रज्ञातादिसमाधियोग्यं सम्पद्यते । रागद्वेषावेव मुख्यतया विक्षेपमुत्पादयतः । तौ चेत् समूलमुन्मूलितौ स्यातां तदा प्रसन्नत्वान्मनसो भवत्येकाग्रता ॥ ३३ ॥ उपायान्तरमाह ।

भो० वृ० का भाष्य—मैत्री=बन्धुभाव, करुणा=पराया दुःख दूर करने की इच्छा, मुदिता=प्रसन्नता, उपेक्षा=उदासीनता वा त्याग इनको क्रम से सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापी में व्यवहार करै, अर्थात् सुखयुक्त साधुओं से प्रीति करै किन्तु ईर्ष्या न करे, दुःखियों के दुःख को देखकर हँसी न करै वरन् उनके दुःख दूर करने के उपाय सोचे, पुण्यात्माओं के पुण्य को देखकर प्रसन्न हो किन्तु दम्भ वश होके उनसे विरोध न करै, पापियों से उदासीन रहै अर्थात् उनके कर्मों का अनुमोदन भी न करे और न उनसे विरोध ही करे । सूत्र में जो सुख और दुःख आदि शब्द लिखे हैं उनसे तद्विशिष्ट जीवों को समझना चाहिये । फलितार्थ यह हुआ कि मैत्री आदि कर्मों से चित्त में प्रसन्नता होती है और

चित्त के प्रसन्न रहने से सुख प्राप्त होता है और सुख से समाधि प्राप्त होता है, यह कर्म्म यद्यपि ऊपरी कर्म्म है जैसे गणित में मिश्र और अमिश्र या सामान्य व्यवहार (Compound) गणित के निर्णय करने के वास्ते हैं और वह योग (Addition) आदि गणित की प्रधानता क्रियाओं के उपकारक होते हैं ऐसे ही राग द्वेषादि को शान्त करने वाले मैत्री आदि कर्म्मों से चित्त शुद्ध प्रसन्नता का भागी होता है और उससे संप्रज्ञात समाधि के योग्य बन जाता है। राग और द्वेष ही विघ्नों के मुख्य उत्पन्न करनेवाले हैं यदि यही जड़ सहित नष्ट हो जाँय तो चित्त प्रसन्न होने से एकाग्र हो जाता है ॥ ३३ ॥ अब दूसरा उपाय कहते हैं—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

सू० का पदार्थ—(वा) या (प्राणस्य) प्राण वायु के (प्रच्छर्दन विधारणाभ्याम्) यत्नपूर्वक बाहर निकालने तथा पुनः खींचने से ॥ ३४ ॥

भा०—अथवा प्राणवायु को बलपूर्वक बाहर निकालने और पुनः खींचने से अर्थात् प्राणायाम करने से चित्त एकाग्र होता है ॥ ३४ ॥

भाष्य—कोष्ठस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामः ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ॥ ३४ ॥

भाष्य का पदार्थ—उदर में स्थित वायु को नाक के नथनों से अधिक प्रयत्न से बाहर निकालने को प्रच्छर्दन कहते हैं विधारण प्राण वायु को खींचकर निरोध करने का नाम है इन दोनों से मन की एकाग्रता प्राप्त करे ॥ ३४ ॥

भावार्थ—उदरस्थ प्राण वायु को नासिका के नथनों से प्रयत्न पूर्वक बाहर निकालने को प्रच्छर्दन और खींचने को विधारण कहते हैं इन दोनों से मन को स्थिर करना चाहिये ॥ ३४ ॥

भो० वृ०—प्रच्छर्दनं कौष्ठ्यस्य वायोः प्रयत्नविशेषान्मात्राप्रमाणेन वहिर्निःसारणम्। विधारणं मात्राप्रमाणेनैव प्राणस्य वायोर्बहिर्गति विच्छेदः। स च द्वभ्यां प्रकाराभ्यां बाह्यस्याभ्यन्तरापूरणेन पूरितस्य वा तत्रैव निरोधेन। तदेवं रेचकपूरककुम्भक भेदेनत्रिविधः प्राणायामश्चित्तस्य स्थितिमेकाग्रताया निवध्नाति। सर्वासामिन्द्रियवृत्तीना प्राणवृत्तिपूर्वकत्वात्। मनः प्राणयोश्च स्वव्यापारे परस्परमेकयोगक्षेमत्वाञ्जीयमाणः प्राण समस्तेन्द्रिय वृत्तिनिरोधद्वारेण चित्तस्यैकाग्रतायां प्रभवति। समस्तदोषक्षयकारित्व श्चास्याऽऽगमे श्रूयते। दोषकृताश्च सर्वा विक्षेपवृत्तयः। अतो दोषनिर्हरणद्वारेणद्वारेणाप्यस्यैकाग्रताया सामर्थ्यम् ॥ ३४ ॥ इदानि मुपायान्तरप्रदर्शनोपक्षेपेण संप्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वाङ्ग कथयति।

भो० वृ० का भाष्य—प्रच्छर्दन का अर्थ है उदर स्थित वायु का विशेष यत्न से मात्राके अनुसार बाहिर निकाल देना। मात्रा के अनुसार ही अर्थात् गुरु जितनी वायु को पेट से बाहर निकालने को बतावे उससे अधिक वायु को न निकालना, मात्रा के अनुसार ही प्राण वायु के बाहर रोकने को विधारण कहते हैं। यहाँ इन दोनों अर्थात् प्रच्छर्दन और विधारण' में वाहर की वायु को भीतर भरने से, भीतर खींची हुई वायु को भीतर ही रोकने से पूरक, रेचक और कुम्भक तीन प्रकार के प्राणायाम होते हैं इन ही को करने से चित्त एकाग्र होता है। इन्द्रियों की जितनी वृत्ति है वह सव प्राण की गति के आधीन रहती है। मन और प्राण, मन की गति और व्यवहार परस्पर ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं कि एक दूसरे के आश्रित हैं। वस प्राणायाम द्वारा या

जब प्राण की गति रुक जाती है तब मन की गति और इन्द्रियों की सब वृत्तियाँ रुक जाती हैं तब चित्त एकाग्र हो जाता है। वेदों में प्राणायाम को समस्त दोषों का नाशक लिखा है और विक्षेप अर्थात् योग में विघ्न करने वाली सब वृत्तियाँ दोष से उत्पन्न होती हैं, इस कारण दोषों का नाश करने के द्वारा भी प्राणायाम चित्त को एकाग्र करने में समर्थ है ॥ ३४ ॥ अब चित्त को एकाग्र करने के और उपायों को वर्णन करना व्यर्थ समझ के संप्रज्ञात समाधि के पूर्व अंग का वर्णन करते हैं।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥

पदा०—(विषयवती) दिव्य विषयवाली (प्रवृत्ति) प्रवृत्ति (उत्पन्ना) उत्पन्न होकर (मनसः) मन की (स्थितिनिबन्धिनी) स्थिरता को स्थिर करती है ॥३५॥

भावा०—अथवा जब दिव्य विषय में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है तब मन स्थिर होता है ॥ ३५ ॥

भाष्य—नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः जिह्वाग्रे रससंवित् तालुनि रूपसंवित् जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित् जिह्वामूले शब्दसंवित् इत्येता वृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति समाधिप्रज्ञायाञ्च द्वारीभवन्तीति। एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या। यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव

भवती एतेषां यथा भूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात् तथाऽपि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत् सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति । तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्य्योपदेशोपोद्बलनार्थमेवावश्यत्तश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वंसूक्ष्मविषयमपि आपवर्गात् च्छ्रद्धीयते । एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म्म निर्दिश्यते । अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायांवशीकार संज्ञायामुपजातायां समर्थस्या तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति । तथाच सति श्रद्धा वीर्यस्मृतिसमाधयोऽस्या प्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति ॥ ३५ ॥

भा० का पदा०—नासिका के अग्रभाग में धारण करने वाले मनुष्य को जो दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है वह गन्ध की प्रवृत्ति है जिह्वा के अग्रभाग में रस का ज्ञान, तालु में रूप का ज्ञान अर्थात् दिव्य दृष्टि, जिह्वा के मध्यभाग मे स्पर्श ज्ञान अर्थात् दिव्यत्वक् जिह्वा के मूलभाग अर्थात् जड़ में शब्द ज्ञान अर्थात् दिव्य श्रवण शक्ति यह सब प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिति में युक्त करती हैं संशय को दूर करती हैं और योगोपयोगिनी बुद्धिके द्वार होती हैं इससे चन्द्रमा सूर्य तारागण दीपक और रत्न आदिकों में प्रवृत्ति उत्पन्न होकर अपने २ विषय को स्थिर करती हैं इस प्रकार से प्रवृत्ति जाननी चाहियें यद्यपि प्रत्येक शास्त्र, अनुमान और आचार्य के उपदेश से निश्चयपूर्वक जाना गया अर्थों का तत्व सत्य ही होता है । इन सबका यथार्थ रूप से प्रतिपादन योगशक्ति से होता है, तौ भी जबतक किसी विषय का एक अंश भी अपने

नेत्रादि इन्द्रियों में प्रत्यक्ष नहीं होता तबतक सम्पूर्ण परोक्ष के समान है। मोक्षादिकों में दिव्य पदार्थों में विश्वासात्मक बुद्धि का उत्पन्न करता है। इसलिये शास्त्र, अनुमान आचार्यों के उपदेश के निश्चय करने को जरूर कोई विशेष उपाय प्रत्यक्ष करना चाहिये सूक्ष्म विषयों में से शास्त्र अनुमान और आचार्य के उपदेश किये विषय के एक देश के प्रत्यक्ष ज्ञान से सम्पूर्ण दिव्य विषयों (मोक्ष पर्यन्त) पर विश्वास हो जाता है। इसही प्रयोजन से चित्त का एकाग्र करना उपदेश किया जाता है। यदि चित्तवृत्ति नियत न रहेगी अर्थात् विक्षिप्त वृत्ति रहेगी तो कुछ प्रत्यक्ष न होगा जब इन विषयाकार वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब सूक्ष्म विषयों के प्रत्यक्ष करने की शक्ति हो जाती है और जब दिव्य विषय प्रत्यक्ष होते हैं श्रद्धा उत्साह स्मृति और समाधि होती है चित्त के निबद्ध न होने से श्रद्धादि नहीं होती हैं॥ ३५॥

भाषा का भावार्थ—नासिका के अग्रभाग में जो ध्यान करने से मनुष्य को दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है यह गन्ध की प्रवृत्ति है, जिह्वा के अग्रभाग में रस का ज्ञान, तालु में रूप का ज्ञान अर्थात् दिव्य दृष्टि, जिह्वा के मध्य में स्पर्श अर्थात् दिव्य स्पर्श जिह्वा की जड़ में शब्द ज्ञान अर्थात् दिव्य श्रवण शक्ति, यह सब प्रवृत्ति उत्पन्न होकर चित्त को स्थिति में युक्त करती हैं संशयों का दूर करती है योगोपयोगिनी बुद्धि का द्वार होता है इससे चन्द्रमा सूर्यग्रह-मणि आदि में प्रवृत्ति उत्पन्न होकर अपने अपने विषयों को स्थिर करती है। यद्यपि शास्त्र अनुमान और गुरूपदेश से इन सबका यथार्थ ज्ञान होता है क्योंकि अथर्वादिकों म यथार्थ बोध की शक्ति है तथापि जिसका जब तक एक देश भी प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक अत्यन्त सूक्ष्म मोक्षादि विषयों में दृढ़ बुद्धि नहीं उत्पन्न होती इसलिये शास्त्र, अनुमान और गुरु के उपदेश को सत्य

करने तथा उसमें दृढ़ निश्चय उत्पन्न करने के लिये कोई विशेष प्रयत्न करना चाहिये। जब आचार्य के उपदेशादि में निश्चय हो जाता है तब अन्य मोक्षादि विषयोंमें भी श्रद्धा होती है इसही लिये यह चित्त निरोध के उपाय कहे जाते हैं जब किसी विपर्यय ज्ञान का होना दुःसाध्य है॥ ३५॥

भो० वृ०—मनस इति वाक्यशेषः। विषयाः गन्धरसरूपस्पर्श शब्दास्ते विद्यन्ते फलत्वेन यस्याः सा विषयवती प्रवृत्तिर्मनसः स्थैर्यं करोति। तथा हि नासाग्रे चित्तधारयतो दिव्यगन्धसंविदुपजायते॥ तादृश्यैव जिह्वाग्रे रससवित्। तालवग्रे। रूपसंवित्। जिह्वामध्ये स्पर्श सवित्। जिह्वामूले शब्दसंवित् तदेवं तत्तदिन्द्रियद्वारेण तस्मि-स्तस्मिन् दिव्ये विषये जायमाना सविचित्तस्यैकाग्रताया हेतुर्भवति अस्ति योगस्य फलमिति योगिनः समाश्वासोपादनात्॥ ३५॥

एवंविधमेवोपायान्तरमाह।

भोज वृ० का भाष्य—सूत्र में मनसः (मन की) शब्द लगा देने से वाक्य पूरा हो जाता है। पंचभूतों के विषय अर्थात् गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द यह पाँचों जिसमें फल रूप से रहते हों (अर्थात् जिन वृत्तियों के यही फल हों) उसे विषयवती कहते हैं, यह विषयवती प्रवृत्ति भी मन को स्थिर करती है उसे नोक के अगले भाग में चित्त को स्थिर करने से दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है। वैसा ही जिह्वा के अग्रभाग में मन को लगाने से दिव्य रसका ज्ञान होता है, तालु के अग्रभाग में रूप का ज्ञान। जिह्वा के मध्यभाग मे स्पर्श ज्ञान और जिह्वा के मूल अर्थात् जड मे चित्त को स्थिर करने से शब्द का ज्ञान होता हैं इस ही प्रकार से जिस तत्व का ग्रहण करने वाली जो इन्द्रिय है उसमें चित्त को स्थिर करने से उसही विषय का दिव्य ज्ञान उत्पन्न होता है। और वही ज्ञान चित्त की एकाग्रता का कारण हो जाता है उक्त दिव्य ज्ञानो के होने से योगी को यह

निश्चय हो जाता है कि योग से अवश्य फल प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥ ऐसा ही और उपाय कहा है।

विशोका वा ज्योतिष्मती । ३६ ॥

सू० का पदार्थ—(वा) या (विशोका) शोक रहित ज्योतिष्मती प्रकाश युक्त अथवा ज्ञानयुक्त ॥ ३६ ॥

भावार्थ—अथवा जब शोक रहित प्रवृत्ति उत्पन्न होती है तब मन स्थिर होता है ॥ ३६ ॥

भाष्य—प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्तते। हृदय पुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित् बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथास्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधि कल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति यत्रेदमुक्तम्। 'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीति एवं तावत् संप्रजानीते' इति एषा द्वयी विशोका विषयवती अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभते इति ॥ ३६ ॥

भा० का पदार्थ—उत्पन्न हुई प्रवृत्ति मन को स्थिर करने वाली होती है यह वाक्य पूर्व सूत्र से इस सूत्र में आता है। हृदय कमल में धारणा अर्थात् ध्यान करने वाले का जो निश्चयात्मक ज्ञान अथवा सुख दुःखादि का ज्ञान होता है उसमें बुद्धि की सत्ता प्रकाश युक्त आकाश के समान विस्तृत होती है उस हृदय कमल में प्रसाद युक्त सूक्ष्म स्थिति सूर्य चन्द्रमा ग्रह और मणि के

प्रकाश, रूप आकार में बदल जाती है। जब अस्मिता में चित्त स्थिर हो जाता है तरंग रहित समुद्र के समान उपाधि रहित अनन्त ज्ञानयुक्त स्वच्छ अपने रूप में विचारशील होता ॐ है जिस अवस्था में यह कहा है कि उस परमाणु के समान आत्मा को मैं जानता हूँ अर्थात् परमेश्वर के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार से तब ऐसा ईश्वर को जानता हैं यह दो प्रकार की विशोका शोक रहित और विषयवती लक्ष्य में परिनिष्ठ अस्मिता-मात्र अर्थात् जिसमें जीव अपने वास्तविक रूप को जाने और ईश्वर के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त हो जाय वह प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कही जाती है जिससे योगी का चित्त स्थिर भाव को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

भा० भावार्थ—हृदयकमल अर्थात् हृदयाकाश में जब प्राणधारणा की जाती है तब योगी को निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति होती है। बुद्धि अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान प्रकाशयुक्त और आकाश के समान विस्तृत होता है। उसमें स्थिर होने से सूर्य्य, चन्द्रमा, ग्रह और मणियों के प्रकाश के समान जाज्वल्यमान ज्ञान प्राप्त होता है, तब चित्त अस्मिता में अर्थात् अपने रूप ज्ञान में स्थिर होता है और उसकी दशा इस दशा में तरंग रहित महासागर के समान शान्त और निश्चल होती है, तब जीव यह समझता है कि मैंने उस सूक्ष्मतर परमात्मा को अब जाना है और अपने स्वरूप को भी समझा है, इस प्रवृत्ति को ज्योतिष्मती कहते हैं, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से योगी का चित्त स्थिर होता है ॥ ३६ ॥

भो० वृ०—प्रवृत्तिरुत्पन्ना चित्तस्य स्थितिनिबन्धिनीति वाक्य शेष। ज्योतिः शब्देन सात्विकः प्रकाश उच्यते। स प्रशस्तो भूयान

ॐ इस योग को अस्मितानुग कहते हैं।

तिशयवानस्ति विद्यते यस्याः सा ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः विशोका विगतः सुखमयसुखाभ्यासवशाच्छोको रजःपरिणामो यस्य सा विशोका चेतसः स्थितिनिबन्धिनी । अयमर्थः हृदयकमलसम्पुटमध्ये प्रशान्त कल्लोल क्षीरोदधिप्रख्यं चित्तसत्त्वं भावयतः प्रज्ञालोकात् सर्ववृत्तिपरिक्षये चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते ॥ ३६ ॥ उपायान्तरप्रदर्शन द्वारेण सम्प्रज्ञातसमाधेर्विषयं दर्शयति ।

भो० वृ० का भाष्य—सूत्र में प्रवृत्ति उत्पन्न हुई चित्त को स्थिर करती है इतने शब्द और लगाने से वाक्य पूरा होता है । ज्योति शब्द से सात्त्विक प्रकाश कहा है वह सात्त्विक प्रकाश जिसमें अत्यन्त अधिक हो उसे ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहते हैं । विशोका का अर्थ यह है कि सुख मय योगाभ्यास से दूर हो गया है शोक जिससे ऐसी प्रवृत्ति जब उत्पन्न होती हैं तब चित्त को स्थिर कर देती है । अभिप्राय यह है कि हृदयकमल के बीच में प्रशान्त महासागर के समान चित्त विचार युक्त एवं प्रकाशमय जब होता है तब सब वृत्तियाँ क्षय हो जाती हैं और उससे चित्त स्थिर हो जाता है ॥ ३६ ॥ चित्त की स्थिरता का दूसरा उपाय दिखाने के बहाने से संप्रज्ञात समाधि का विषय दिखाते हैं ।

वीतराग विषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

पदार्थ—(वीतराग विषयम्) रागादि विषय से शून्य (वा) या (स्वयम्) चित्त ।

भावार्थ—अथवा जब चित्त राग से मुक्त हो जाता है, तब वह मन की स्थिरता का हेतु होता है ।

भाष्य—वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३७ ॥

भा० का पदार्थ—वीतराग योगी का आलम्बन से उपरक्तचित्त स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

भा० का भावार्थ—वीतराग योगि का आलम्बन से उपरक्त चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

भो० वृ०—मनसः स्थिति निबन्धन भवतीतिशेष। वीतरागः परित्यक्त विषयाभिलाषस्तस्ययच्चित्त परिहृतक्लेशं तदालम्बनी-कृतं चेतसः स्थिति हेतुर्भवति ॥ ३७ ॥ एवं विधमुपायान्तर महि।

भोज वृ० भावार्थ—विषयों का अभिलाष जिसने त्याग दिया है ऐसे वीतराग का क्लेशरहित जो चित्त उसका आलम्बन करने से भी चित्त स्थिर होता है ॥ ३७ ॥ इसी प्रकार का अन्य उपाय कहते हैं—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

पदा०—[वा] या (स्वप्न निद्रा ज्ञानालम्बनम्) स्वप्न के समान अथवा निद्रा के समान ज्ञान के आश्रय से ॥ ३८ ॥

भावा०—अथवा जैसे स्वप्नावस्था और सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) में जागृत अवस्था विषय का ज्ञान और इन्द्रिय चाञ्चल्य नष्ट हो जाता है ऐसे ही ज्ञान के आश्रय से जब योगी की बाह्यवृत्ति नष्ट हो जाती है तब चित्त स्थिर होता है ॥ ३८ ॥

भाष्य०—स्वप्नज्ञानालम्बनं निद्राज्ञानालम्बनम्* वा-तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३८ ॥

भा० का पदा०—स्वप्न के समान ज्ञान के आश्रय से अथवा

* द्वन्द्वान्तेश्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

अवस्था के ज्ञान के समान होने से योगी का चित्त स्थिरता प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

भाषा०—स्वप्नावस्था के ज्ञान के समान ज्ञान में प्राप्त होने और सुषुप्ति अवस्था के ज्ञान के समान ज्ञान में मग्न होने से योगियों का चित्त स्थिर होता है ॥ ३८ ॥

भो० वृ०—प्रत्यस्तमितबाह्येन्द्रियवृत्तेर्मनोमात्रेणैव । यत्र भोक्तृत्वमात्मनः स स्वप्नः । निद्रा पूर्वोक्तलक्षणा । तदालम्बनम् स्वप्नालम्बनं निद्रालम्बनं वा ज्ञानमाश्रयमाणस्य चेतसः स्थितिं करोति ।३८ नानारुचित्वात् प्राणिनां यस्मिन् कस्मिंश्चिद्वस्तुनि योगिनः श्रद्धा भवति तस्य ध्यानेनापीष्टसिद्धिरिति प्रतिपादयितुमाह ॥ ३८ ॥

भो० वृ० का भा०—जिसमें इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ अस्त हो जायँ और केवल मन से ही आत्मा जिसमें विषयों का भोग करे उसे स्वप्न कहते हैं, निद्रा का लक्षण पहिले कह चुके हैं इन दोनों से आलम्बन में जो ज्ञान होता है उस ज्ञान से भी मनकी स्थिरता होती है ॥ ३८ ॥ प्राणियों की रुचि अनेक प्रकार की होती है इस से जिस किसी वस्तु में योगी की श्रद्धा हो सकती है उसके ध्यान से भी इष्टसिद्धि होती है इसका वर्णन अगले सूत्र में किया है ।३८

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

सू० का पदा०—(वा) अथवा (यथाभिमतध्यानात्) इच्छा के अनुकूल किसी शुभप्रद विषय के ध्यान से ॥३९

भाषा०—अथवा किसी ऐसी वस्तु के ध्यान से जो योगी की इच्छा के अनुकूल हो चित्त स्थिर होता है ॥ ३९ ॥

भाष्य०—यदेवाभिमतं* तदेव ध्यायेत् । तत्र लब्ध-

---

* यथाभिमतमनोऽभिप्रेतमिति ।

स्थिति कमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ॥ ३६ ॥

भा० का पदा०—(जो इच्छा के अनुकूल हो उसही का ध्यान करे उसमें स्थिर होने से दूसरे स्थल में भी स्थिरभाव को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

भा० का भा०—अपनी इच्छानुसार चुने हुये किसी एक विषय के ध्यान से मन स्थिर होता है ॥ ३६ ॥

भोज वृत्ति—यथाभिमत वस्तुनि बाह्ये चन्द्रादावाभ्यन्तरे नाडी-चक्रादौ वा भाव्यमाने चेतः स्थिरीभवति ॥ ३६ ॥

एवमुपायान्प्रदर्श्य फलदर्शनायाह—

भो० भा०—किसी इच्छित वस्तु के जैसे वाह्य चन्द्रादिक और आभ्यन्तरिक नाड़ीचक्रादि के ध्यान करने से चित्त स्थिर होता है ॥ ३६ ॥

चित्त के स्थिर करने के उपायो का वर्णन करते हैं—

परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

सू० का पदा०—(परमाणुपरममहत्वान्तः) परमाणु से लेकर महा स्थूल पदार्थों तक (अस्य) मनके (वशीकारः) वश करने का स्थान है ॥ ४० ॥

सू० का भा०—मन वश करने के लिये परमाणु से महास्थूल पदार्थ तक जो प्रिय हों उसी के द्वारा मन को स्थिर करे ॥ ३६ ॥

भाष्य०—सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति । स्थूले निविशमानस्य परममहत्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य । एवन्तामुभयींकोटिमनुधावतोयोऽस्याप्रतीघातः सपरोवशीकारः तद्वशीकारात् परिपूर्णं योगिनश्चितं न पुन-

नाभ्यासकृतपरि कर्मापेक्षत इति ॥ ४० ॥ अथ लब्धस्थि तिकस्य चेतसः किंस्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति तदुच्यते ।

भा० का पदा०—सूक्ष्म पदार्थ में चिन्तन करने से प्रवृत्त हुए का अन्तस्थ परमाणु तक स्थिरीभाव होता है। स्थूल विषय के चिन्तन में प्रविष्ट हुये चित्त का परम स्थूल महत्तत्व पर्यन्त स्थिरता का पद है। चित्त का इस प्रकार से उक्त दोनों कोटि अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल कोटि को अनुसरण करनेवाले दोनों पथ पर चलन से जो रोकना है वह परम वशीकरण है उस वशीकरण योगी का चित्त फिर बारम्बार अनुष्ठान कृत कर्म की अपेक्षा नहीं रखता है। अब प्रश्न यह होता है कि स्थिर हुये चित्त की किस प्रकार की एवं किस विषय की स्थिति वा धारणा होती है। यह अगले सूत्र में कहते हैं ॥ ४० ॥

भा० का भा०—जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं एक सूक्ष्म दूसरे स्थूल। योगी का उचित है कि दोनों में से किसी कोटि को धारण करे अर्थात् जब सूक्ष्म कोटि में चित्तको लगावेगा तब सबसे सूक्ष्म परमाणु का चिन्तन करने से उससे भी सूक्ष्मतर ईश्वर में चित्त स्थिरता को प्राप्त होगा और ऐसे ही स्थूल पदार्थ के चिन्तन से आकाश आदि महास्थूल पदार्थों के चिन्तन के अनन्तर उनसे भी स्थूल परमेश्वर म स्थिति को प्राप्त हो जायगा उपनिषद् में भी लिखा है 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' चित्त की दोनों कोटियों की ओर दौड़ता है उसको एक कोटि में लगाने को वश करना कहते हैं, जब योगी का चित्त एक कोटि में स्थिर हो जाता है तब उसे दूसरे उपायों की अपेक्षा नहीं रहती ॥ ४० ॥

भोज० वृ०—एभिरुपायैश्चित्तस्य स्थैर्यं भावयतो योगिनः सूक्ष्म

विषय भावना द्वारेण परमाणवन्तो वशीकारोऽप्रतिघातरूपो जायते न क्वचित्परमापर्यन्ते सूक्ष्मे विषयेऽस्य मनः प्रतिहन्यत इत्यर्थः । एवं स्थूलमाकाशादि परम महत्पर्यन्त भावयतो न क्वचिच्चेतसः प्रतिघात उत्पद्यते । सर्वत्र स्वातन्त्र्यं भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

एवमेभि रूपायैः सस्कृतस्य चेतसः की दृग्रूप भवतीत्याह—

भो० वृ०—उक्त उपायों से चित्त की स्थिरता का यत्न करते हुए योगी को सूक्ष्म विषय की भावना से परमाणु पर्यन्त वश मे हो जाते हैं । कहीं भी योगी के मन की गति नहीं रुकती । ऐसे ही आकाश आदि स्थूल विषयों मे भी मन की गति अव्याहत हो जाती है, अर्थात् सर्वत्र इसको स्वातन्त्र्य प्राप्त हो जाता है ॥४०॥

इन उपायों से चित्त के स्थिर हो जाने पर उसका कैसा रूप होता है ? इसका वर्णन अगले सूत्र मे किया है—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदंजनतासमापत्तिः ॥ ४१ ॥

सू० का पदार्थ–(क्षीणवृत्तेः) क्षीण हो गई हैं वृत्तियाँ जिसकी (अभिजातस्य) स्फटिक (मणेरिव) मणि के समान (ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु) ग्रहण करने वाले ग्रहण करने के साधन और ग्रहण करने योग्य पदार्थ में (तत्स्थ-तदंजनतासमापत्तिः) स्थिर होने से उसकी समानता प्रतीत होने लगती है ॥ ४१ ॥

सू० का भावार्थ–जिसकी वृत्ति क्षीण हो जाती है उसके चित्त की प्रतीति ऐसी रहती है जैसी स्फटिकमणि की अर्थात् स्फटिक-मणि जैसे स्वयं स्वच्छ है परन्तु वह समीपस्थ पदार्थ के रङ्ग का

प्रतीत होने लगते हैं ऐसे ही योगी का चित्त स्वयं स्वच्छ होता है परन्तु वृत्तिसंयोग से वह तदाकार प्रतीत होने लगता है ॥४१॥

भाष्य-क्षीणवृत्तिरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः। अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानम् यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात् तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते। तथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्य समापन्नं ग्राह्यरूपस्वरूपाकारेण निर्भासते। भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भवति तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं स्थूलरूपाभासं भवति तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेद समापन्नं विश्वरूपाभासं भवति। तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यम्। ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुष स्वरूपाकारेण निर्भासते तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते इति। तदेवमभिजातमणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते ॥ ४१ ॥

भा० का पदार्थ-क्षीणवृत्ति वाले की अर्थात् जिसके विकल्पादि मिथ्याज्ञान अस्त हो गये हैं सूत्र में जो 'अभिजातस्येव मणेः' यह लिखा है सो दृष्टान्त का ग्रहण किया है। जैसे स्फटिक पत्थर समीप में रखी हुई वस्तु के रंग वाला समीपस्थ आश्रय के रूप के समान ही भान होता है ऐसे ही चित्त जिस विषय को ग्रहण करता

है ग्राह्य विषय के रूप वाला भान होता है। जिसका चित्त सूक्ष्म भूतों में लग्न होता है, सूक्ष्म भूतों में लय हो जाने से सूक्ष्म भूतों के स्वरूप के समान ही हो जाता है। ऐसे ही जिस योगी का चित्त स्थूल वस्तुओं में लग्न होता है, वह स्थूल में मग्न होने के कारण स्थूल स्वरूप का ही ध्याता होता है। ऐसे ही विश्वरूप के चिन्तन में लगा हुआ मन विश्वरूपाकार हो जाता है। ग्रहण करने में जो सहायक इन्द्रियाँ हैं उनमें भी संलग्न होने से उनके स्वरूप में भान होता है। ऐसे ही ग्रहण करने वाले पुरुष मे उपरक्त होने से ग्रहीता पुरुष के आकार का भान होता है, तैसे ही मुक्त पुरुष मे चित्त के लगाने से मुक्त पुरुषाकार ही चित्त हो जाता है इस रीतिसे स्फटिक मणि के समान चित्त की गृहीता, ग्रहण और ग्राह्य स्थिति और समीपता है, वही तदाकारापत्ति का कारण है, विषयों में उसे समापत्ति कहते हैं ॥ ४१ ॥

भा० का भा०—जिसके चित्त की वृत्ति अस्त हो गई है उसका चित्त स्फटिक मणि के समान ग्राह्य ग्रहण गृहीतृभाव को धारण करता है उसे समापत्ति कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि जैसे स्फटिक मणि जिस वस्तु के समीप रक्खा जाता है उस ही के रूप को धारण कर लेता है ऐसे ही चित्त भी जिस विषय में संलग्न होता है वैसा ही प्रतीत होने लगता है एवम् तदाकारापत्ति को समापत्ति कहते हैं ॥ ४१ ॥

भो० वृ०—क्षीणा वृतयो यस्यस क्षीणवृत्ति तस्य ग्रहीतृग्रहण-ग्राह्येषु आत्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिर्भवति। तत्स्थत्व तत्रैकाग्रता। तदञ्जनता तन्मयत्वं, न्यभूते चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैवोत्कर्षः तथाविधा समापत्तिः, तद्रूपः परिणामो भवतीत्यर्थः। दृष्टान्तमाह—अभिजातस्ये मणेर्यथाऽभिजातस्य निर्मलस्फटी

कमणेस्तत्तदुपाधिवशात्तद्रूपापत्तिरेवं निर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तद्रूपापत्तिः। यद्यपि ग्रहीतृग्रहणग्राह्येष्वित्युक्तं तथापि भूमिकाक्रमवशात् ग्राह्य ग्रहणग्रहीतृषु इति बोद्धव्यम्। यतः प्रथमं ग्राह्यनिष्ठ एव समाधिः ततो ग्रहणनिष्ठः ततोऽस्मितामात्ररूपो ग्रहीतृनिष्ठः, केवलस्य पुरुषस्य ग्रहीतुर्भाव्यत्वासम्भवात्। ततश्च स्थूलसूक्ष्मग्राह्योपरक्तं चित्तं तत्र समापन्नं भवति। एवं ग्रहणे ग्रहीतरि च समापन्नं बोद्धव्यम् ॥ ४१ ॥ इदानीमुक्ताया एव समापत्तेश्चातुर्विध्यमाह।

यो० सू० का भा०—जिसकी वृत्ति क्षीण हो गई है उसे क्षीणवृत्ति कहते हैं। उस क्षीणवृत्ति का ग्रहीता (ग्रहण करने वाला) ग्रहण (ग्रहण करने का साधन) और ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) आत्मा, इन्द्रिय और विषयों में तत्स्थ तदञ्जनता समापत्ति अर्थात् समाधि होती है तत्स्थ का अर्थ है उस ही में चित्त का एकाग्र हो जाना, तदञ्जनता का अर्थ तन्मय होना है क्षीण वृत्ति वाले चित्त में विचारणीय विषय की ही स्फुटता रहती है और वैसे ही समापत्ति अर्थात् उस ही प्रकार का परिणाम या परिवर्तन होता है दृष्टान्त भी कहते हैं जैसे शुद्ध निर्मल स्फटिक मणि का समीपवर्ती वस्तु के समान ही रूप हो जाता है ऐसे ही निर्मल चित्त का विचारणीय वस्तु के अनुसार रूप बदल जाता है। यद्यपि ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य इस क्रम से सूत्र में लिखा है तो भी ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता ऐसा लिखना उचित है क्योंकि प्रथम ग्राह्य विषय में समाधि होती है फिर ग्रहण में और पश्चात् अस्मिता रूप ग्रहीता में समाधि होती है क्योंकि केवल ग्रहीता आत्मा में विचार या समाधि नहीं होती है तब स्थूल सूक्ष्म ग्राह्य के संसर्ग से चित्तरूप ऐसे ग्रहण और ग्रहीता के संसर्ग में भी समझना चाहिए ॥ ४१ ॥ आगे उक्त समाधि के ४ भेदों का वर्णन करते हैं।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

सू० का पदार्थ—(तत्र) उसमें (शब्दार्थज्ञानविकल्पैः) शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से (संकीर्णा) अर्थात् सीमाबद्ध (सवितर्का समापत्तिः) वितर्क सहित समापत्ति होती है ॥ ४२ ॥

सूत्र का भावार्थ–शब्द अर्थ और ज्ञान के विकल्प द्वारा समापत्ति सकीर्ण और सवितर्क होती है ॥ ४२ ॥

भाष्य—तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्य विभागेन विभक्ता नामपि गृहणं दृष्टम् विभज्यमानाश्चान्ये शब्दधर्मा अन्ये अन्यऽर्थधर्मा विज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः सचेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्त्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते। यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धो श्रुतानुमानविकल्प शून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितार्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते। साच निर्वितर्का समापत्तिः। तत्परम् प्रत्यक्षम्। तच्च श्रुतानुमानयोर्वीजम्। ततःश्रुतानुमाने प्रभवतः। न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम्। तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजम् दश-

तमिति ॥४२॥ निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः शास्त्रे लक्षणं द्योत्यते ।

भा० का पदा०—यह समापत्ति जैसे गो यह शब्द गो यह अर्थ और गो यह ज्ञान इन तीनों की एकता रहती है पृथक् २ भी ग्रहण देखा गया है । विभाग किये शब्द के गुण भिन्न होते हैं, अर्थ के गुण भिन्न होते हैं विज्ञान के धर्म्म पृथक होते हैं यह इनका पृथक् किया गया मार्ग है । उसमें प्रविष्ट हुए योगी का वा गो आदि शब्दों का अर्थ स्थिर बुद्धि अर्थात् समाधिस्थ बुद्धि में बैठा हुआ है यदि वह शब्दज्ञान विकल्पयुक्त रहता है वह सीमाबद्ध समापत्ति सवितर्क कहलाती है । जब फिर शब्द के संकेत अर्थात् कल्पित अर्थों की स्मृति शुद्ध होने से सुने हुए अनुमान किये हुए ज्ञान और विकल्प से रहित अथवा श्रुत और अनुमित पदार्थ ज्ञान के विकल्प से शून्य समाधिस्थ बुद्धि में केवल अपने स्वरूप से अर्थात् अन्य से संग रहित होकर अर्थ रहता है अपने स्वरूप के ही आकार से अवच्छिन्न या जुदा रहता है यह निर्वितर्क समापत्ति वा समाधि कहलाता है वह परम प्रत्यक्ष और यह श्रवण और अनुमान किये हुए का कारण है उससे श्रवण और अनुमान उत्पन्न होते हैं न कि श्रवण और अनुमान ज्ञान के साथ उसका दर्शन होता है इस कारण से सीमा रहित दूसरे प्रमाण से योगी का निर्वितर्क समाधि में प्राप्त हुआ दर्शन होता है ॥ ४२ ॥

भा० का भावार्थ—जैसे गो शब्द गो शब्द का अर्थ और गो शब्द का ज्ञान यह तीनों कहीं एक रूप से रहते हैं और कहीं पृथक पृथक् रहते हैं जब योगी इनकी भिन्नता के मार्ग का अनुसरण करता है अर्थात् योगी की समाधिस्थ बुद्धि में जब यह तीनों भिन्न भिन्न होते हैं तबतक उसकी समाधि का नाम सवितर्क

समापत्ति रहता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस समापत्ति में वितर्क बनी रहती है वह सवितर्क समापत्ति कहलाती है और जब समाधिस्थ बुद्धि में अर्थ मात्र का भान रह जाता है तब निर्वितर्क समापत्ति होती है यह निर्वितर्क समापत्ति परम प्रत्यक्ष है अर्थात् श्रुत और अनुमति सर्व अर्थ इस ही में प्रत्यक्ष होते हैं, यही श्रवण और अनुमान का हेतु है । इसलिए निर्वितर्क समापत्ति में दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती है सवितर्क समापत्ति का लक्षण कह कर अगले सूत्र में निर्वितर्क समापत्ति का लक्षण कहते हैं ॥ ४२ ॥

भो० वृ०—श्रोतेन्द्रियग्राह्यः स्फोटरूपो वा शब्दः । अर्थो जात्यादिः ज्ञानं सत्त्वप्रधाना बुद्धिः । विकल्प उक्तलक्षणः । तैः संकीर्णा यस्यामेते शब्दादयस्त्रयः परस्पराध्यासेन विकल्परूपेण प्रतिभासन्ते गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरितिज्ञानमित्यनेनाकारेण सा सवितर्का समापत्तिरुच्यते ॥ ४२ ॥ उक्त लक्षणविपरीतां निर्वितर्कामाह ।

भा० व० का भा०—कान इन्द्रिय ग्रहण करने योग्य स्फोट (अक्षरों की विशेष योजना) रूप शब्द है जैसे गौ गौ अर्थ जाति को कहते हैं जैसे गौ शब्द का अर्थ गोत्वा धर्मावच्छिन्न जाति है, ज्ञान सत्वप्रधान बुद्धि की वृत्ति जैसे गौ शब्द का ज्ञान सास्नालांगूल वाली व्यक्ति । विकल्प का लक्षण पहिले कह चुके हैं यह सब सकीर्ण अर्थात् परस्पर मिले रहैं जिस समाधि से उसे सवितर्क समाधि कहते हैं ॥ ४२ ॥ सवितर्क समाधि के लक्षण से विरुद्ध निर्वितर्क समाधि का लक्षण अगले सूत्र मे कहा है ।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

सू० का पदार्थ—(स्मृतिपरिशुद्धौ) स्वच्छ स्मृति होने पर (स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा) स्वरूपशून्य के समान भान होने वाली समापत्ति (निर्वितर्का) निर्वितर्क कहलाती है ॥ ४३ ॥

सू० का भावा०—स्मृति के शुद्ध हो जाने पर जिसमें अर्थ स्वरूप रहित के समान भाव होता है वह निर्वितर्क समापत्ति है ॥ ४३ ॥

भाष्य—या शब्दसंकेतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञारूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थ मात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा तदा निर्वितर्का समापत्तिः। तथा च व्याख्यातम् तस्य एक बुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्माऽणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः। स च संस्थानविशेषो भूत सूक्ष्माणां साधारणो धर्म आत्मभूतः फलेन व्यक्तेनानुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जन प्रादुर्भवति। धर्मान्तरस्य कपालादेरुदये च तिरोभवति स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते योऽसावेकश्च महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च तेनावयविना व्यवहारः क्रियते यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः। सूक्ष्मञ्च कारणमनुपलभ्यमविकल्पस्य तस्यावयव्यभावादतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्या-ज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्यात् विषयाभावात् यद्यदुपलभ्यते

तत्तद्वयवित्वेना अम्नातम् तस्मादस्त्यवयवी या महत्वादिव्यवहारपन्नः समापत्तेर्निर्वितर्काया विषयी भवति।४३।

भा० का भावार्थ— जो शब्द सकेत=नियत किया अर्थ सुना हुआ अनुमान, विकल्प और स्मृति की शुद्धता होने पर ग्राह्य पदार्थ के रूप मे प्रतीत होने वाली बुद्धि अपने आप विज्ञान स्वरूप के साधन रूप को त्याग कर पदार्थ के रूप को प्राप्त हुई ग्राह्य "गृहण करने योग्य" पदार्थ के स्वरूप में परिणत हुई के समान होती है वह निर्वितर्क समापत्ति है ऐसे ही कही है उसके निमित्त स्थिर बुद्धि का उपक्रम अर्थात् ज्ञानपूर्वक आरम्भ पूर्वक अथवा उपाय अर्थ परमाणु समूह गौ आदि वा घट आदि संसार है और वह आकार विशेष है सूक्ष्म तत्वों का सामान्य गुण अभिन्न है फल के प्रत्यक्ष होने से अपना अनुमित अर्थ प्रगट होता है तद्भिन्न धर्म्म छिप जाता है यह गुणअवयवी कहलाता है यह धर्म्म एकता ही वहुत बड़ा अणु से भी सूक्ष्म और स्पर्शवाला क्रियायुक्त और अनित्य कहलाता है उस अवयवी से व्यवहार किया जाता है। जिसका कारण सूक्ष्म है वह समूह विशेष सूक्ष्म है और उसका कारण प्राप्त होना भी दुस्साध्य है क्योंकि वह निरवयव होता है इसलिये उसकी स्वरूप स्थिति नहीं स्वरूप स्थिति के अभाव से मिथ्याज्ञान हुआ इस प्रकार से सांसारान्तर्गत प्रायः सब पदार्थ मिथ्या हुए तब यथार्थज्ञान का कौन विषय होगा अथवा विषय के अभाव से यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञेय पदार्थ के अभाव से जो जो मिलता है वह सब रूपवत्ता से वर्णित अवयवी है अर्थात् पदार्थ मात्र अवयवी है इस हेतु से रूपवान महत्वादि व्यवहार करने योग्य निर्विकल्प समापत्ति का विषय होता है ॥ ४३ ॥

भा० का भावार्थ—जो समापत्ति शब्दसंकेत श्रुतज्ञान और अनुमान ज्ञान विकल्प ग्रहण के स्वरूप में भान होनेवाली अर्थात् अपने ग्रहणात्मक रूप को त्याग करके निर्वितर्क समापत्ति में ग्राह्याकार भान होने लगती है यह सब बुद्धि का विकार है परन्तु आत्मा शब्दादि को त्याग कर केवल अर्थ में आरूढ़ हो जाता है जैसे गवादि अथवा घट आदि केवल रूपान्तर है सूक्ष्म तत्त्वों के धर्म्म सबमें एक समान हैं कभी किसी भूत का और किसी भूत के धर्म्म का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। यदि कहें कि यह धर्म्म अवयवी है उसमें स्थिर होने से निर्वितर्क समापत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यह एक ही धर्म्म अणु से सूक्ष्म और महास्थूल स्पर्शवान् क्रियावान् और अनित्य है उस अवयवी से व्यवहार किया जाता है तो हम कह सकते हैं कि जो अवस्तु अर्थात् अभाव है वह अतद्रूप प्रतिष्ठ है और मिथ्या है अब उसका विचार भी मिथ्या हुआ क्योंकि उस ज्ञान का कोई विषय नहीं है और जो ध्येय पदार्थ दृश्य हैं व सब अवयवी हैं इसलिए स्थूल पदार्थ भी निर्वितर्क समापत्ति के विषय हैं* ॥ ४३ ॥

भो० वृ०—शब्दार्थस्मृतिप्रविलये सति प्रत्युदितस्पष्टग्राह्याकारप्रतिभासितया न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन स्वरूपशून्येव निर्वितर्का समापत्तिः ॥ ४३ ॥ भेदान्तरं प्रतिपादयितुमाह।

भा० वृ० का भा०—शब्द अर्थ और स्मृति के लय हो जानेपर ग्राह्याकार जब वृत्ति हो जाती है त्रिपुटिका पृथक् ज्ञान नष्ट हो ज्ञान में स्वरूप शून्य के समान जो समाधि होती है उसे निर्वितर्क समाधि कहते ॥ ४३ ॥ अगले सूत्र में दूसरा प्रकार कहा गया है।

---

* यह सब तर्क पदार्थों पर दृश्य हैं।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

सू० का पदार्थ—(एतया) इससे (एव) ही (सविचारा) विचारासहित (निर्विचार) विचाररहित (सूक्ष्मविषया) सूक्ष्म विषय वाली समापत्ति (व्याख्याता) वर्णित की गई ॥ ४४ ॥

सू० का भावार्थ—सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति के वर्णन करने से ही सविचार, निर्विचार स्थूलविषय, और सूक्ष्मविषय समापत्तियों का विषय भी समझना उचित है ॥ ४४ ॥

भाष्य—तत्र भूतसूक्ष्मकेष्वभिव्यक्तधर्म्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते । तत्राप्येकबुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालंबनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते । या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्म्मानुपातिषु सर्वधर्म्मात्मकेषु समापत्तिः निर्विचारेत्युच्यते । एवं स्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्मे तेनैव स्वरूपेणाऽऽलंबनीभूतमेव समाधिप्रज्ञा स्वरूपमुपरंजयति प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते । तत्रग्रहद्वस्तु विषया सवितर्का निर्वितर्का च, सूक्ष्मविषया सविचारा च एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति ॥ ४४ ॥

भा० का प०—प्रकट हैं धर्म जिनके उन सूक्ष्मभूतों में जो देश-

काल, निमित्त और अनुभव से संयुक्त हैं उनमें अथवा जिनका देशकाल निमित्त से अनुभव किया जाता है उनमें जो समाधि होती है वह सविचार कहाती है इस सविचार समाधि में भी निर्मल बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य प्रत्यक्ष धर्मयुक्त सूक्ष्म भूत बुद्धि का आश्रय सविचार समाधिस्थ बुद्धि में प्राप्त होता है और जो (सर्वथा) सब प्रकार के सब ओर से प्रत्यक्ष अव्यपदेश्य अर्थात् मुख्य धर्म्म वाले पदार्थों में सर्व धर्म्म अर्थात् गुणों से रहित और सब गुण युक्त जो पदार्थ हैं उनमें जो समाधि है वह निर्विचार कहाती है (एवम्) इस प्रकार के ही उक्त लक्षण वाले भूत सूक्ष्म हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो स्वरूप के आश्रय से समाधि होती है वह सवितर्क समाधि प्रज्ञा के स्वरूप पर अपना प्रभाव डालती है। जो समाधि बुद्धिस्वरूपशून्य अर्थमात्र जब होती है तब निर्विचार कहाती है अथवा दूसरा लक्षण इसका यह है स्थूलालम्बनवाली समाधि सवितर्क एवं निर्वितर्क भी तथा सूक्ष्माधार वाली सविचार एवं निर्विचार भी कहलाती है। इन दोनों में एक ही निर्वितर्क समाधि से विकल्प की हानि कही गई है ॥ ४४ ॥

भा० का भा०—सूक्ष्म भूतों के आश्रय देश काल और निमित्त से संयुक्त जो समाधि होती है उसे सविचार और सर्व प्रकार से शान्त गुण वाले ईश्वर के आश्रय से समाधि की जाती है वह निर्विचार कहाती है अथवा जो किसी आलम्ब से समाधि होती है वह सविचार और जो आलम्बन को त्याग कर अर्थमात्र के चिन्तन से समाधि होती है वह निर्विचार कहाती है अथवा स्थूल विषय वाली सविचार और सूक्ष्म विषय वाली निर्विचार कही जाती है इस प्रकार से जिसमें संकल्प का नाश हो जाय वह निर्विकल्प समाधि कहलाती है ॥ ४४ ॥

भो० वृ०—एतयैव सवितर्कयानिर्वितर्कया च समापत्त्या सवि

चारा निर्विचारा च व्याख्याता कीदृशी सूक्ष्मविषया सूक्ष्मस्तन्मात्रेन्द्रियादिर्विषयो यस्याः सा तथोक्ता एतेन पूर्वस्याः स्थूलविषयत्वं। प्रतिपादितं भवति। साहि महाभूत लम्बनाशब्दार्थ विषयत्वेन शब्दार्थविकल्पसहित्वेन देशकालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभातियस्या सासविचारा। देशकालधर्मादिरहितो धर्मिमात्रतयसूक्ष्मर्थस्तन्मात्रेन्द्रियरूपः प्रतिभातियस्या सा निर्विचारा॥ ४४॥ अस्या एव सूक्ष्मविषयायाः किं पर्य्यन्तः सूक्ष्मविषय इत्याह।

भो० वृ० का भा०—इस ही सवितर्क और निर्वितर्क समाधि के वर्णन से सविचार और निर्विचार समाधि का वर्णन भी हो गया अर्थात् सूक्ष्मतन्मात्रा (पंचतत्वों के सूक्ष्म गुण) विचारणीय विषय हों जिसके वह निर्विचार और स्थूल पंचभूत विचारणीय विषय हों जिसके वह सविचार ममाधि है, सविचार समाधि महाभूत, और वाह्येन्द्रियों के आश्रय से शब्द अर्थ और ज्ञान की पृथकता में अर्थ और विकल्प के सहित देशकाल और काल के धर्म सहित सूक्ष्म अर्थों का ज्ञान हो जिसमें वह सविचार समाधि है और देश काल के गुणों से रहित तत्वों के सूक्ष्म गुण और सूक्ष्मतन्मात्रा ही जिसमें भान हों उसको निर्विचार समापत्ति कहते हैं॥ ४४॥ इस निविचार समापत्ति के विषय की अवधि कहाँ तक सूक्ष्म है इसका वर्णन अगले सूत्र मे किया गया है।

सूक्ष्मविषयत्वञ्चालिङ्गपर्य्यवसानम्॥ ४५॥

सू० का प०—(सूक्ष्मविषयत्वम्) सूक्ष्म विषयता (च) और (अलिंगपर्य्यवसानम्) चिन्ह रहित पर्य्यन्त है॥ ४५॥

सू० का पदार्थ—सूक्ष्म विषय की अवधि अलिङ्ग पर्यन्त है॥ ४४॥

व्या० भाष—पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः आप्यस्य रसतन्मात्रम्। तैजसस्य रूपतन्मात्रम्। वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्। आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति। तेषामहङ्कारः अस्यापि लिंगमात्रं सूक्ष्मो विषयः लिंगमात्रस्याप्यलिंग सूक्ष्मोविषयः न चालिंगात्परं सूक्ष्ममस्ति नन्वस्ति पुरुषःसूक्ष्म इति सत्यम् यथा लिंगात्परमलिंगस्य सौक्ष्म्यं पुरुषस्य किन्तु लिंगस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति हेतुस्तु भवतीति अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम्।४५

भाष्य का पदार्थ-पृथिवी के अणु का गंध सूक्ष्म विषय है जल के परमाणु का रस अग्नि के परमाणु का रूप वायु के परमाणु का स्पर्श आकाश का शब्द है इन्हीं को भूतों की तन्मात्रा कहते हैं। इन तन्मात्राओं का लिङ्ग अहंकार है इसका भी चिन्ह मात्र सूक्ष्म विषय है चिन्ह मात्र का सूक्ष्म विषय अलिंग कहाता है अलिंग से अधिक कोई सूक्ष्म नहीं है यदि कहो कि पुरुष इससे सूक्ष्म है सो सत्य है जैसे लिंग से परे अलिंग का सूक्ष्म भाव है ऐसे पुरुष का नहीं है किन्तु लिंग का समवायि कारण पुरुष नहीं है हेतु है। प्रधान में (सौक्ष्म्य) सूक्ष्मता अतिशय से रहित कही है अर्थात् इससे सूक्ष्म कोई नहीं है॥ ४५॥

भा० का भा —पृथिवी आदि पंच भूत से इनके अणुसूक्ष्म हैं हैं और अणु से भी गन्धादि तन्मात्रा एवम् इनसे भी इनका भाई और अहंकार से भी चिन्ह मात्र से भी अलिंग सूक्ष्म है और अलिंग से सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं। यदि कहो कि पुरुष है तो पुरुष है जैसे चिन्ह मात्र से अलिंग सूक्ष्म है वैसा नहीं है पुरुष लिंग का समवाय कारण नहीं है किन्तु हेतु है अतएव पुरुष से अतिशय

सूक्ष्म कोई और है ऐसा नहीं कहा जाता है ॥ ४५ ॥

भो० वृ०—सविचारनिर्विचारयोः समापत्तयोर्यत्सूक्ष्मविषयत्व-मुक्तम् तदलिंगपर्य्यवसानं न क्वचिल्लीयते न वा किञ्चित लिंगति गमयतित्यलिंग प्रधाने तत्पर्यन्तंसूक्ष्मविषयत्वम् । तथाहि गुणानां परिणामे चत्वारि पर्वाणि विशिष्टलिगमविशिष्टलिंगं लिंगमात्रम-लिंगं चेति । विशिष्ट लिगं भूतानि, अविशिष्टलिंगं तन्मात्रेन्द्रियाणि लिंगमात्रं बुद्धिः, अलिंगं प्रधानमिति । नातः परं सूक्ष्मस्तीत्युक्तं भवति ॥ ४५ ॥ एतेषां समापत्तीनां प्रकृते प्रयोजनमाह ।

भाज० वृ० का भा०—सविचार निर्विचार समापत्तियों के जो विषय वर्णन किये उन विषयों की जो सूक्ष्मता कही है वह अलिंग तक सूक्ष्मता है अर्थात् सूक्ष्मता की अवधि वहाँ तक है कि जिसे अलिंग या प्रधान कहते हैं । लिंग न किसी में लय होता है और न किसी मे जाकर मिलता है । गुणों के हेर फेर में ४ भेद है, एक विशिष्टलिंग, दूसरा अविष्टलिंग, तीसरा लिंगमात्र और चौथा अलिंग । विशिष्ट स्थूलभूत और इन्द्रियाँ हैं अविशिष्टलिंग तन्मात्रा और अन्तःकरण है, लिंगमात्र बुद्धि है । अलिंग प्रधान है, इस अलिंग से सूक्ष्मतम कोई वस्तु नहीं है ॥४५॥ इन सब समापत्तियों का योग साधन में जो प्रयोजन है उसे अगले सूत्र मे कहा है ।

ता एव सवीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

सू० का पदार्थ—(ताएव) वोही (सवीजस्समाधि) बीज सहित समाधि ॥ ४६ ॥

सूत्र का भावार्थ—वो ही ४ प्रकार की समाधि सवीज समाधि कहाती है ॥ ४३ ॥

व्या० भाष्य—ताश्चतस्रः समापत्तयो वहिर्वस्तु बीजा-

इति समाधिरपि सबीजः तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति ॥ ४६ ॥

भा० का पदार्थ—ये चारो समाधियां बहिर्वस्तुबीज समाधि कहलाती हैं इनमें स्थूल अर्थ में सवितर्क और निर्वितर्क सूक्ष्म अर्थ में सविचार और निर्विचार ये ४ प्रकार की समाधि कही गई हैं ॥ ४२ ॥

भा० का भावा०—आगे कही ४ प्रकार की समाधि बीज सहित कहाती है इनमें स्थूल अर्थ में सवितर्क और सूक्ष्म अर्थ में सविचार निर्विचार ये ही समाधि सबीज कहाती हैं ॥ ४६ ॥

भो० सू०—ता यथोक्तलक्षणाः समापत्तयः सह बीजेनालम्बनेन वर्तत इति सबीजः सम्प्रज्ञात समाधिरित्युच्यते, सर्वासां सालम्बनत्वात् ॥ ४२ ॥ अथैतरासां समापत्तीनां निर्विचारफलत्वात् निर्विचारायाः फलमाह—

भो० सू० का भा०—यही सवितर्क निर्वितर्क सविचार और निर्विचार समापत्ति ही सबीज समाधि कहाती हैं क्योंकि यह सब समापत्ति बिना आलम्ब के नहीं होती हैं ॥ ४६ ॥ अब समापत्तियों का फल निर्विचार समापत्ति के आधीन होने से निर्विचार समापत्ति का फल अगले सूत्र में कहते हैं।

निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद ॥ ४७ ॥

सू० का पदार्थ—(निर्विचारवैशारद्ये) निर्विचार समाधि के विशारद भाव में (अध्यात्मप्रसादः) अध्यात्मिक प्रसाद होता है ॥ ४७ ॥

सूत्र का भा०—योगी जब निर्विचार समाधिस्थ होता है तब उसे आगे कहा हुआ अध्यात्मप्रसाद होता है ॥ ४७ ॥

व्या० भाष्य-अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतःस्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम् यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवित्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थं विषयः क्रमाननुरोधि स्फुटप्रज्ञालोकः । तथा चोक्तम्प्रज्ञा प्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान । भूमिष्ठानिवे शैलस्थः सर्वान प्राज्ञोऽनु-पश्यति ॥ ४७ ॥

भा० का पदार्थ—अशुद्धतारूप आवरण के मल से छूटे हुए प्रकाशरूप बुद्धि सत्व को रज और तमोगुण से जो जीता न गया हो स्वच्छ स्थित का प्रवाह वैशारद्य कहाता है। जब निर्विचार समाधि का ये पूर्वोक्त वैशारद्य वा निपुणता होती है तब योगी को भूतार्थ विषय का अनवरोधी साक्षात् बुद्धि के प्रकाश से युक्त अध्यात्म प्रसाद होता है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है-बुद्धि की अटार पर बैठ कर शोक रहित शोक युक्त जीवों को पहाड़ पर चढ़े जैसे भूमि में स्थित पुरुषों को सब को बुद्धिमान देखता है ॥ ४७ ॥

भा० का भावार्थ—अशुद्धिरूप ढकने के मल से रहित प्रकाश रूप, रजोगुण और तमोगुण के ज्ञान से शून्य, स्वच्छ स्थिति-प्रवाह को वैशारद्य कहते हैं। जब निर्विचार समाधि से उक्त वैशा-रद्य होता है तब योगी को आत्मिक आनन्द प्राप्त होता है अर्थात् तब सब भूतों को क्रम के अनुकूल जानने की बुद्धि का प्रकाश होता है ऐसा अन्यत्र भी लिखा है प्रज्ञाप्रासाद को प्राप्त शोक

रहित होकर जैसे पहाड़ पर चढ़ा हुआ मनुष्य सब भूमि में स्थित पुरुषों का देखता है वैसे सोचते हुए जीवों को योगी देखता है ॥ ४७ ॥

भा० सू०—निर्विचारत्वं व्याख्यातम् वैशारद्यं नैर्मल्यम् सवितर्कात् स्थूलविषयात्समाधेः निर्वितर्कोऽपि प्रधानम्। ततोऽपि सूक्ष्मविषयायाः सविचारायाः। ततोऽपि निर्विकल्परूपायाः निर्विचारायाः तस्यास्तु निर्विचारायाः प्रकृष्टाभ्यासात्प्रकारद्वैशारद्ये निर्मल्ये सत्यध्यात्मप्रसादः समुपजायते। चित्त क्लेशवासनारहितं स्थितं प्रवाहयोग्यं भवति एतदेव चित्तस्य वैशारद्यं यत् स्थितौ दार्ढ्यम् ॥४७॥ तस्मिन् सति किं भवतीत्याह।

भो० सू० का भा०—निर्विचार का वर्णन हो चुका विशारदता या वैशारद्य का अर्थ निर्मलता है स्थूल विषयवाली सवितर्क समापत्ति की अपेक्षा निर्वितर्क समापत्ति की प्रधानता है, उससे भी सूक्ष्म विषय वाली सविचार समापत्ति प्रधान है और उससे निर्विचार समापत्ति प्रधान या उत्तम है उस निर्विकल्प समापत्ति के अभ्यास से निर्मलता प्राप्त होने पर अध्यात्मप्रसाद उत्पन्न होता है अर्थात् तब चित्त क्लेशों की वासना से रहित स्थिर होने के योग्य होता है और चित्त की यही निर्मलता है कि वह स्थिति में दृढ़ भाव को प्राप्त हो जाय ॥ ४७ ॥ अध्यात्मप्रसाद के क्या लाभ हैं, उसका अगले सूत्र में वर्णन किया है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

सू० का पदार्थ—(ऋतम्भरा) ऋतम्भरा (तत्र) उसमें (प्रज्ञा) बुद्धि ॥ ४८ ॥

सूत्र का भावार्थ—उस समाधि में जो बुद्धि होती है उसे ऋतम्भरा कहते हैं ॥ ४८ ॥

व्या० भाष्य—तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति अन्वर्था च सा, सत्यमेव-विभर्ति न च तत्र विपर्य्यासज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति तथाचोक्तम् —आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञाँ लभते ज्ञानयोगमुत्तमम् ॥ ४८ ॥

भाष्य का पदार्थ—उसमें स्थिरचित्त की जो बुद्धि उत्पन्न होती हैं उसकी ऋतम्भरा सञ्ज्ञा है । यथार्थनाम्नी वह सत्य ही को संग्रह करती है उसमें विपरीत ज्ञान की गन्ध नहीं होती ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है । वेदवचन से, अनुमान से और ध्यान के रस से ३ प्रकार बुद्धि की रचना करके उत्तमज्ञान को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

भाषा का भावार्थ—उस निर्विचार समाधि से स्थिर चित्त की जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसे ऋतम्भरा कहते हैं अर्थात वह (ऋत) सत्य ही को संग्रह करती है उसके होने मे विपरीत ज्ञान की गन्ध मात्र भी नहीं रहती, जैसे अन्यत्र भी लिखा है "शिष्ट वचन से, अनुमान से और ध्यान के अभ्यास के रस से ३ प्रकार की बुद्धि रचना करता हुआ योगी उत्तम ज्ञान को प्राप्त होता है" ॥ ४८ ॥

भो० वृ०—ऋतं सत्य विभर्त्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाऽच्छाद्यते सर्तम्भरा प्रज्ञातस्मिन्सति भवतीत्यर्थः । तस्माच्च प्रज्ञालोकात् सर्वं यथावत् पश्यन् योगी प्रकृष्टं योगं प्राप्नोति ॥ ४८ ॥ अस्याः प्रज्ञान्तराद्वैलक्षण्यमाह ।

भो० वृ० का भा०—उस अध्यात्मप्रसार के प्राप्त होने पर बुद्धि सत्य से पूर्ण हो जाती है फिर बुद्धि किसी विपर्य्यय ज्ञान से आच्छादित नहीं होती, उस बुद्धि के प्रकाश में योगी सबको यथावत् रूप से देखता हुआ योग को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥ उस ऋतम्भरा प्रज्ञा की विलक्षणा अगले सूत्र में कही है ।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।४६

सू० का पदा० (श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्) जो बुद्धि श्रवण और अनुमान से है उस से (अन्यविषया) भिन्न विषय वाली बुद्धि (विशेषार्थत्वात्) विशेषार्थ अर्थात् समाधि विषयिणी होती है ॥ ४६ ॥

सूत्र का भावार्थ—समाधिज बुद्धि श्रुत और अनुमित बुद्धि से विलक्षण होती है ॥ ४६ ॥

श्रुतमागमविज्ञानम् तत् सामान्यविषयम् नह्यागमेन शक्यः विशेषोऽभिधातुं कस्मात् नहि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति । तथानुमानं सामान्यविषयमेव । यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिः यत्राप्राप्तिः तत्र न भवति गतिरित्युक्तम् । अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः तस्मात् श्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तिनो । चास्य सूक्ष्म व्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति । न चास्य विशेषस्याप्रमाणि कस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा तस्माच्छ्रुतानुमान-प्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥ ४६ ॥ समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते ।

सूत्र का पदार्थ—जो श्रवण किया हुआ शब्द ज्ञान है वह सामान्यविषय है शब्द प्रमाण से विशेष ज्ञान नहीं हो सकता,

क्योंकि विशेष से शब्द का संकेत नहीं किया गया है। वैसे ही अनुमान भी समान्य विषय का ही बोधक है जिसमें प्राप्ति होती है उसमें प्रवृत्ति होती है जिसमे कुछ प्राप्ति नहीं होती उसमें प्रवृत्ति नहीं होती यह पूर्व ही कहा है। और अनुमान से देश का सामान्य ज्ञान होता है अर्थात् अनुमान से पूर्ण और यथार्थ ज्ञान नहीं होता इस हेतु से श्रुत विषय और अनुमित विषय कुछ विशेष नहीं हैं और न जो वस्तु अत्यन्त सूक्ष्म हैं वा किसी दूसरी वस्तु की आड मे है और जो अत्यन्त दूर स्थित वस्तु हैं इनका यथार्थ ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष से प्रतीत हो सकता है न इस विशेष वस्तु का जिसमें कि प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है अभाव ही है किन्तु वह समाधिनिष्ठ बुद्धि से ग्रहण करने योग्य है चाहे वह विशेष सूक्ष्म तत्वों के मध्य में हो वा पुरुष में हो इसलिये शब्द प्रमाण जन्म बुद्धि और अनुमान बुद्धि से भिन्न ही वह बुद्धि है क्योंकि वह विशेष को सिद्ध करने वाली है ॥ ४९ ॥ समाधि बुद्धि के प्राप्त होने से योगों के बुद्धि द्वारा उत्पन्न हुए नये २ संस्कार होते हैं।

भा० का भावा०—जो सुन कर शब्द प्रमाण से ज्ञान होता है वह सामान्य विषय है क्योंकि शब्द से संकेतों का ज्ञान होता है पर सांकेतिक पदार्थ के प्रत्येक गुण और कर्म्मादि का ज्ञान नहीं हो सकता ऐसे ही अनुमान भी सामान्य विषय है अर्थात् अनुमान प्रमाण से किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता क्योंकि अनुमान वस्तु के एक देश को देख कर किया जाता है जैसे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है परन्तु अनुमान से यह नहीं जान सकते कि वह अग्नि लकडी की है वा कण्डे की है अथवा पत्थर कोयले की है। जहां शब्द और अनुमान की गति है वहीं तक प्राप्ति भी होती है अर्थात् जहां शब्द और अनुमान प्रमाण

नहीं जा सकते उस वस्तु का ज्ञान भी उनके द्वारा नहीं हो सकता है। शब्द प्रमाण से और अनुमान प्रमाण से उन ही वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है जिनका लौकिक प्रत्यक्ष होता है अर्थात् जिन वस्तुओं का इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता उन- सूक्ष्म व्यवहित और दूरस्थित वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमाण से नहीं होता है किन्तु उन सूक्ष्म व्यवहित और दूरस्थित वस्तुओं का अभाव भी नहीं कह सकते क्योंकि समाधिगत बुद्धि के द्वारा उन सब का ज्ञान होता है इस कारण समाधिगत बुद्धि और अनुमानजन्य बुद्धि से भिन्न और विलक्षण है और उसका विषय भी जुदा है ॥ ४९ ॥ योगी को जब ऋतम्भरा प्रज्ञा (बुद्धि) प्राप्त होती है तब उसमें नये २ संस्कार उत्पन्न होते हैं।

भो० ५०—श्रुतमागमज्ञानम् अनुमानमुक्तलक्षणम् ताभ्यां या जायते प्रज्ञा सा सामान्यविषया। न हि शब्दलिङ्गयोरिन्द्रियवद्विशेषप्रतिपत्तौ सामर्थ्यम्। इयं पुनर्निर्विचारवैशारद्यसमुद्भवा प्रज्ञा ताभ्यां विलक्षणा विशेषविषयत्वात् अस्यां हि प्रज्ञायां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानामपि विशेषः स्फुटेनैव रूपेण भासते। अतस्तस्यामेव योगिना परः प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्युपदिष्टं भवति ॥ ४९ ॥

अस्याः प्रज्ञायाः फलमाह—

भो० ५० का भाष्य—शब्द इन्द्रियों के समान किसी वस्तु के विशेष ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता किन्तु यह निर्विचार वैशारद्य से उत्पन्न हुई ऋतम्भरा बुद्धि शब्द प्रमाणजन्य बुद्धि और अनुमान प्रमाणजन्य बुद्धि से विलक्षण, क्योंकि इससे विशेषज्ञान होता है इस बुद्धिसे सूक्ष्म व्यवहित आवृत और दूरस्थित पदार्थ भी स्पष्टरूप से भास होते हैं इस कारण योगी को चाहिये कि इस ऋतम्भरा बुद्धि को प्राप्त करने में परम उद्योग करे ॥ ४९ ॥ अगले

सूत्र में ऋतम्भरा प्रज्ञा का फल कहा है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

सू० का पदा०—(तज्जः) उक्त समाधि से उत्पन्न हुआ जो संस्कार (अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी) और संस्कारों का दूर करने वाला होता है ॥ ५० ॥

सू० का भावार्थ—समाधि से उत्पन्न हुये संस्कार से और संस्कार नष्ट हो जाते हैं ॥ ५० ॥

व्या० भ०-समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो। व्युत्थान-संस्काराशयंबाधते व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तप्रभवा प्रत्या न भवन्ति। प्रत्ययनिरोधे समाधिरूपतिष्ठते। ततः समाधिजा प्रज्ञा ततः प्रज्ञाकृताः सस्कारा इति नवो नवं संस्काराशयो जायते। ततः प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति। कथमसौ संस्कारातिशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति नते प्रज्ञाकृताः संस्कारा क्लेशक्षये हेतुत्वात् चित्मधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति। चित्तं हि ते स्वकार्यादवसायन्ति। ख्यातिपर्य्यवसानं हि चित्तचेष्टितमित्ति ॥ ५० ॥ किञ्चास्य भवति—

भाष्य का पदार्थ—समाधिस्थ बुद्धि के द्वारा उत्पन्न हुआ संस्कार लौकिक संस्कारों के नाश होने से उनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान भी नहीं होते सासारिक ज्ञान के नष्ट होने से समाधि अवस्था प्राप्त होती है, उससे समाधि बुद्धि उत्पन्न होती है, उसके पश्चात् समाधि विषयणी बुद्धि के संस्कार होते हैं, इस रीति से नूतन सस्कार उत्पन्न होते हैं उन सस्कारों से पुनः बुद्धि और उस

बुद्धि से पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं। क्या संस्कारों का चक्र चित्त को साधिकार विषययुक्त नहीं करेगा ? वे बुद्धिकृत संस्कार विषययुक्त नहीं करेंगे क्योंकि वे संस्कार अविद्यादि क्लेशों का क्षय करने के हेतु हैं क्योंकि चित्त को ये संस्कार उसके कार्य से हटाते हैं विचार पर्यन्त ही चित्त की क्रिया है ॥ ५० ॥

भा० का भावार्थ—समाधिज संस्कार विषय संस्कारों को नाश कर देता है जब विषय के संस्कार नष्ट हो जाते हैं तब विषय का ज्ञान भी विनष्ट हो जाता है जब विषयज्ञान नाश को प्राप्त हो जाता है तब समाधि विषय की बुद्धि उत्पन्न होती है पश्चात् समाधिज बुद्धि से संस्कार होते हैं अब यहाँ यह शंका होती है कि बुद्धि से संस्कार और संस्कार से फिर बुद्धि होती रहेगी इस चक्र परिवर्तन से चित्त कभी स्थिर न होगा। इसका यह समाधान है कि समाधिज बुद्धि और संस्कार से चित्त चञ्चल नहीं होता क्योंकि यह बुद्धि और संस्कार अविद्यादि क्लेशों के नाशक हैं व योगी के चित्त को समाधि का अधिकारी बनाते हैं और जो चित्त की चञ्चलता है उसे भी नष्ट कर देते हैं ॥ ५० ॥

भो० वृ०—तया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः सोऽन्यान् व्युत्थानजान्समाधिजांश्च संस्कारान् प्रतिबध्नाति स्वकार्यकरणाक्षमान् करोतीत्यर्थः। यतस्तत्त्वरूपतयाऽनया जनिताः संस्काराः बलवत्त्वादतत्त्वरूपप्रज्ञाजनितान् संस्कारान् बाधितुं शक्नुवन्ति। अतस्तामेव प्रज्ञामभ्यसेदित्युक्तं भवति ॥ ५० ॥

एवं सम्प्रज्ञातं समाधिमभिधायासम्प्रज्ञातं वक्तुमाह।

भो० वृ० का भाष्य—ऋतम्भरा बुद्धि से उत्पन्न हुआ संस्कार व्युत्थान चित्त के संस्कारों को समाधि से उत्पन्न हुए संस्कारों को रोकता है अर्थात् उनको कार्य करने के अयोग्य बना देता है क्योंकि यथार्थरूप से उत्पन्न हुए संस्कार अयथार्थ बुद्धि से उत्पन्न

हुए संस्कारों को नष्ट करने में समर्थ होते हैं इस कारण योगी को चाहिये कि ऋतम्भरा प्रज्ञा का ही अभ्यास करें ॥ ५० ॥

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजसमाधिः ।५१।

सू० का पदा०—(तस्यापि) उस अन्य संस्कार के भी (निरोधे) निरोध होने पर (सर्वनिरोधात्) सबके निरोध होने से (निर्बीजः समाधिः) निर्विकल्प समाधि होती है ॥ ५१ ॥

सू० का भावा०—जब समाधि के द्वारा चित्त का निरोध हो जाता है तब निर्विकल्प समाधि होती है ॥ ५१ ॥

व्या० भा०—स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानामपि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति । कस्मान्निरोधजः संस्कारः समाधिजान् संस्कारान्बाधतीति । निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम् व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृतावस्थितायां प्रविलीयते । तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याधिकारविरोधिनो न स्थितिहेतवो भवन्तीति । यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्त्तते तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्र प्रतिष्ठोऽतः शुद्धोः केवलो मुक्त इत्युच्यते ॥ ५१ ॥

भा० का पदा०—वह संस्कार केवल समाधिज बुद्धि का विरोधी नहीं हैं समाधि बुद्धि से उत्पन्न हुए संस्कारों का भी प्रतिबन्ध करने वाला होता है। क्योंकि निरोध से उत्पन्न हुए संस्कारों

को नाश करता है निरोध की आ स्थिति उसके काल के क्रम से निरुद्ध किये हुए चित्त के संस्कारों की विद्यमानता अनुमान की जाती है व्युत्थान निरोध और समाधि से उत्पन्न हुए कैवल्य अर्थात् मोक्षभागी संस्कारों से चित्त अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है इस कारण से ये संस्कार चित्त के अधिकार के विरोध द्वारा स्थिति के हेतु होते हैं जिससे समाप्त हुए अधिकारों से चित्त निवृत्त हो जाता है जीवात्मा आत्मस्वरूप में स्थिर होता है शुद्ध, केवल और मुक्त कहाता है ॥ ५१ ॥

भा० का भाव०—उक्त निरोधज संस्कार केवल समाधिज बुद्धि ही का प्रतिबन्धक नहीं है किन्तु समाधिज संस्कारों का भी प्रतिबन्धी है, क्योंकि निरोध से उत्पन्न हुए संस्कार समाधिज संस्कारों के बाधक होते हैं, जिस समय चित्त और वैषयिक संस्कारों का निरोध होता है उस समय चित्त की विद्यमानता केवल अनुमान से जानी जाती है और चित्त मोक्षभागी समाधि के संस्कार चित्त अधिकार को नाश करके चित्तस्थिति के हेतु होते हैं क्योंकि कैवल्यभागीय संस्कारों से चित्त निवृत्त हो जाता है तब पुरुष आत्मस्थित अर्थात् ब्रह्मचिन्तन में मग्न होकर मुक्त कहाता है ॥ ५१ ॥

यागस्योद्देशनिर्देशो तदर्थं वृत्ति लक्षणम्। योगोपायाः प्रभेदाश्च पादोऽस्मिन्नुपवर्णिताः ॥

योग का उद्देश और निर्देश उसके लिये वृत्ति का लक्षण, योग के उपाय और भेद इस साधनपाद में वर्णित हुए हैं ॥

भो० वृ०—तस्यापि सम्प्रज्ञातस्य निरोधे प्रविलये सति सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयमापाद्यासंस्कारमात्राद्वृत्तिरुदेति तस्यास्तस्या नेति नेतीति केवलं यस्मिन् समाधिर्निर्बीजः समाधिराविर्भवति। यस्मिन् सति पुरुषः स्वरूपनिष्ठः शुद्धो भवति ॥ ५१ ॥

तदत्राधिकृतस्य योगस्य लक्षणं चित्तवृत्तिनिरोधपदानाच व्याख्यानमभ्यासवैराग्यलक्षणं तस्योपायद्वयस्य स्वरूप भेदञ्चाभिधाय सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन योगस्य मुख्यामुख्यभेदमुक्त्वा योगाभ्यासप्रदर्शनपूर्वकं विस्तरेणोपायान् प्रदर्श्य सुगमोपायप्रदर्शन पराये ईश्वरस्य स्वरूपप्रमाणप्रभाववाचकोपासनानि तत्फलानि च निर्णीय चित्तविक्षेपास्तत सहभुवश्च दुःखादीन् विस्तरेण च तत्प्रतिषेधोपायानेकतत्त्वाभ्यासमैत्र्यादिप्राणायामादीन सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातपूर्वाङ्गभूतविषयवति प्रवृत्तिरित्यादीनाख्यायोपसंहारद्वारेण च समापत्तिसलक्षणाः सफलाः सहितो स्वस्वविषयसहिता चोक्त्वा सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोरुपसंहारमभिधाय सबीजपूर्वको निर्बीजः समाधिरभिहित इति व्याकृतो योगपादः । ॐ तत्सत ।

भो० वृ० भा०—सम्प्रज्ञात के निरोध अर्थात् लय होने पर चित्त की सब वृत्तियाँ अपने २ कारणो में लय हो जायँगी तब संस्कार मात्र में योगी की दृष्टि विषयों की ओर नहीं जायगी तब निर्बीज समाधि की प्राप्ति होगी और उसके प्राप्त होने से योगी की आत्मा शुद्ध और निर्मल होती है ॥ ५१ ॥

इस साधन पाद में योगशास्त्र प्रतिपाद्य योग के लक्षण चित्तवृत्ति का निरोध का व्याख्यान अभ्यास और वैराग्य के भेद तथा लक्षणों का वर्णन करके सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से प्रधान योग और अप्रधान योगों का प्रतिपादन भी कर चुके । इसके अतिरिक्त योगाभ्यास की रीति कहके उसके उपायों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया फिर योगप्राप्ति का सुगम उपाय ईश्वर भक्ति और ईश्वर के प्रभाव तथा लक्षणादि, उसकी उपासना का फल चित्तविक्षेप (योग के विघ्न और विक्षेप के साथ उत्पन्न होने वाले दुःखादि) का वर्णन भी विस्तार पूर्वक किया उन विघ्नों को दूर करने के उपाय एक तत्त्वाभ्यास, मैत्री और मुदिता आदि का

वर्णन करके प्राणायामादिक सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योगी की अणुस्वरूप ज्योतिष्मति और दिव्य विषयवती आदि प्रवृत्तियों का भी वर्णन किया। फिर पाद समाप्ति के समय समापत्ति उसके स्वरूप और फल एवम् सबीज और निर्बीज समाधियों का वर्णन और फल भी इस प्रथमपाद में ही लिखा है।

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे समाधिपादः प्रथमः ॥ १ ॥

तत्र द्वितीयः साधन पादः ।

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥

सू० का पदार्थ—(तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि) स्वधर्मानुष्ठान वेदादि सत्यशास्त्रों का अभ्यास ईश्वर की भक्तिविशेष (क्रियायोगः) क्रियायोग कहलाता है।

सू० का भा०—तप स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति को क्रियायोग कहते हैं ॥ १ ॥

व्यास भाष्य—उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते। नातपस्विनो योगः सिध्यति अनादिकर्म्मक्लेशवासनाचित्राप्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभे-

दमापद्यते इति तपसउपादानं । तच्च चित्तप्रसादनमबाध-मानमनेनासेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययन वा ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फल संन्यासो वा ॥ १ ॥

भा० का पदार्थ—सावधान चित्तवाले को योग उपदेश किया गया अब किस प्रकार से चचल चित्तवाला योगयुक्त होता है यह आरम्भ किया जाता है तपश्चर्या रहित मनुष्य को योग सिद्ध नहीं होता है । अनादि कर्म और अविद्यादि क्लेशों की वासना में विचित्र विषयों को उठाने वाला विषय जाल और मलिनता बिना तप के खण्डन नहीं होती यह तप का कारण है और वह तप चित्त को प्रसन्न करने वाला अखण्डनीय है इस कारण से भली प्रकार से धारण करने योग्य है यह योगी समझता है । स्वाध्याय का अर्थ है कि ओम् आदि पवित्र मन्त्रों को जपना वा जिन शास्त्रों में मोक्ष का उपदेश है उन शास्त्रों के पढने को स्वाध्याय कहते हैं ईश्वरभक्ति का अर्थ है कि सब क्रियाओं को परमगुरु परमेश्वर में अर्पण करना अथवा कर्मफलों का त्याग ॥ १ ॥

भा० का भा०—प्रथमपाद में सावधान अर्थात् स्थिर चित्त वाले के वास्ते संप्रज्ञात आदि योगों का वर्णन कर चुके किन्तु अस्थिर चित्तवाले को योग कैसे सिद्ध होता है अब इस विषय का आरंभ किया जाता है, तपश्चर्यारहित पुरुष को योगसिद्ध नहीं होता क्योंकि अनादि कर्म और अविद्यादि क्लेशों की वासना से उत्पन्न हुआ विषयजाल तथा चित्त की मलीनता बिना तपके कभी नष्ट नहीं होती बस तप करने का यही उपादान कारण है अर्थात् इसी अभिप्राय से तप किया जाता है तप से चित्त प्रसन्न होता है इसलिये तप रुचि पूर्वक ग्रहण करने योग्य है प्रणव आदि पवित्र

यथोक्त मन्त्रों के जप को अथवा मोक्षोपदेशक शास्त्रों के अध्ययन को स्वाध्याय और सुकर्मों को ईश्वरार्पण करने अथवा उनके फल त्याग को ईश्वरप्रणिधान कहते हैं इन तप आदि के करने से अस्थिरचित्त वाले को भी क्रम से योग सिद्ध हो जाता है ॥ १ ॥

१ सू०—प्रथम पाद में समाधि का स्वरूप निरूपण करके अब उसके प्राप्ति के उपाय अर्थात् साधनों का वर्णन करना आरम्भ करते हैं यद्यपि सूत्रकार और भाष्यकार ने ज्ञानयोग पृथक् रूप में नहीं लिखा है तथापि इस सूत्र से अर्थापत्तिप्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि ईश्वर प्रणिधानादि क्रियायोग और ईश्वर ध्यान में लय रहना ज्ञानयोग कहाता है ऐसा ही गीता में लिखा है 'ज्ञान-योगेनसांख्यानां कर्मयोगेनयोगिनाम्' अब यहां पर यह सन्देह होता है कि साधनपाद में केवल योग के साधनों का ही वर्णन होना चाहिये योग के भेदों का नहीं और क्रियायोग का भेद विक्षेप जान पड़ता है इसका उत्तर यह है कि अगले सूत्रार्थ से स्पष्ट जान पड़ता है कि क्रियायोग से समाधि में प्राप्ति होती है और क्लेश दूर होते हैं।

उद्देशं प्रथमे पादे समाहितचित्तस्य सोपायं योगमभिधाय व्युत्थितचित्तस्यापि कथमुपायाभ्यासपूर्वको योगः स्थास्नुत्वमुप यातीति तत्साधनानुष्ठानं प्रतिपादयमाह क्रियायोगमाह।

भा० वृ०—तपः शास्त्रान्तरोपदिष्टं कृच्छ्रचान्द्रायणादि। स्वाध्यायः। प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपः। ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां तस्मिन् परमगुरौ फलनिरपेक्षतया समर्पणम्। एतानि क्रियायोग इत्युच्यते ॥ १ ॥ स किमर्थमित्याह।

भो० वृ० का भा०—इस प्रकार से पहिले पाद में सावधान चित्तवाले योगी के निमित्त उपाय सहित योग का वर्णन करके अब इस दूसरे पाद में चञ्चल चित्तवाले के 'चित्त को स्थिर

करनेवाले क्रियायोग का वर्णन किया जाता है।

तप चान्द्रायणादि (प्रायश्चित्त) स्वाध्याय वेद मन्त्रों के आरम्भ में ओ३म् का योग करके जप करने को कहते हैं, ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ यह है कि परमगुरु परमेश्वर मे सब क्रियाओं के फल को अर्पण कर देना, इनको ही क्रियायोग कहते हैं ॥ १ ॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

सू० का पदार्थ—वह क्रियायोग (समाधि भावनार्थः) समाधि के सिद्ध और (क्लेशतनूकरणार्थश्च) वक्ष्यमाण क्लेशों के न्यून करने के लिये है।

सू० का भा०—उक्त क्रियायोग समाधि के सिद्ध और क्लेशों के न्यून करने के लिये होता है ॥ २ ॥

भाष्य—सहि क्रियायोगः आसेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च तनू करोति। पतनूकृतान् क्लेशान् प्रसंख्यानाग्नि दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति। तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्ट सत्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति अथ क्लेशाः के कियन्तो वेति ॥ २ ॥

भा० का पदार्थ—क्योंकि वह कर्मयोग उत्तम रीति से धारण किया जाने से समाधिको प्रकाशित वा सिद्ध करता है और क्लेशों को न्यून करता है न्यून किये हुए अविद्यादि क्लेशों को योगाग्नि से जले हुए बीज के समान उत्पन्न होने के अयोग्य कर देगा उनके (तनुकर्णाते) सूक्ष्म करने से फिर क्लेशो से स्पर्श रहित बुद्धि वा पुरुष इन दोनों में से एक की ख्याति अर्थात विचार करता है

सूक्ष्म विषयों को विचारने वाली बुद्धि, समाप्त हो गये हैं विषय में अधिकार जिसके पुनः क्लेशों को उत्पन्न नहीं करेगी ।

भो० का भावा०—सूत्रोक्त क्रियायोग जब अच्छे प्रकार से धारण किया जाता है तब यह समाधि को सिद्ध करता है और क्लेशों का दूर करता है अर्थात् योगाग्नि से क्लेशों के बीज को जला कर फिर उन्हें उत्पन्न होने के योग्य नहीं रखता, जब योगी के क्लेश नष्ट हो जाते हैं तब उसकी बुद्धि सूक्ष्म विचार करने योग्य होती है और फिर क्लेश उत्पन्न नहीं होते । यही क्रियायोग कहाता है ॥ २ ॥

अब अगले सूत्र में यह वर्णन करेंगे कि क्लेश कौन कौन हैं और कितने हैं ॥ २ ॥

भो० वृ०—क्लेशा वक्ष्यमाणास्तेषां तनूकरणं स्वकार्य्यकरणप्रतिबन्धः समाधिरुक्तलक्षणस्तस्य भावना चेतसि पुनः पुनर्निवेशनं सोऽर्थः प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः । एतदुक्तं भवति । एते तपःप्रभृतयोऽभ्यस्यमानाश्चित्तगतान् अविद्यादीन् क्लेशान् शिथिलीकुर्वन्तः समाधेरुपकारकतां भजन्ते तस्मात् प्रथमं क्रियायोगविधानपरेण योगिना भवितव्यमित्युपदिष्टम् ॥ २ ॥ क्लेशतनूकरणार्थमित्युक्तं तत्र के क्लेशा इत्याह ।

भो० वृ० का भा०—जिन क्लेशों का आगे वर्णन किया जायगा उनको घटाने के निमित्त अर्थात् क्लेशों, कार्य दुःखादि के कारण कुसंस्कार तथा दुर्वासना को दूर करने के वास्ते उक्त लक्षण की समाधि की भावना अर्थात् वारम्बार चित्त में धारण करने के निमित्त ही क्रियायोग किया जाता है तात्पर्य यह है कि तप आदि के करने से चित्त के अविद्यादि क्लेश शिथिल हो जाते हैं और समाधि में उपकार करते हैं इस कारण योगी को चाहिये कि प्रथम क्रियायोग में तत्पर हो ॥ २ ॥ इस सूत्र में क्लेशों का शिथिल

होना कहा है इस कारण अगले सूत्र मे यह लिखा गया है कि क्लेश किनको कहते हैं।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशः पंचक्लेशाः ।३।

सू० का पदार्थ—(अविद्या) वेत्ति पदार्थानां तत्वस्वरूपं यया स विद्या, जिससे सब पदार्थों का यथार्थ रूप जाना जाय उसे विद्या कहते हैं और उससे विपरीत अविद्या कहलाती है (अस्मिता) अहंकार (राग) प्रीति (द्वेष) शत्रुता (अभिनिवेश) अनित्यैरपि देहादिभिर्मे वियोगो माभूदिति मरणभीतिजनकमज्ञानमभिनिवेशः" मरने के भय को अभिनिवेश कहते हैं (पञ्च क्लेशाः) यही ५ क्लेश हैं।३।

सू० का भावा०—अविद्या १, अस्मिता २, राग ३, द्वेष ४, और अभिनिवेश ५ यह पाँच प्रकार के क्लेश हैं॥ ३ ॥

भाष्य—क्लेशा इति पञ्चविपर्यया इत्यर्थः। ते स्पन्दमाना गुणाधिकारं दृढयन्ति, परिणामवस्थापयन्ति कार्य्यकारणस्रोतउन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा कर्म्मविपाकञ्चाभिनिर्हरन्ती इति ॥ ३ ॥

भा० का पदा०—क्लेश का अर्थ करते हैं ५ प्रकार के मिथ्याज्ञान बढकर वा प्रबल होकर तमोगुणादि के अधिकार को दृढ़ करते हैं दूसरी दशा अर्थात् स्वभावके विकार को (अवस्थापयन्ति) सिद्ध वा स्थिर करते हैं अविद्या के कार्य जो सुख दुःखादि और अविद्या का कारण जो अविवेक इन दोनों कार्य्य कारण के प्रवाह को बढाते हैं एक दूसरे के सहायक हो के कर्म्म के फल को प्रकाशित करते हैं॥ ३ ॥

भा० का भाषा०—अविद्यादि ५ क्लेश अर्थात् ५ प्रकार के मिथ्या ज्ञान जब अधिक होते हैं तब अपने २ गुणों को दृढ़ कर लेते हैं अर्थात् जब मनुष्य को अस्मिता अधिक होती है तब अहंकार दृढ़ हो जाता है और चित्त की प्रकृति का बदल देते हैं, सांसारिक सुख और दुःख की नदी को बहाने लगते हैं, एक दूसरे के सहायकारी हो के कर्म्म फलों को प्रकाशित करते हैं ॥ २ ॥

सत्र—इस सूत्र में अन्य क्लेशों का कारण अविद्या का कहा परन्तु अविद्या का कारण क्या है ? इसका उत्तर वैशेषिक शास्त्र में लिखा है 'इन्द्रियदोषात् संस्कार के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है इससे सिद्ध होता है, कि सम्पूर्ण क्लेश इन्द्रियों के दोष से ही उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

भो० वृ —अविद्यादयो वक्ष्यमाणलक्षणाः पञ्च ते च बाधना लक्षणं परितापमुपजनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति ते हि चेतसि प्रवर्त्तमानाः संस्कारलक्षणं गुणपरिणामं द्रढयन्ति ॥ ३ ॥

सत्यपि सर्वेषां तुल्ये क्लेशत्वे मूलभूतत्वादविद्यायाः प्राधान्यं प्रतिपादयितुमाह ।

भो० वृ० का भा०—जिनके लक्षण आगे कहे जायेंगे वह अविद्यादि क्लेश पाँच हैं वह पाँचों दुःख वा सन्ताप उत्पन्न करते हैं इससे उनको क्लेश कहते हैं वह चित्त में रह कर अपने गुणों के पक्ष या दूर या फेर का दृढ़ करते हैं ॥ २ ॥ यद्यपि ये सब क्लेश ही हैं परन्तु अविद्या उनका मूल है इस कारण अगले सूत्र में अविद्या की प्रधानता का वर्णन किया है ।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।४

सू० का पदार्थ—(प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणां) प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार (उत्तरेषाम्) आगे के अस्मिता

आदि क्लेशों का (अविद्याक्षेत्रं) अविद्या क्षेत्र स्थान है।४।

सूत्र का भा०—अस्मिता आदि अन्य और सब क्लेशों का अविद्या कारण है ॥ ४ ॥

भाष्य–अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां च चतुर्विधविकल्पतानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। तत्र का प्रसुप्ति चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीज भावोपगमः। तस्यप्रबोधालम्बने संमुखीभावः प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखी भूतेष्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति। अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सम्मुखी भावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानाम् प्ररोहश्च। तनुत्वमुच्यते प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवोभवन्ति। तथा विच्छिद्यविच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचारन्तीति विच्छिन्नाः कथं रागकाले क्रोधस्यादर्शनात् न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति रागश्च क्वचिद्दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इति अन्यासु स्त्रीषु विरक्तः किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्ति रिति। सहि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति।

विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। सर्वएवैते क्लेशवि-

पर्ययप्रत्ययं नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेश इत्युच्यते सत्यमेवैतत्, किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम्। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति। सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात् सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते। यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यास-प्रत्यय काल उपलभ्यन्ते क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति ॥ ४ ॥ तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते।

भा० का पदार्थ—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार प्रकार के अस्मिता आदि क्लेशों का अविद्या क्षेत्र अर्थात् उत्पत्ति स्थान है। इनमें प्रसुप्ति क्या है अर्थात् प्रसुप्ति किसे कहते हैं चित्त में रहने वाले क्लेशों का बीजभाव को प्राप्त हो जाना उस क्लेश का जागृत अर्थात् चैतन्य होने पर (सम्मुखीभाव) क्लेश प्रदान करने को उद्यत होना और विषय में फँसा देना हो जाता है दग्ध हो गये हैं क्लेशों के बीज जिसके हृदय में योगी के ऐसे क्लेश फिर सम्मुख वा चैतन्य हों भी जिसका बीज ही जल गया है उसकी उत्पत्ति कहाँ! इसलिये जिसके क्लेश क्षीण हो गये हैं वह कुशल चरम देह अर्थात् वर्तमान शरीर ही जिसकी अन्तावस्था है कहाता है। उसही में वह भस्म हो गया है बीज जिसका ऐसी पाँचवीं क्लेश की अवस्था होती है अन्यत्र नहीं। क्लेशों के होने पर भी उस काल के उत्पन्न होने की शक्ति भस्म हो जाती है विषय के सम्मुख होने पर भी क्लेशों का प्रभाव नहीं होता इस प्रकार से कही जाती है क्लेशों की प्रसुप्त अवस्था जले हुए बीज वालों का फिर उत्पन्न

न होना और तनु अर्थात् हलका होना कहा जाता है प्रतिपक्ष अर्थात् क्लेश के शत्रु योग की भावना अर्थात् विचार के साधन से नाश हुए पाँचों क्लेश तनु अर्थात् सूक्ष्माकार प्रायः अदृश्य के समान हो जाते हैं ऐसे ही खण्ड २ होकर अपने २ रूप से फिर आचरित होने लगते हैं खण्डित कैसे होते हैं? मोह के समय में क्रोध के गुप्त हो जाने से। क्योंकि राग के समय में क्रोध नहीं रहता है और राग भी कहीं नहीं देखा गया। दूसरे क्रोधादि विषयों में नहीं होता। एक स्त्री में चैत्र नामी पुरुष प्रीतिमान् है और स्त्रियों में विरक्त है लेकिन पहिली स्त्री में प्रीति लगी हुई और स्त्रियों के प्रति भविष्यत्रूप से है उस काल में प्रसुप्त, तनु, अथवा विच्छिन्न होता है पैदा विषय में जिसकी वृत्ति लगी है वह उदार कहाता है ॥ ४ ॥ ये सब क्लेश की सीमा को अतिक्रमण नहीं करते। जब ऐसा है तो फिर प्रसुप्त आदि संज्ञा भेद क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है विशेषता जतलाने के लिए ही यह संज्ञा भेद किया गया है ये सब क्लेश वस्तु अविद्या के ही भेद हैं? क्योंकि इन सब में अविद्या व्याप्त हो रही है। अविद्या से जो अवस्तु में वस्तु का आरोपण किया जाता है, वही क्लेशों की अनुवृत्ति का कारण है अविद्या के उदय होने पर क्लेश भी उदय होते हैं क्षीण होने पर वे नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥ अब अविद्या का स्वरूप कहते हैं—

भा० का भावा०—इन सब क्लेशों का मूल कारण अर्थात् उत्पत्ति स्थान अविद्या है, क्योंकि विना अविद्या के अन्य चारों क्लेश प्रसुप्त के समान पड़े रहते अर्थात् उनका वीजमात्र हृदय में रहता है परन्तु जब अविद्या का मनुष्य के हृदय में सञ्चार होता है तब अन्य क्लेश भी जागृत होजाते हैं किन्तु योगाग्नि से जिसके क्लेश भस्म हो जाते हैं उसको पुनः किसी क्लेश का आविर्भाव

नहीं होता क्योंकि जले बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होना ही असम्भव है ॥ ४ ॥

भो० वृ०—अविद्या मोहः अनात्मन्यात्माभिमान इति यावत् सा क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां प्रत्येकं प्रसुप्ततन्वादिभेदेन चतुर्विधानाम । अतो यत्राविद्या विपर्य्ययज्ञानरूपा शिथिलीभवति तत्र क्लेशानामस्मितादीनामुद्भवो दृश्यते । विपर्य्ययज्ञानसद्भावे च तेषामुद्भवदर्शनात् स्थितमेव मूलत्वमविद्यायाः प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणामिति तत्र च क्लेशाश्चित्तभूमौ स्थिताः प्रबोधकाभावे स्वकार्यं नाऽऽरभन्ते ते प्रसुप्ता इत्युच्यन्ते । यथा बाल्यावस्थायां बालस्यापि वासनारूपेणास्मिता अपि क्लेशाः प्रबोधकसहकार्य्यभावेनाभिव्यज्यन्ते । ते तनवो ये स्वस्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्य्यसम्पादनशक्तयो वासनावशेषतया चेतस्यवस्थिताः प्रभूतां सामग्रीमन्तरेण स्वकार्य्यमारब्धुमक्षमाः । यथाऽभ्यासवतो योगिनः । ते विच्छिन्नाः ये केनचिद्बलवता क्लेशेनाभिभूतशक्तयस्तिष्ठन्ति । यथा द्वेषावस्थायां रागः रागावस्थायां वा द्वेषः न ह्यनयोः परस्परविरुद्धयोर्युगपत्सम्भवोऽस्ति । त उदारा ये प्राप्तसहकारिसन्निधयः स्वं स्वं कार्य्यमभिनिर्वर्तयन्ति । यथा सदैव योगपरिपन्थिनो व्युत्थानदशायाम् । एषां प्रत्येकं चतुर्विधानामपि मूलभूतत्वेन स्थिताप्यविद्यान्वयित्वेन प्रतीयते न हि कश्चिदपि क्लेशानां विपर्य्ययान्वयनिरपेक्षाणां स्वरूपमुपलभ्यते । तस्यां च मिथ्यारूपायां सम्यग्ज्ञानेन निवर्त्तितायां दग्धबीजकल्पानामेषां न क्वचित् प्ररोहोऽस्ति । अतोऽविद्यानिमित्तत्वमविद्यान्वयश्चैतेषां निश्चीयते । अतः सर्वेऽपि अविद्याव्यपदेशभाजः । सर्वेषां च क्लेशानां चित्तविक्षेपकारित्वात् योगिना प्रथममेव तदुच्छेदे यत्नः कार्य्य इति ॥ ४ ॥

अविद्या लक्षणमाह ।

भो० वृ० का भा०—अविद्या का अर्थ मोह है अर्थात् अनात्म

बुद्धि रखने को अविद्या कहते हैं, वह अविद्या दूसरे क्लेशों को उत्पन्न करनेवाली भूमि है, प्रत्येक क्लेश के चार भेद हैं, तनु, प्रसुप्त, विछिन्न, उदार जहाँ अविद्या का अभाव होता है वहाँ अन्य क्लेश भी नहीं रहते हैं, क्योंकि अस्मितादि क्लेश विपर्ययज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अन्य चारों क्लेश अविद्या से ही उत्पन्न होते हैं। प्रसुप्त तनु विच्छिन्नोदाराणाम् का अभिप्राय यह है, कि जो क्लेश चित्त भूमि मे रहते हैं वह प्रबोधक अर्थात् उसकाने वाले के विना अपने कार्य को नहीं कर सकते हैं इससे ही प्रसुप्त कहलाते हैं। जैसे बालक अवस्था में बालकों के चित्त मे क्लेश रहते भी हैं तो भी विना सहायकारी के वह प्रकाशित नहीं होते हैं। वे तनु जो अपने शत्रुओके दबाव से ऐसे दुर्बल हो जाते हैं कि वह केवल वासनावश होकर चित्त मे रहते हैं इस कारण वे अपने कार्य को करने मे असमर्थ हैं, क्योंकि वे अपने काम करने की पूरी सामग्री नहीं पाते हैं। जैसे विच्छिन्न वे हैं, जो किसी बलवान् क्लेश से दबकर रहते हैं, दोष की अवस्था मे राग और राग की अवस्था में द्वेष, इन दोनों का एक समय मे होना असम्भव है। उदाहरण—वे अपने सहायक की समीपता को पाके अपने २ कार्य को करते हैं, जैसे योग के विघ्न कारक सदैव रहते हैं, चित्त की चंचल दशा मे इनमे भी प्रत्येक के चार चार भेद होते हैं परन्तु उन भेदों मे से भी प्रत्येक भेद का कारण अविद्या ही है क्योंकि विपर्यज्ञान से कोई भी क्लेश उत्पन्न नहीं होता है इस कारण मिथ्याज्ञान रूप जो अविद्या हैं उसके नाश होने से और सब क्लेशों के बीज ही जले हुये के तुल्य हो जाते हैं तब वह क्लेश उत्पन्न नहीं होते हैं इस कारण अविद्या का सम्यक् ज्ञान में परिणत होना ही क्लेश नाश का हेतु है, सम्पूर्ण क्लेश अविद्या से ही उत्पन्न वा प्रकाशित होते हैं और सब ही क्लेश योग में

विघ्नकारक और चित्त में विक्षेप करनेवाले हैं इस कारण योगी को प्रथम अविद्या का ही नाश करना चाहिये ॥ ४ ॥ अगले सूत्र में अविद्या के लक्षण कहे हैं।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

सू० का पदा०—(अनित्याशुचिदुःखात्मसु) अनित्य में, अपवित्र में दुःख में अनात्म अर्थात् जड़ पदार्थों में (नित्य शुचि सुखात्मख्यातिः) क्रमशः नित्यः पवित्र, सुख आत्मा अर्थात् चैतन्य बुद्धि को (अविद्या) अविद्या कहते हैं ॥ ५ ॥

सू० का भावा०—अनित्य में नित्य बुद्धि, अपवित्र में पवित्र बुद्धि दुःख में सुख बुद्धि, अनात्म में आत्म बुद्धि को अविद्या कहते हैं ॥ ५ ॥

व्या० दे० कृ० भाष्य—अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः। तद्यथा ध्रुवापृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारकाद्यौः अमृतादिवौकस इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये, शुचिख्यातिः। उक्तञ्च "स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निस्यन्दान्निधनादपि। कायमाधेय शौचत्वात् पण्डिताह्यशुचिं विदुः"। इत्यशुचौ शुचिख्याति र्दृश्यते। नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रम्भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यांजीवलोकमाश्वासयन्ती-

वेति कस्य केनभिसम्बन्धः । भवति चैत्रशुचौ शुचिविपर्य्या सप्रत्ययः इति । एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवनार्थे चार्थ-प्रत्ययो व्याख्यातः । तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति-परि-णामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवे-किन इति । तत्र सुखख्यातिरविद्या तथा अनात्मन्यात्म-ख्यातिर्बाह्यप्रकरणेषु चेतना चेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनस्य अनात्मन्यात्मख्यातिरिति तथैत-दत्रोक्तम् व्यक्तमव्यक्तं वा सत्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनु शोच-त्यात्मव्यपदंमन्वानः स सर्वोप्रतिबुद्धः इत्येषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्म्माशयस्य च सविपाकस्येति । तस्याश्चामित्रा गोष्पदद्वस्तु । सतत्वं विज्ञेयम् यथा नामित्रो मित्रा भावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः यथाचाङ्गोष्पादं न गोष्पदाभावे न गोष्पदमात्रं किन्तु देशएव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्, एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ।।५

भा० का पदार्थ--अनित्य अर्थात् स्थिर अथवा प्रकृति के कार्य रूप जगत् में नित्य अर्थात् चिरस्थायी अथवा कारण बुद्धि करना जैसे अनित्य पृथिवी में ध्रुव अर्थात् अचल और स्थिर बुद्धि करना अविद्या है तारागण और चन्द्रमा के सहित उर्द्ध लोकों को अवि-नाशी मानना अविद्या है देवता लोग अमर अर्थात् मृत्यु रहित हैं इसको अविद्या कहते हैं इसी प्रकार से अपवित्र में पवित्रता विष-

यह बुद्धि होजाती है। यह चन्द्रकला नवीन है यह कन्या कमनीय अर्थात् कामना योग्य वा मनोहर है कोमल अमृत के समान अंगों वाली हाव भाव भरे नेत्रों से प्राणियों का आश्वासन करती है इस प्रकार अपवित्र में पवित्र बुद्धि ज्ञान का निश्चय होता है इस ही के समान पाप में पुण्य ज्ञान तथा अनर्थ में अर्थज्ञान कहा गया है। अब दुःख में सुख ख्याति को कहते हैं—भोगादि में जिनका परिणाम दुःख है सुखदायक समझकर लिप्त होना यह तीसरी प्रकार की अविद्या है। अनात्म में आत्म बुद्धि उसको कहते हैं कि भोगाधिष्ठान शरीर में वा बाह्य उपकरण इन्द्रियादि में अथवा अन्तःकरण मन आदि में आत्म बुद्धि करना जैसाकि पञ्चशिख आचार्य ने कहा है—व्यक्त पुत्र दार पश्वादि में और अव्यक्त शय्यासनादि में आत्म बुद्धि करके उनकी वृद्धि से हर्षित और उनके नाश से दुःखित होना चौथी प्रकार की अविद्या है। इस प्रकार से ४ भाग वाली अविद्या होती है उक्त क्लेश समुदाय की तथा कर्माशय और उनके फलों की मूल अविद्या ही है और इस अविद्या का अभिप्राय अमित्र अगोष्पद के समान तत्त्वार्थ के सहित समझना योग्य है जैसे (नामित्रः) हित साधक को मित्र कहते हैं और जो उसके विपरीत अर्थात् अहितचिन्तक हो उसे अमित्र कहते हैं एवम् जो अमित्र के विपरीत हो वह न मित्र कहाता है अभिप्राय यह है कि नामित्र शब्द से मित्राभाव अर्थात् शत्रुता सिद्ध नहीं होती ऐसे ही अगोष्पद शब्द से नतो गोष्पदा भाव और न गोष्पद मात्र की तितिक्षा है किन्तु ऐसा अभिप्रेत है, जैसे अविद्या न तो प्रमाण है और न अप्रमाण किन्तु विद्या के विपरीत ज्ञान का नाम अविद्या है॥ ५॥

भा० का भावा०—अनित्य कार्य अर्थात् पृथिवी और अन्तरिक्ष्य सत्यलोक अचल हैं अथवा देवता अमर हैं इत्यादि विपरीत

बुद्धि को अविद्या कहते हैं, अथवा मल मूत्रादि परम अशुचि पदार्थों के स्थान देहादि मे पवित्र बुद्धि करना अविद्या है, क्योंकि जगत् मे देखते हैं कि कोटिशः मनुष्यों को स्त्री के अपवित्र शरीर में और स्त्री का वैसे ही पुरुष के शरीर में पवित्रता की बुद्धि होती है, ऐसे ही दुःख मे सुख बुद्धि, और अनात्म पदार्थों मे आत्म बुद्धि को अविद्या कहते हैं ।। ५ ।।

५ सू०—अविद्या का लक्षण सूक्ष्मता से यह अच्छा ज्ञान पड़ता है कि "अतस्मिस्तत्प्रतिभासोऽविद्या" ।। ५ ।।

भो० वृ०—अतस्विस्तयिति प्रतिभासोऽविद्या इत्यविद्यायाः सामान्य लक्षणम् । तस्या एक भेदप्रतिपादनम्–अनित्येषु घटादिषु नित्यत्माभिमानोऽविद्या इति उच्यते । एवमशुचिशु कायादिषु शुचित्वाभिमानः, दुःखेषुच विषयेषु सुखत्वाभिमानः, अनात्मनि-शरीरे आत्मवाभिमान एतेनापुण्ये पुण्यभ्रमाऽनर्थेचार्थभ्रमो व्याख्यातः ।। ५ ।। अस्मिता लक्षयितुमाह ।

भो० वृ० का भा०–अविद्या का अर्थ यह है कि किसी वस्तु में तद्विरुद्ध वस्तु का ज्ञान होना यह अविद्या का सामान्य लक्षण है, इसके भेद कहते हैं, अनित्य घट आदि पदार्थों में नित्य अर्थात् सदैव स्थिर रहने के मिथ्या ज्ञान को अविद्या कहते हैं ऐसे ही अपवित्र में पवित्र बुद्धि को अविद्या कहते हैं अर्थात् अपवित्र शरीर में पवित्र बुद्धि करने को अविद्या कहते हैं । दुःखरूप विषयों में सुख समझने को अविद्या कहते हैं, जड़ शरीर आत्मबुद्धि करना अविद्या कहाता है इससे यह भी सिद्ध हुआ कि पाप मे पुण्य बुद्धि और अधर्म्म में धर्म बुद्धि करने को अविद्या कहते हैं ।। ५ ।। अस्मिता का लक्षण कहते हैं ।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।। ६ ।।

सू० का पदार्थ—(दृग्दर्शनशक्त्योः) द्रष्टा और दर्शन अर्थात् देखने में सहायक इन दोनों शक्तियों को (एकात्मतेव) अभिन्न जानना (अस्मिता) अस्मिता कहाती है ॥ ६ ॥

सू० का भावा०—द्रष्टा और दर्शनशक्ति में अभेदज्ञान को अस्मिता कहते हैं ॥ ६ ॥

व्या० भाष्य—पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते। भोग्यभोक्तृयोरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते। स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति। तथा चोक्तम्—बुद्धितः परंपुरुषमाकारशील-विद्यादिभिः विभक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्राऽऽत्मबुद्धिं मोहेनेति। ६

भा० का पदार्थ—पुरुष अर्थात् जीव में देखने की शक्ति होती है। बुद्धि में दर्शन अर्थात् देखने में सहायकारिणी शक्ति होती है। इन दोनों शक्तियोंको एक स्वरूप अर्थात् अभिन्न मानना अस्मिता क्लेश कहाता है। ऐसे ही भोग्य शक्ति भोक्तृ शक्तियोंको जो अत्यन्त ही भिन्न हैं और जो अत्यन्त असंकीर्ण अर्थात् जिनका परस्पर कुछ भी मेल नहीं है विभाग रहित अर्थात् एक मान कर भोग की कल्पना करना है इसे अस्मिता कहते हैं। जब जीव का परमेश्वर का अपने रूप की प्राप्ति अर्थात् ज्ञान होता है तब तो दृक्शक्ति और दर्शन शक्ति कैवल्य को प्राप्त हो जाती हैं फिर भोग ही क्या होगा, ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। बुद्धि से ईश्वर और जीव का आकार, शील और विद्यादि को अभिन्न देखता हुआ उनमें आत्मबुद्धि मोह से करे ॥ ६ ॥

भा० का भा०—पुरुष अर्थात् ईश्वर और जीव इनमे देखने की शक्ति है और बुद्धि मे दिखलाने की शक्ति है इन शक्तियों को एक मानना इसे ही अस्मिता क्लेश कहते हैं, जिस प्रकार से भोग्य अर्थात् भोग करने के योग्य और भोगशक्ति अर्थात् भोग करनेवाले की शक्ति जो परस्पर अति ही भिन्न और अत्यन्त ही असंकीर्ण हैं उनको एक मानना। ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है कि बुद्धि से परम पुरुष अर्थात् ईश्वर वा जीव को लक्षण विद्यादि से विभक्त अर्थात् बिना विचारे भिन्न मे एक बुद्धि करना केवल मूर्खता ही है ॥ ६ ॥

२ सू०—इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि आत्मा और बुद्धि को एक मानने को अस्मिता कहते हैं ॥ ६ ॥

भो० वृ०—दृक्शक्तिः पुरुषः दर्शनशक्ती रजस्तमोभ्यामनभिभूतः सात्विक. परिणामोऽन्तःकरणरूपोऽनयोर्भोग्यकर्तृत्वेन जडाजडत्वेनात्यन्ताभिन्नरूपयोरेकताभिमानोऽस्मितेति उच्यते। यथा प्रकृतिर्वस्तुतः कर्तृत्वभोक्तृत्वरहितोऽपि कर्त्ताहं भोग्यहमित्यभिमन्यते सोऽयमस्मिताख्योविपर्य्यासः क्लेशः ॥६॥ रागस्य लक्षणमाह

भो० वृ० का भा०—दृक्शक्ति पुरुष है और दर्शनशक्ति रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग से रहित केवल सत्वगुण से युक्त अन्तःकरण कहाता है यह दोनों भोग्य और भोक्ता, एवम् जड़ और चैतन्य आदि गुणों में अत्यन्त ही भिन्न भान होते हैं। उन दोनों में जो एकता का अभिमान है उसे अस्मिता कहते हैं। जैसे आत्मा कर्त्ता और भोक्ता नहीं है तो भी पुरुष, मैं कार्यों का कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, ऐसा मानता है। यही क्लेश अस्मिता कहाता है ॥ ६ ॥ राग का लक्षण कहते हैं।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सू० का पदा०—(सुखानुशयी) सुख का अनुस्म रण पूर्वक जो सुख की प्रवृत्ति होती है (रागः) राग कहाता है ॥ ७ ॥

सू० का भाषा०—सुख के साधन को राग कहते हैं ॥ ७ ॥

भा०—सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धः तृष्णा लोभः स राग इति ॥ ७ ॥

भा० का पदा०—जिसको सुख का ज्ञान है उसको सुख के अनुस्मरण पूर्वक सुख में अथवा उसके साधन में जो लोभ है वह राग कहाता है ॥ ७ ॥

भा० का भाषा०—जिसने कभी सुख भोगा है उसे सुख की स्मृति होती है। उस स्मृति से जो सुख के साधनों में लोभ होता है उस ही लोभ को राग कहते हैं ॥ ७ ॥

भो० वृ०—सुखमनुशेत इति सुखानुशयी सुखज्ञस्य सुखानु स्मृति पूर्वकः सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्धो रागसंज्ञकः ॥ ७ ॥ द्वेषलक्षणमाह—

भो० वृ० का भा०—सुख के पश्चात् जो होता है उसे सुखानु शयी कहते हैं जिस पुरुष को सुख का ज्ञान है उसको सुख का स्मरण होता है फिर सुख में जो लोभ होता है उसही लोभ को राग कहते हैं ॥ ७ ॥ द्वेष का लक्षण कहते हैं—

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

सू० का पदार्थ—(दुःखानुशयी) दुःख का अनुस्म रण (द्वेषः) द्वेष कहाता है ॥ ८ ॥

सू० का भाषा०—दुःख के साधन को द्वेष कहते हैं ॥ ८ ॥

भा०—दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघोऽमन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेषः ॥ ८ ॥

भा० का भावा०—दुःख के जानने वाले को दुःखानुस्मरण पूर्वक दुःख मे अथवा उसके साधन मे जो क्रोध या अप्रीति वह द्वेष है ॥ ८ ॥

भा० का भावा०—दुःख को जानने वाले का दु:ख स्मरण पूर्वक उसके प्रति जो क्रोध उसे द्वेष कहते हैं ॥ ८ ॥

भो० वृ०—दुःखनुक्तलक्षण, तदभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपूर्वकं तत्साधनेषु अनभिलषतो योऽयं निन्दात्मकः क्रोधः स द्वेषलक्षणः क्लेशः ॥ ८ ॥ अभिनिवेशस्य लक्षणमाह—

भो० वृ० का भाष्य—दुःख का लक्षण पहिले कह चुके हैं उस दुःख का जिसको ज्ञान है उसको दुःख का स्मरण होता है फिर वह दुःख के साधनों को इक्ट्ठा करने की इच्छा नहीं करता वरन उसकी निन्दा करता है निन्दारूप जो क्रोध होता है उसही को द्वेष कहते हैं ॥८॥ अगले सूत्र मे अभिनिवेश का लक्षण कहा जायगा ।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥९॥

सू० का पदा०—(विदुषोऽपि) पण्डितों को भी (स्वरसवाही) अपने स्वभाव को प्राप्त कराने वाला (तथा) तैसे (अरूढः) प्राप्त (अभिनिवेशः) अभिनिवेश क्लेश है ॥ ९ ॥

सू० का भावा०—जो मूर्ख तथा पण्डितों को एक समान प्राप्त हो उसे अभिनिवेश कहते हैं ॥ ९ ॥

भाष्य—सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा

न भूवं भूयासमिति । नचाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः । एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते स चायाभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैः सम्भावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति । यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः । कस्मात्-समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोः मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥ ९ ॥

भा० का पदा०—सब प्राणियों को यह आत्मा अर्थात् अपने जीव को आशीर्वाद अर्थात् हितचिन्तन सदैव होता है । मैं न हूँ, यह नहीं, किन्तु मैं हूँ जिसने मरने के दुःख को अनुभव नहीं किया उसको यह हितचिन्ता नहीं हो सकती । और इस आशीर्वाद से पूर्व जन्म का अनुभव प्रतीत होता है यह अभिनिवेश क्लेश कहाता है । तत्काल उत्पन्न हुए अपने रस में मग्न कीड़े को भी यह हितचिन्ता होती है । प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाण से कीड़े न मरने के दुःख को नहीं समझा मरने से शरीरसत्ता भंग हो जाती है यह पूर्व जन्म में भोगे हुए मरन के दुःख को अनुमान कराता है यह भय जैसा अत्यन्त मूर्खों में दीखता है वैसा ही पूर्वापर को जाननेवाले विद्वानों में भी देखा जाता है । क्योंकि मूर्ख और विद्वान् को मरण दुःख के अनुभव से यह संस्कार तुल्य ही होता है ॥ ९ ॥

भा० का भा०—प्राणिमात्र को आत्महित चिन्तन जरूर रहता है अर्थात् सबकी यही रुचि रहती है, कि मैं कभी न मरूँ परन्तु बिना मृत्यु का दुःख भोगे यह अपना हित चिन्तन होना ही असं

म्भव है इससे पुनर्जन्म सिद्ध होता है मृत्यु का भय प्राणिमात्र मे देखते हैं जो भय प्राणियों मे समान पाया जाता हो उसे अभिनिवेश कहते हैं, यदि कोई कहे कि मरण समय मे दूसरे का दुःख देखकर प्राणियों का भयभीत होना कहा जाय तो अभी उत्पन्न हुआ कीड़ा मृत्यु से क्यों डरता है ? उस कीड़े को प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाण से मृत्यु के दुःख की सिद्धि नहीं हुई परन्तु उसको भय होता है इससे सिद्ध हुआ कि पुनर्जन्म अवश्य है, इत्यादि सर्व समान व्यापी दुःख को अभिनिवेश कहते हैं ॥ ९ ॥

भो० वृ०—पूर्वजन्मानुभुतमरणदुःखानुभववासनाबलाद्भयरूप समुपजायमानः शरीरविषयादेर्मम वियोगो माभूदिति अन्वहमनुबन्धरूपः सर्वस्यैवा आकृमेर्ब्रह्मपर्य्यन्तं निमित्तमन्तरेण प्रवर्त्तमानोऽभिनिलेशाख्यः क्लेश. ॥ ९ ॥

तदेवं व्युत्थानस्य क्लेशात्मकत्वादेकाग्रताभ्यासकामेन प्रथमं क्लेशाः परिहर्त्तव्याः । न चाज्ञातानां तेषां परिहारः कर्तुमशक्य इति तज्ज्ञानाय तेषामुद्देशं लक्षणं क्षेत्र विभागञ्चाभिधाय स्थूलसूक्ष्म भेद भिन्नाना तेषां प्रहाणोपायविभागमाह ।

भा० वृ० का भा०—पूर्वजन्म मे जो मरने का दुःख भोगा है उसके अनुभव और वासना के बल से जो भय होता है अर्थात् प्रत्येक प्राणी जो यह चाहता है कि शरीर से और विषयों से मेरा वियोग न हो, यह कीड़े से ब्रह्मा पर्य्यन्त को जो भय होता है उस ही को अभिनिवेश क्लेश कहते हैं ॥ ९ ॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

सू० का प०—(ते) वे दुःख (प्रतिप्रसहवहेयाः) उत्पन्न होते ही त्याज्य और (सूक्ष्माः) सूक्ष्म हैं ॥१०॥

सू० का भा०—पूर्वोक्त पञ्च क्लेश प्रतिप्रसवहेय अर्थात् उत्पत्ति के साथ ही त्याज्य और सूक्ष्म हैं ॥ १० ॥

भाष्य—ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सहतेनैवास्तं गच्छन्ति स्थितानान्तु बीजभावोपगतानाम् ॥ १० ॥

भा० का प०—वे पाँचों क्लेश दग्ध बीज के समान योगी के चरिताधिकार योग में चित्त लीन होने पर उसके ही संग अस्त हो जाते हैं। बीज भाव से स्थित होने पर उनके नाश का उपाय कहते हैं।

भा० का भा०—पूर्वोक्त पञ्च क्लेश दग्ध बीज के समान योग में चित्त लीन होने से उस ही के संग अस्त हो जाते हैं। बीज भाव से स्थिर रहने पर उनके नाश का उपाय अगले सूत्र में कहा है ॥ १० ॥

सूत्र—समाधि पाद में जो व्याधि आदिक चित्त के विक्षेप और योग के विघ्न वर्णन किये थे उन सबके मूल यही ५ क्लेश हैं। अतएव योगाभिलाषी को प्रथम क्लेशों का त्यागना चाहिये परन्तु बिना यथार्थ रूप से जाने किसी वस्तु का त्याग या संग्रह नहीं होता इसलिये उनके लक्षण, स्वरूप और उत्पत्ति स्थान को वर्णन करके अब उनके त्याग का उपाय कहते हैं ॥ १० ॥

क्रिया योग से जब क्लेश अब सूक्ष्म अर्थात् निर्बीज हो जाय तब उन्हें प्रतिलोम परिणाम के द्वारा दूर कर दे। सारांश यह है कि योगी के क्लेश निर्बीज या दग्ध बीज के समान हो जाते हैं फिर उनका प्रति प्रसव अर्थात् जन्म नहीं होता है ॥ १० ॥

भा० पू०—ते सूक्ष्माः क्लेशा य वासनारूपेणैव स्थिताः स्व

वृत्तिरूपं परिणाममारभन्ते, ते प्रतिप्रसवेन प्रतिलोमपरिणामेन हेयास्त्यक्तव्याः। स्वकारणऽस्मितायां कृतार्थं सवासनं चित्तं यदा प्रविष्टं भवति तदा कुतस्तेषां निर्मूलानां सम्भवः॥ १०॥
स्थूलानां हान्युपायमाह।

भो० वृ० का भा०—इस रीति से चित्त की चञ्चलता ही क्लेश रूप है अर्थात् क्लेशों के बिना चित्त में चञ्चलता नहीं होती है। इस कारण जिसे चित्त एकाग्र करना हो उसको चाहिये कि पहले क्लेशों को दूर करे परन्तु बिना क्लेशो को जाने उनका छोड़ना असम्भव है इस कारण क्लेशों के लक्षण उत्पत्तिस्थान और भेदों को वर्णन करके अब उनके प्रत्येक स्थूल भेद के नाश का उपाय कहते हैं।

वह सूक्ष्म रूप के क्लेश जो वासनारूप से चित्त में रहते हैं अपनी वृत्ति के अनुसार ही चित्त को बदल देते हैं। इस कारण उन क्लेशों को त्यागना चाहिये। जब वह अस्मिता आदि क्लेश अपने कारण रूप चित्त में लय हो जाते हैं तब फिर उनका प्रादुर्भाव नहीं होता है॥ १०॥ अब स्थूल क्लेशों के नाश का उपाय कहते हैं।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः॥ ११॥

सू० का पदार्थ—(ध्यानहेयाः) क्रियायोग से त्याज्य है (तद्वृत्तयः) क्लेश की वृत्तियाँ॥ ११॥

सूत्र का भावार्थ—पञ्चक्लेश की जो वृत्तियाँ हैं वे पूर्व ही क्रियायोग से हेय अर्थात् त्यागने योग्य हैं॥ ११॥

क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः। प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता

यावद्दग्धबीजकल्पा इति यथावस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात् सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन चापनीयते तथा स्वल्प-प्रतिपक्षाः स्थूलाः वृत्तयः क्लेशानाम् सूक्ष्मास्तु महाप्रति-पक्षा इति ॥ ११ ॥

भा० का पदार्थ—क्लेशों की जो वृत्तियाँ स्थूल हैं वे क्रियायोग से तनु की हुई विचार से ध्यान से त्यागने योग्य हैं, जबतक सूक्ष्म हों जबतक दग्धबीज के समान हों। जैसे वस्त्रों का ऊपर का मैल प्रथम धोया जाता है तिसके पीछे सूक्ष्म मल यत्न और उपाय से दूर करते हैं वैसे ही क्लेशोंमें अल्प विघ्न करनेवाली स्थूलवृत्ति हैं। सूक्ष्म वृत्ति व हैं जो महाविघ्न करनेवाली हैं ॥ ११ ॥

भा० का भा०—क्लेशों की वृत्तियाँ जो स्थूल हैं और क्रियायोग से सूक्ष्म हो गयी हैं, वे विचार तथा ध्यान से त्याग करने योग्य हैं। जबतक सूक्ष्म वा दग्ध बीज के समान हो जैसे वस्त्रों का स्थूल मल प्रथम धोया जाता है, पश्चात् सूक्ष्म मल यत्न और उपाय से दूर किया जाता है वैसे ही जिनका अल्प प्रभाव है वे स्थूलवृत्ति और जिनका बृहत् प्रभाव है व सूक्ष्मवृत्ति हैं। इन दोनों का क्रम से विचार और ध्यान के द्वारा त्याग करे ॥ ११ ॥

सू०—तात्पर्य यह है कि प्रतिदिन ध्यान का अभ्यास करने से क्लेशों की स्थूलवृत्ति अर्थात् शान्त, मोहादि दग्धबीज के समान हो जाती हैं।

भा० वृ०—तथा क्लेशानामारम्भकत्वाख्याता याः सुख दुःख मोहा-त्मिका वृत्तयस्ता ध्यानेनैव चित्तैकाग्रतालक्षणेन हेयाः हातव्या इत्यर्थः। चित्तपरिकर्माभ्यासमात्रेणैव स्थूलत्वात्तासां निवर्त्तितुमर्हति। यथा वस्त्रादौ स्थूलो मलः प्रक्षालनमात्रेणैव निवर्त्तते यस्तत्र सूक्ष्मोंऽशः स तैस्तैरुपायैरुत्तापन प्रभृतिभिरेव निवर्त्तयितुं शक्यते ॥ ११ ॥

एवं क्लेशानां तत्त्वमभिधाय कर्म्माशयस्याभिधातुमाह।

भो० वृ० का भा०—जिन क्लेशों का कार्य आरम्भ हो गया है उनकी जो सुख, दुःख और मोहरूपी वृत्ति हैं उनको ध्यान से नष्ट करना चाहिये, अर्थात् चित्त की एकाग्रता रूप जो ध्यान है उससे उन वृत्तियों को रोकना उचित है, चित्त को योगाभ्यास में लगाने मात्र से ही क्लेशों की स्थूलवृत्तियाँ निवृत्त हो जाती हैं, जैसे वस्त्रका स्थूल मैल धोने मात्र से छूट जाता है और मैल का सूक्ष्म भाग आँच पर चढ़ाने वा अन्य उपायों से छूट सकता है ॥ ११ ॥ उक्त रीतिसे क्लेशों के तत्वको वर्णन करके कर्माशय का वर्णन करते हैं।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥१२

सू० का पदा०—(क्लेशमूलः) उक्त पाँचों क्लेशों का मूल (कर्म्माशयः) कर्मों का समूह (दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जन्म में जानने योग्य अर्थात् भोगने योग्य है ॥ १२ ॥

सूत्र का भा०—पञ्च क्लेश का मूल कर्म समूह ही है जो दृष्ट तथा अदृष्ट जन्मों में भोगा जाता है ॥ १२ ॥

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयकामलोभमोहक्रोधभवः। सदृष्टजन्मवेपनीयश्चादृष्ट जन्मवेदनीयश्च। तत्रतीव्रसंवेगेन मन्त्रतापः समाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्यायःपरिनिष्पन्नः। स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विसु कृतः पुनः पुनर-

प्रकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते । यथा नन्दीश्वरःकुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः । तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः । क्षीणक्लेशानामपि नास्त्य दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति ॥ १२ ॥

भा० का प०—धर्म और अधर्म सम्बन्धी कर्माशय है । काम, लोभ, मोह, क्रोध का उत्पत्ति स्थान और वह वर्तमान जन्म में भोगने योग्य है । तीव्र वेग योग से मन्त्र, तप और समाधियों से आचरित ईश्वर देवता और महर्षियों की आराधना से जो पुण्य हो वह शीघ्र ही परिपाक को प्राप्त होता है, फल देता है वह पुण्य कर्माशय है से तीव्र क्लेश जैसे भय प्राप्त रोगी और कृपणों में विश्वास को प्राप्त हुए उत्तम पुरुषों में अथवा तपस्वियों में बार बार किया हुआ अपकार पाप कर्माशय है वह भी शीघ्र परिपाक होता है फल देता है जैसे नन्दीश्वरकुमार मनुष्य भाव का त्याग कर देवभाव को प्राप्त भया वैसे ही नहुष भी देवराज होकर निज भाव का त्याग कर तिर्यक् भाव में प्राप्त भया इनमें नारकीय जीवों का दृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय नहीं है । तथा जिनके क्लेश क्षीण हो गये हों उनका अदृष्ट जन्म वेदनीय परजन्म में भोगने योग्य कर्म नहीं है ॥ १२ ॥

भा० का भा०—पुण्य और पापरूप कर्मसमूह काम, क्रोध, लोभ और मोह से उत्पन्न होता है वह दो प्रकार का है एक दृष्टजन्म वेदनीय और दूसरा अदृष्टजन्मवेदनीय इनमें से जो कर्म तीव्र संवेग नामक योग से वा तप से अथवा मन्त्रानुष्ठान से किया पर

मेश्वर या महर्षि आदि की सेवा से जो कर्म सिद्ध होते हैं, वह शीघ्र ही फल देते हैं और जो कर्म तीव्र क्लेश से किसी दीन को सताना आदि अथवा किसी महज्जन महात्मा का बारम्बार अपकार किया जाता है, वह भी शीघ्र ही फल देता है। जैसे नदीश्वर कुमार मनुष्यता को त्याग कर देवता हुए ऐसे ही मनुष्य भी देवयोनि से तिर्यक् योनि में प्राप्त हुए जिन कर्मों से नरक को प्राप्त होता है उनका फल इस जन्म मे नहीं मिलता और जिन योगियों के क्लेश नष्ट हो गये हैं उनके कर्मों का फल जन्मान्तर मे नहीं मिलता है॥ १२॥

१२ सू०—क्लेशों का मूल कर्मफल है, जो इस जन्म तथा पर जन्म में भोगा जाता है। इसके उदाहरण भाष्यकार ने नन्दीश्वर तथा नहुष को लिख दिया है परन्तु महाराज भोज ने केवल जाति के परिमाण का उदाहरण विश्वामित्र को भी लिखा है इससे जान पड़ता है, कि अत्युत्कट शुभाशुभ कर्मों का फल इस जन्म में मिलता है।

भो० वृ०—कर्म्माशय इत्यनेन तस्य स्वरूपमभिहितम्। यतो वासनारूपाण्येव कर्माणि क्लेशमूल इत्यनेन कारणमभिहितम्। यतः कर्म्मणा शुभासुभानां क्लेशा एव निमित्तम्। दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय इत्यनेन फलमुक्तम्। अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयः। जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयः। तथाहि, कानिचित् पुण्यानि कर्माणि देवताराधनादीनितीव्रसंवेगेन कृतानीहैव जन्मनि जात्यायुर्भोगलक्षणं फलं प्रयच्छन्ति। यथा नन्दीश्वरस्य भगवन्महेश्वराराधनबलादिहैव, जन्मनि जात्यादयो विशिष्टाः प्रादुर्भूताः। एवमन्येषा विश्वामित्रादीना तपः प्रभावात् जात्यायुषी। केषाञ्चिज्जातिरेव यथा तीव्रसंवेगेन दुष्टकर्म्मकृता नहुषादीना जात्यन्तरादि परिणामः। उर्वश्याश्च कार्त्तिकेयवने लतारूपतया। एवं व्यस्तसम-

स्वरूपत्वेन प्रमाणागमे याभ्यमिति ॥ १२ ॥ इदानीं कर्माशयस्य स्वमेवविभिन्न फलमाह ।

भो० वृ० का भा०—कर्माशय शब्द से कर्म समुदाय का स्वरूप कहा, इससे सिद्ध हुआ कि कर्म की वासना रूप ही हैं, क्लेशमूल इस शब्द से कर्माशय का कारण कहा क्योंकि शुभ और अशुभ कर्मों के कारण क्लेश ही हैं। दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय का अभिप्राय यह है कि इस जन्म तथा परजन्म में उनका फल भोगना होता है, इस जन्म में जो कर्म फल भोगा जाता है, उसे दृष्टजन्मवेदनीय और जो परजन्म में भोगा जायगा उसे अदृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं। कोई २ पुण्य देवता का आराधन आदि जो तीव्रसंवेग से किये जाते हैं इस ही जन्म में जाति, आयु और भोग रूप फल को देते हैं जैसे नन्दी श्वर को महादेव अर्थात् ईश्वर के आराधन से उत्तम जाति और आयु और भोग प्राप्त हुए थे वैसे ही विश्वामित्र ने तप के प्रभाव से उत्तम जाति और आयु को पाया था, किसी किसी को उत्तम कर्म से इसी जन्म में उत्तम जाति की प्राप्ति हुई और हो जाती है ऐसे ही तीव्रसंवेग से पाप कर्म करने वालों को इस ही जन्म में फल मिलते हैं जैसे नहुष का इस ही जन्म में इन्द्रपद से पतित होना पड़ा था। उर्वशी का कार्त्तिकेय वन में लतारूप में परिणत होना इत्यादि ॥ १२ ॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

सू० का प०—(सति मूले) क्लेश मूल रहने से (तद्विपाकः) उनका फल (जात्यायुर्भोगाः) जन्म आयु भोग है ॥ १३ ॥

सू० का भा०—यदि क्लेशमूल अर्थात् कर्म शेष रहेगा तो उसका

फल जाति, आयु और भोग अर्थात् शुभाशुभ होते हैं॥ १३॥

व्या० भाष्य—सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्न क्लेशमूल.। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीज-भावाः प्ररोह समर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति नापनीतक्लेशो नप्र-संख्यानदग्धक्लेश बीजभावो वेति। सच विपाकस्त्रिविधो जातिरा-युर्भोगइति। तत्रेद विचार्य्यते किमेक कर्म एकस्य जन्मनः कारण-मथैकं कर्मानेकञ्जन्माऽऽक्षिपतीति। द्वितीया विचारणा-किमनेकङ्क-र्मानेकञ्जन्म निर्वर्तयति अथा नेकंकर्मैकञ्जन्म निर्वर्तयतीति न ताव-देकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणं कस्मादनादिकालप्रचितस्यासंख्ये-यस्यावसिष्ठस्यकर्मणःसाप्रतिकस्य च फलक्रमानियमात् अनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः सचानिष्ट इति। नचैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कार-णम् कस्मादनेकेषु कर्मसु एकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारण-मित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः सचाप्यनिष्ट इति। न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात्तदनेकञ्जन्मयुगपन्न संभवतीति क्रमेणैववाच्यम्। तथाच पूर्वदोषानुषंगः। तस्माज्ज-न्मप्रायणांतरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपस-र्ज्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य संमूर्छित एकमेव जन्मकरोति, तच्चजन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्ना-युषि तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मा-युर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत इति। अत एकभविकःकर्मा-शय उक्त इति।

दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात् द्विविपाका-रम्भी वायुर्भोगहेतुत्वान्नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वेति। क्लेशकर्म विपा-कानुभवनिर्वर्तिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमूर्छितमिदं चित्तं

चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति। ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति।

यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च। तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। कस्मात् यो ह्यदृष्टजन्म-वेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः। कृतस्याविपक्वस्य नाशः प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्ल कर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य यत्रेदमुक्तम् 'द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकृतस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते'। प्रधानकर्मण्यावा-पगमनम्। यत्रेदमुक्तम्—"स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्य-वमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात् कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यतीति"। नियतविपाक प्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्। कथमिति, अदृष्ट जन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्य क्तिकारणमुक्तम्। न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। यत्त्व-दृष्ट जन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेदभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति। तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानव-धारणादियं कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति। न चोत्सर्गस्यापवा-दात् निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति॥ १२॥

भा० का पदा०—क्लेश रहने से कर्मों समूह फल देने के योग्य होता है उच्छिन्न क्लेशमूल नहीं। जैसे तुष से वेष्टित चावल

जिनकी बीजोत्पत्ति नष्ट नहीं भयी पुनः उत्पन्न होने मे समर्थ होते हैं। तुष वर्जित वा दुग्ध बीज भाव नहीं, तैसे ही क्लेशयुक्त कर्म्म समूह भी फल देने मे समर्थ होता है न कि गतक्लेश अथवा क्रिया योग से जिसका बीज भाव नष्ट हो गया है। वह फल ३ प्रकार का है जाति, आयु और भोग।

अब यह विचारणीय है क्या एक कर्म्म एक ही जन्म का कारण है अथवा एक कर्म से बहुत जन्म होते हैं। दूसरी बात विचारने योग्य यह है क्या अनेक कर्म अनेक जन्म के कारण होते हैं अथवा अनेक कर्म्म एक जन्म के कारण होते हैं इसका उत्तर यह है कि न तो एक कर्म्म एक जन्म का कारण है, क्योंकि अनादि काल से सञ्चित हुऐ असंख्य अवशिष्ट कर्म को और वर्तमान कर्म के फल कर्म का नियम न होने से लोगों को यह विश्वास नहीं होता कि यह सञ्चित अवशिष्ट कर्म का फल है अथवा वर्तमान कर्म का? यह अनिष्ट है। इसी प्रकार एक कर्म अनेक जन्म का भी कारण नहीं हो सकता। क्योंकि अनेक कर्मों में जब एक एक ही कर्म अनेक जन्म का कारण है तो जो कर्म अवशिष्ट रहे, उनके विपाक काल का अभाव प्रसक्त होता है और यह भी इष्ट नहीं।

अब रही दूसरी विचारणा क्या अनेक कर्म अनेक जन्म का कारण है अथवा अनेक कर्म एक ही जन्म का कारण हैं? इसका उत्तर देते हैं—अनेक कर्म भी अनेक जन्म के कारण नहीं हो सकते। क्योंकि वे अनेक जन्म एक साथ नहीं हो सकते। इसलिए पूर्व दोष का यहाँ भी अनुषङ्ग है। इसलिए जन्म और मरण के बीच में किये हुए शुभाशुभ कर्मों का सञ्चय बड़ा ही विचित्र है, कोई उनमें प्रधान कर्म हैं जो सद्यः फल देते हैं, कोई उपसर्जन भाव से अवस्थित होते हैं, जो विलम्ब से फल देने वाले होते हैं। अतएव

चौथा पक्ष ही ठीक है कि अनेक कर्म एक जन्म के कारण होते हैं। ये प्राणी के मरण समय कर्माशय में सञ्चित होकर जन्म का कारण होते हैं उन्हीं के अनुसार आयु भोग की व्यवस्था होती है। निदान यह कर्माशय जन्म, आयु और भोग का हेतु होने से त्रिविपाक कहलाता है अतएव कर्माशय एक ही जन्म का कारण है।

अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्माशय ही उक्त तीन प्रकार का है, दृष्ट जन्म वेदनीय कर्म ही केवल भोग हेतु होने से एक विपाक जैसा कि नहुष का कर्म आयु और भोग का हेतु होने से द्विविपाक जैसा कि नन्दीश्वर का होता है।

क्लेश और कर्म फल के अनुभव से निर्मित वासनाओं से अनादि समय से मूर्च्छित हुआ चित्त चित्रित हुआ चारों ओर से मकड़ी के जाल के समान ग्रन्थियों में फँसा हुआ है व अनेक जन्म की वासनायें हैं। और जो यह कर्म समूह है वह एक ही जन्म का कहा है जो संस्कार स्मृति के हेतु हैं वे वासना अनादि काल की हैं।

यह जो एक जन्म का कर्माशय, वह दो प्रकार का है—एक नियतविपाक, दूसरा अनियतविपाक। इन दोनों में इस ही जन्म में भोगने योग्य नियत फलवाले कर्मों का ही यह नियम है। अदृष्ट-जन्मवेदनीय अनियत विपाक का नहीं क्योंकि जो अदृष्ट जन्म द्वारा जानने योग्य अनियत फलवाला है उसकी तीन प्रकार की गति है। एक तो किये हुए कच्चे कर्मफल का नाश दूसरा प्रधान कर्म में मिल जाना अथवा नियतविपाक प्रधानकर्म द्वारा अभिभूत होकर चिरकाल तक स्थिर रहना इन तीन प्रकार की गतियों में किये हुए कर्म के कच्चे फल का नाश जैसे पवित्र कर्मों के उदय होने से इस ही जगत में अपवित्र कर्मों का नाश हो जाता है। जिसके प्रमाण में यह कहा जाता है "कर्मों की दो ही गति अथवा

राशि समझनी चाहिये। एक पापकर्मों की राशि है जो कि पुण्य-कृत कर्मों का नाश करती है दूसरी पुण्यकृत कर्मों की राशि है जो पापकृत कर्मों का नाश करती है। इसलिये सुकर्म्म करने की इच्छा करे। अब रही अदृष्ट जन्मवेदनीय की दूसरी गति अर्थात् प्रधान कर्म से अप्रधान का समावेश, जिसके विषय मे कहा गया है:—"प्रधान कर्म में यदि थोडा सा संकट भी हो जाय तो उसका परिहार या प्रतिकार हो सकता है और वह उसके फल मे बाधा नहीं डाल सकता। जब प्रधान कर्म उत्कर्ष के लिए है तब उसमें अप्रधान का कुछ अंश अपकर्ष के लिये नहीं हो सकता।

अब तीसरी गति अर्थात् नियत विपाक प्रधान कर्म द्वारा अभिभूत की चिरकाल तक अवस्थिति, यह क्योंकर होती है अदृष्ट जन्मवेदनीय नियतविपाक कर्म का ही मरण अभिव्यक्ति का कारण कहा है न कि अनियत विपाक का। जिसका कोई फल नियत नहीं ऐसा अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्म नष्ट हो वा संकीर्ण हो वा किसी से अभिभूत हो, चिरकाल तक रहता है। जब तक इसका कोई अभिव्यञ्जक कर्म निमित्त होकर इसे फलोन्मुख नहीं करता। फलके ही समान देश, काल और निमित्त के अनवधारण से यह कर्म गति बड़ी ही विचित्र और दुर्ज्ञेय है। उत्सर्ग की अपवाद से निवृत्ति नहीं होती इसलिये एक जन्म का कर्माशय ही इसका कारण है ॥ १३ ॥

भा० का भा०—क्लेशो की विद्यमानता में कर्मों के फल उनके आरम्भ करनेवाले होते हैं, जैसे चावलों पर जबतक तुष (छिलका) रहता है तबतक उनमे उत्पन्न होने की शक्ति रहती है, परन्तु जब उनका छिलका उतार दिया जाता है तब उनमे उत्पन्न होने की शक्ति नहीं रहती। ऐसे ही जबतक कर्मफल में क्लेश रहते हैं, तब तक फल क्लेशों को उत्पन्न करते हैं, परन्तु जिस कर्माशय मे

क्लेशों का अभाव हो गया है, उससे पुनः क्लेशों का उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। कर्म विपाक तीन प्रकार का है, एक जाति, दूसरा आयु, तीसरा भोग अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है, कि एक कर्म से एक जन्म होता है या एक कर्म से अनेक जन्म होते हैं। दूसरा प्रश्न यह है, कि अनेक कर्म अनेक जन्म को देते हैं अथवा अनेक कर्म एक जन्मको देते हैं। इसका उत्तर यह है कि एक कर्म एक जन्म का दाता नहीं है, क्योंकि अनादि काल के इकट्ठे हुए असंख्य कर्मों का फल मिलने में अनियम होगा अर्थात् यदि कहा जाय कि परमेश्वर केवल एक ही जन्म में एक कर्म का फल देता है तो अनादि काल से जो कर्म इकट्ठे हैं उनके फल देने में अनि-यम होगा और मनुष्यों को घबराहट भी होगी और वह अना श्वास अनिष्ट है। इसी कारण एक कर्म से अनेक जन्म भी नहीं हो सकते हैं क्योंकि जब एक ही कर्म से अनेक जन्म हो जायेंगे या अनेक कर्म निष्फल होंगे, क्योंकि एक जन्म में असंख्य कर्म मनुष्य करता है तो सबके फलों का भोगना असम्भव होगा। ऐसे ही अनेक कर्म अनेक जन्मों के दाता भी नहीं हो सकते हैं क्योंकि अनेक जन्मों का एक समय में होना ही असम्भव है। तब कहि येगा कि क्रमशः होंगे तब वही पूर्वोक्त दोष आवेगा इसलिये जन्म प्राप्ति के अनन्तर जो कुछ शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं वे सब एक समूह में मिलकर प्रधान और अप्रधान रूप में जन्म से मरण पर्यन्त एक ही जन्म देते हैं वह जन्म उसही कर्म समुदाय से अल्पायु या दीर्घायु होता है और उस अवस्था में उस ही कर्म समुदाय से जीव भोग करता है इस वास्ते यह कर्म समुदाय जन्म आयु और भोग का हेतु होने से त्रिविपाक कहलाता है। एक जन्म का आरम्भ करने वाला तथा समाप्त करने वाला कर्म समूह कहा। इसका दृष्टान्त मत्स्यघर और महूप है क्लेश और कर्म विपाक की

अनुभव से बनी हुई वासना से मूर्छित हुआ चित्त चित्रलिखित के समान रहता है जो स्मरण करानेवाले संस्कार हैं उन्हें वासना कहते हैं वह वासना अनादि है, क्योंकि कर्म और संस्कार अनादि हैं। पूर्व जो एकभविक (एक जन्म का देनेवाला) कर्मसमूह कहा था वह दो प्रकार का है। एक नियतविपाक और दूसरा अनियत-विपाक उक्त नियम नियतविपाक कर्मसमूहका है क्योंकि जो अदृष्ट जन्म वेदनीय अर्थात् अनियत विपाक कर्मसमूह है उसकी गति तीन प्रकार की है। एक अपक्व फल का नाश, दूसरी प्रधान कर्म मे संयोग, तीसरी प्रधान कर्मफल से अवरोध होकर चिरकाल तक निष्फल रहना। जैसे शुद्ध कर्म के उदय होने से दुष्कर्म यहीं नाश हो जाता है—लिखा भी है कि कर्म की दो राशि समझनी चाहिये एक पुण्यकृत, दूसरी पापकृत ॥ १३ ॥

भो० वृ०—मूलमुक्तलक्षणाः क्लेशाः। तेष्वनभिभूतेषु सत्सु कर्म्मणां कुशलाकुशलरूपाणां विपाकः फलं जात्यायुर्भोगा भवन्ति। जातिर्मनुष्यत्वादिः। आयुश्चिरकालमेकशरीरसम्बन्धः। भोगा विषया इन्द्रियाणि सुखसंवित् दुःखसंविच्च। कर्म्मकरणभावबोधन-व्युत्पत्त्या भोगशब्दस्य। इदमत्रतात्पर्य्यम् चित्तभूमावनादिकाल-सञ्चिताः कर्म्मवासना यथा यथा पाकमुपयन्ति तथा तथा गुणप्र-धानभावेनस्थिता जात्यायुर्भोगलक्षणं स्वकार्य्यमारभन्ते ॥ १३ ॥ उक्तानां कर्म्म फलत्वेन जात्यादीना स्वकारणकर्मानुसारिणा कार्य्य-कर्तृत्वमाह।

भो० वृ० का भा०—जिन क्लेशों के लक्षण पूर्व कह चुके हैं, जब तक वह वर्त्तमान रहते हैं, तब तक अच्छे और बुरे कर्मों के फल, जाति, आयु और भोग होते हैं। जाति अर्थात् मनुष्यत्व और पशुत्व आदि (साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः) जिस समुदाय के व्यक्तियों के अनेक गुण परस्पर मिलते हों उस समु-

जाय का नाम जाति है। आयु का अर्थ यह है कि चिरकाल तक जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध रहना। भोग का अर्थ है विषय इन्द्रिय, सुखज्ञान और दुःखज्ञान। सुख और दुःखादि विषय कर्म करने के मार्गों का जागृत करते हैं। इस कारण यही भोग शब्द के शब्दार्थ हैं चित्त में जो अनादिकाल से कर्मों की वासना संचित रहती है वह ज्यों ज्यों परिपक्व होती जाती वैसे ही वैसे प्रकृति के सत्त्व रज और तम आदि गुणों की प्रधानता से जाति; आयु और भोग अपने अपने कार्य को आरम्भ करते हैं ॥ १३ ॥ उक्त जाति आदि कर्मों के फल हैं, इस कारण कर्मों के अनुसार ही फल भी पाते हैं।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥१४॥

सू० का प०—(ते) वे (ह्लादपरितापफलाः) आनन्द और दुःख फलयुक्त हैं (पुण्यापुण्यहेतुत्वात्) पुण्य और पाप हेतु होने से ॥ १४ ॥

सू० का भा०—वे जाति आयु और भोग आनन्द और दुःख फल देने वाले हैं क्योंकि इनका हेतु पुण्य और पाप है ॥ १४ ॥

ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुका दुःखफला इति। यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥१४॥ कथं तदुपपाद्यते।

भा० का भा०—वे जाति, आयु, और भोग पुण्यमूल वाले सुख फल देनेवाले हैं, पापमूल वाले दुःखफल देने वाले हैं जैसे ये दुःख अप्रिय हैं वैसे ही विषयसुख काल में भी योगी को अप्रिय (दुःख)

ही हैं। क्यों कर दुःख है, इसका प्रतिपादन करते हैं—

भा० का भा०—वे जन्म, आयु, भोग पुण्यहेतुक सुखफल देने वाले और पापमूलक दुःख फलवाले हैं जैसे दुःख पापात्मक है ऐसे ही सुखकाल में भी योगी को पापमूलक होता है। वह कैसे उत्पन्न होते हैं ?॥ १४॥

सू०—जगत में कर्म दो ही प्रकार के होते हैं, एक पुण्यरूप अर्थात् शुभ कर्म, दूसरे पापरूप अशुभ कर्म, इन्हीं से जन्म, आयु और भोग होते हैं। इस कारण से जन्म, आयु और भोग भी सुख और दु ख स्वरूप ही होते हैं। पुण्य कर्म से सुखस्वरूप होते हैं। और पाप से दुःख स्वरूप होते हैं। परन्तु यह भेद सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में होते हैं। योगी को नहीं, सो अगले सूत्र में दिखलाते हैं।

भो० वृ०—ह्लादः सुखं परितापो दुखं, तौ फलं येषा ते तथोक्ताः। पुण्यं कुशलं कर्म तद्विपरीतवपुण्य ते पुण्यापुण्ये कारणे येषा तेषा भावस्तत्वादेतदुक्तं भवति पुण्यकर्मारब्धा जात्यायुर्भोगाः। ह्लादफला अपुण्यकर्म्मारब्धास्तु परितापफलाः। एतच्च प्राणिमात्रापेक्षतया द्वैविध्यम्॥ १४॥ योगिनस्तत्सर्वं दुःखमित्याह।

भो० वृ० का भा०—ह्लाद सुख को और परिताप दुःख को कहते हैं अर्थात् जाति, आयु और भोग सुख और दुःख के दायक होते हैं। अच्छे कर्म को पुण्य और बुरे कर्म को अपुण्य वा पाप कहते हैं, इस सूत्र का फलितार्थ यह है, कि पुण्य कर्म से आरम्भ हुए जाति, आयु और भोग सुख के देने वाले और पाप कर्म से आरम्भ हुए जाति आयु और भोग दुःख के देने वाले होते हैं ॥१४॥ परन्तु योगी सबही को दुःख समझते हैं, यह अगले सूत्र में कहा जायगा।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

सू० का पदा०—(परिणामतापसंस्कारदुःखैः) परिणाम ताप संस्कार और दुःखों से (गुणवृत्तिविरोधात्) सत्त्वादि गुणों के अन्य विरोध से (दुःखमेव) दुःख ही है (विवेक युक्त योगी को) ॥ १५ ॥

सू० का भा०—परिणाम, ताप संस्कार और दुःखों से तथा गुणों के वृत्तिनिरोध होने से जो होता है उस सबको विवेकशील दुःख ही मानते हैं ॥ १५ ॥

व्या० द० का भा०—सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः। तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः। तथा चोक्तम्—'नानुपहत्यभूतान्युपभोगः सम्भवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशयः' इति। विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम्। या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्। या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम्। न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्। कस्मात् यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति, तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाऽऽशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति। एषा परि-

णामदुःखतानाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति।

अथ का तापदुःखता, सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः। सुखसाधानानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति। स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा ताप दुःखतोच्यते। का पुनः संस्कारदुःखता, सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति। एवङ्कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति।

एवमिदमनादिदुःखस्रोतविप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति कस्मात्, अक्षिपात्रकल्पोहि विद्वानिति। यथोर्णा तन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तःस्पर्शेन दुःखयति न चान्येषु गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरम्प्रतिपत्तारम्। इतरन्तु स्वकर्म्मोपहृतंदुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादि वासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्तोऽनुविद्धमिवविद्यया हातव्य एवाहङ्कारममकारानुपातिनञ्जातं जातं बाह्याध्यात्मिको भयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते तदेवमनादिमादुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानंभूतग्रामंच दृष्ट्वा योगी सर्वदुःख-

क्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति।

गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्। रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते। एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्ययाः सर्वे सर्वरूपा भवन्तीति, गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति। तस्मात् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति।

तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या। तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम् रोगोरोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम् हानोपायः सम्यग्दर्शनं तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं वा हेयं वा न भवितुमर्हतीति हाने तस्योच्छेदवादप्रसंग उपादाने च हेतुवादः। उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम् ॥ १५ ॥ तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते—

भा० का प०—राग में लिपटे हुए सब पुरुषों का चंचल और अचेतन साधनों के अधीन सुख का अनुभव होता है। इससे दुःखों

शय राग से उत्पन्न होता है। तैसे ही दुःख के साधनों से द्वेष करता है और मोहित होता है, इसलिए द्वेष मोहकृत भी कर्माशय है जैसा कि कहा है प्राणियों को बिना पीड़ा दिये विषयसुख का होना असम्भव है इसलिए हिंसाकृत भी शारीरिक कर्म समूह है विषय सुख को अविद्या कहते हैं।

जो भोगेन्द्रियों की तृप्ति की शान्ति है वह सुख है जो चञ्चलता से अशान्ति होती है वह दुःख है (भोगाभ्यासेन) भोग के अभ्यास से इन्द्रियों के विषय में विरक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जहाँ भोगाभ्यास है, वहाँ राग और इन्द्रियों की चंचलता बढ़ती है इसलिए भोगाभ्यास सुख का साधक नहीं है बिच्छू के विष से डरा हुआ साँप से काटा गया जो सुख की इच्छा करने वाला विषयों में लिप्त होता है वह कीचड में फँस जाता है। यह प्रतिकूल परिणामदुःखता सुख की अवस्था में भी योगी ही को दुःख देती है। अब प्रश्न यह है कि तापदुःखता किसे कहते हैं, द्वेष से युक्त सब प्राणियों को चेतन और अचेतन साधनों के द्वारा ताप का अनुभव होता है द्वेष से उत्पन्न हुआ (कर्माशय) कर्म समूह है। सुख के साधनों को चाहने वाला शरीर' वचन और मन से कुछ उद्योग करता है इसके पश्चात् किसी पर अनुग्रह करता है अथवा किसी का उत्पीडन करता है। इस अनुग्रह और उत्पीडन से धर्म और अधर्म का संग्रह करता है। यह कर्माशय लोभ और मोह से होता है। यही तापदुःखता कहाती है। फिर संस्कारों की अधिकता इस प्रकार से कर्म द्वारा फल का अनुभव करने पर सुख अथवा दुःख मे पुनर्वार कर्म और फल का संग्रह हो जाता है।

इस प्रकार से यह विस्तृत अनादि दुःखप्रवाह योगी ही को विरुद्ध होने के कारण दुःख देता है। क्योंकि विद्वान् चक्षु के

समान होता है। जैसे मकड़ी का जाला नेत्र के गोलक में लगने से दुःख होता है वैसा शरीरके अन्य भागों में नहीं। इस प्रकारसे सब दुःख अक्षिपात्र के समान योगी ही को दुःख देते हैं अन्य विषय करने वालों को नहीं अन्य लोगों को अपने कर्म से संचय किये दुःख बार २ ग्रहण किये हुये को त्यागना और बार २ त्याग हुये को पुनः ग्रहण करना रूप अनादि वासना से चित्रित चित्त वृत्ति से चारों ओर से अनुविद्ध अहंकार और ममता के पीछे दौड़ने वाले लोगों को तीन ताप सदा घेरे रहते हैं। इस प्रकार से अनादि दुःख के प्रवाह से बचे हुए आत्मा को तथा पञ्चभूत समुदाय को देखकर योगी सब दुःखों के नाश करने वाले निमित्त सम्यग्दर्शन (यथार्थ ज्ञान) के आश्रय को धारण करते हैं।

गुण और मनोवृत्तियों के विरोध से विचारशील मनुष्य का सब दुःख ही है बुद्धि के यह तीन गुण हैं एक प्रख्या अर्थात् विचार दूसरा प्रवृत्ति अर्थात् तत्परता तीसरा स्थिति अर्थात् योग ये तीनों गुण आपस में एक दूसरे के सहायक होकर शान्त घोर अथवा मूढ़ तीन प्रकार के ज्ञान आरम्भ करते हैं गुणों का स्वभाव चल है और चित्त क्षिप्रपरिणामी है, रूप और वृत्तियाँ एक दूसरे से विरुद्ध हैं सामान्य गुण विशेष गुणों के संग वर्तते हैं इस प्रकार से गुण एक दूसरे के आश्रय से सुख दुःख तथा मोह को उत्पन्न करते हैं सब गुण एक रूप हो जाते हैं गुण की प्रधानता ही इनमें विक्षेप है इसलिए विचार शील को सब दुःख ही जान पड़ते हैं।

इसलिए इस महा दुःखसमूह का उत्पन्न करने वाला बीज अविद्या है और उस अविद्या का यथार्थ ज्ञान ही नाश का कारण है। जैसे आयुर्वेद चार भाग वाला है १ रोग २ रोग का कारण, ३ आरोग्य ४ भैषज्य अर्थात् रोग निवृत्ति का उपाय। इस ही प्रकार से यह योगशास्त्र भी चार भाग वाला है जैसे १ संसार, २ संसार

हेतु ३ मोक्ष, ४ मोक्षोपाय। जिसमे दुःख की अधिकता हो वह ससार हेय है प्रधान प्रकृति और पुरुष आत्मा का संयोग मानना संसार का हेतु है संसार के संयोग की अत्यन्त निवृत्ति होना यथार्थ ज्ञान अथवा सम्यग्विचार ही हीनोपाय है उनमें हेतु का स्वरूप ग्राह्य वा त्याज्य नहीं है यह त्याग से और उनके उच्छेदवाद में और उपादान में हेतु बाद है दोनों के त्याग में शाश्वत् अर्थात् अनादिवाद कहाता है यही यथार्थ ज्ञान कहलाता है॥ १५॥ यह शास्त्र चार भाग वाला कहलाता है।

भा० का भा०—सुख-दुःख का ज्ञान प्राणिमात्र को राग के द्वारा होता है। कर्मसमूह तीन प्रकार का है। एक रागज दूसरा द्वेषज, तीसरा मोहज, ऐसा ही अन्य ऋषियों का भी मत है। अर्थात् बिना हिंसा के मोह होना असम्भव है। शारीरिक हिंसा-कृत भी कर्म्म होते हैं, इसलिए सासारिक भोग को अविद्या कहते हैं सुख का लक्षण यह है कि "जो भोग से इन्द्रियों की तृप्ति शान्ति है उसे सुख कहते हैं" और दुःख कहते हैं" यदि कोई कहै, कि विषय भोग से इन्द्रियाँ स्वयं थककर शान्त हो जायगीं, तो इसका उत्तर यह है, कि भोग के अभ्यास से इन्द्रियाँ कभी शान्त नहीं हो सकतीं। क्योंकि अभ्यास से भोग को वृद्धि होती है और इन्द्रियाँ अपने विषयों में चञ्चल होती जाती हैं। इसलिये सुखप्राप्ति का उपाय भोगाभ्यास नहीं हैं, और जो ऐसा उपाय करता है उसका वही हाल होता है, जैसे कोई मनुष्य बीछी से डर कर भागा परन्तु उसे सर्प ने काट लिया, ऐसे जो मनुष्य इन्द्रियों की शान्ति के वास्ते विषय भोग करता है उससे वह और भी फँसकर दुःख का भागी होता जाता है।

यह परिणामदुःखता सुखावस्था में भी योगी को दुःख देती है अब प्रश्न यह है, कि पाप दुःखता किसे कहते है? सब लोगों

को ताप का वा अनुभव होता है चाहे वह चेतन से हो वा जड़ से हो, वह ताप द्वेष से ही होता है। इससे सिद्ध होताहै कि सुख से कर्म्म द्वेषज हैं। सुखसाधन प्राप्ति की कामना से जो मनुष्य शरीर, मन और वाक्य से यत्न करता है उस यत्न में जो उसके सहायक होते हैं, उन पर अनुग्रह करता है और जो विघ्नकारक होते हैं, उनको मारता भी है। तो यह कर्म्म लोभ और मोह से उत्पन्न होते हैं। इससे मनुष्य धर्म्म वा अधर्म्म का संग्रह करता है। इसे ही ताप दुःखता कहते हैं। भोग के समय से जो सुख के नाश का भय रहता है उसे तापदुःखता कहा जाता है। अब पुनः प्रश्न है, कि संस्कारदुःखता किसे कहते हैं? उ०—सुख के अनुभव से सुख के संस्कारों की अधिकता होती है और दुःख के अनुभव से दुःख के संस्कारों की और उन संस्कारों से पुनर्वार मनुष्य दुःख सुख का संग्रह करता है। ऐसे यह अनादि दुःखस्रोत बहता है किन्तु यह स्रोत योगियों को अधिक दुःख देता है जैसे नेत्र में मक्खी लगने से दुःख होता है वैसे ही योगियों को यह संस्कार दुःख देते हैं।

जिस प्रकार से आयुर्वेद चतुर्व्यूह कहलाता है, अर्थात् रोग, रोग हेतु, आरोग्य और चिकित्सा वैसे ही यह योगशास्त्र भी चतुर्व्यूह है अर्थात् संसार संसार हेतु, मोक्ष, मोक्षोपाय संसार उसे कहते जिसमें दुःख की अधिकता रहती है, योगाभ्यास द्वारा ईश्वर को न विचारना अर्थात् विपर्ययादि संसार का हेतु है— योगाभ्यास से संसार के बन्धन का काटना मोक्ष है और मोक्ष का उपाय यथार्थज्ञान है।

सू०—योगी की दृष्टि में सब दुःख ही है क्योंकि सुख का भी अन्त होता है और जिस समय अत्यन्त दुःख भोग होता है। दुःख रूपता ३ प्रकार की है एक परिणामदुःखता दूसरी तापदुःखता

और तीसरी संस्कारदुःखता । सुख के अन्तमें दुःख अवश्य होता है, इसका नाम परिणामदुःखता है । सुख के समय मे भी अपने समान मनुष्यों से ईर्षा नीचोंसे घृणा बनी रहती है तथा जो मनुष्य सुखी के सुख भंग का उपाय करे उससे द्वेष होता है । इत्यादि कारणोंसे सुखीके मनमें एक प्रकार का ताप बना रहता है, इस ही का नाम तापदुःखता है । मनुष्य जिस सुख वा दुःख का भोग करता है उसके हृदय में संस्कार स्थिर हो जाता है । सुख के नाश होजाने के पश्चात् वह संस्कार स्मृति द्वारा महा दुःखदायी होते हैं इसको सस्कार दुःखता कहते हैं । सांसारिक सुखों में सदा सत्व-गुण का ही प्रकाश नहीं रहता है, वरन रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों का भी प्रादुर्भाव होता रहता है इन गुणों की वृत्ति पर-स्पर अत्यत विरुद्ध है, इस कारण से उनके परिवर्त्तन में महादुःख होता है । इस ही गुण परिणाम को संस्कार कहते हैं ।

तात्पर्य्य यह है की दृष्टि मे मोक्ष के अतिरिक्त और सब दुःख ही हैं । पिछले सूत्र में क्लेशों के मूल अविद्या का वर्णन किया है और अविद्या सम्यक् ज्ञान की विरोधिनी है अतएव वह अपने साधनों के सहित त्यागने के योग्य है— इस ही का अगले सूत्र में वर्णन करेंगे ॥ १५ ॥

भो० वृ०—विवेकिनः परिज्ञातक्लेशादि विवेकस्य परिदृश्य-मानं सकलमेव भोगसाधनं सविषं स्वादन्नमिव दुःखमेव प्रतिकूल-वेदमायमेवेत्यर्थः । यस्मादत्यन्ताभिजातो योगी दुःखलेशेनाप्युद्वि-जते । यथाक्षिपात्रमूर्णारन्तुस्पर्शमात्रेणैव महतीं पीडामनुभवती नेतरदङ्गं तथा विवेकी स्वल्पदुःखानुबन्धेनापि उद्विजते । कथमि-त्याह—परिणामतापसंस्कारदुःखैर्विषयाणामुपभुज्यमानानां यथाय-थगर्द्धाभिवृद्धेस्तदप्राप्तिकृतस्य दुःखस्याहरिहार्य्यतया दुःखान्तर-साधनत्वात् चास्त्येव दुःखरूपतेति परिणामदुःखत्वम् उपभुज्यमा-

येषु सुखसाधनेषु तत्प्रतिपन्थिनं प्रतिद्वेषस्य सर्वदैवावस्थितत्वात् सुखानुभवकालेऽपि तापदुःखता। संस्कारदुःखत्वं तु स्वाभिमतानभिमतविषयसन्निधाने सुखसंवित् दुःखसंविच्चोपजायमाना तथाविधमेव स्वक्षेत्रे संस्कारमारभते संस्काराच्च पुनस्तथाविध स्मृतिरनुभव इत्यपरिमितसंस्कारोत्पत्तिद्वारेण संसारानुच्छेदात् सर्वस्यैव दुःखत्वम्। गुणवृत्तिविरोधाच्चेति—गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहरूपाः परस्परमभिभाव्याभिभावकत्वेन विरुद्धा जायन्ते तासां सर्वत्रैव दुःखानुवेधाद् दुःखत्वम् तदुक्तं भवति—ऐकान्तिकीमात्यन्तिकीं च दुःखनिवृत्तिमिच्छतो विवेकिन एवंरूपकारणचतुष्टयात् सर्वे विषया दुःखरूपतया प्रतिभान्ति। तस्मात्सर्वकर्मविपाको दुःखरूप एवेत्युक्तं भवति॥ १५॥ तदेवमुक्तस्य क्लेशकर्माशयविपाकराशेरविद्याप्रभवत्वादविद्यायाश्च मिथ्याज्ञानरूपतया सम्यग्ज्ञानोच्छेद्यत्वात् सम्यग्ज्ञानस्य च साधनहेयोपादेयावधारणरूपत्वात् तदभिधानायाह—

भो० वृ० का भा०—विवेकी अर्थात् जिसको क्लेशों के पूर्ण तत्त्व का विवेक है उसको सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ और भोग ऐसे दुःख दायक जान पड़ते हैं जैसे विष से मिला हुआ स्वादिष्ठ अन्न भी त्याग करने योग्य होता है। ऐसे ही योगी को संस्कार सब विषय और भोग दुःखरूप ही जान पड़ते हैं, जिससे विवेक शील योगी दुःख के अत्यन्त सूक्ष्म अंश से भी घबड़ाता है। जैसे आंखों के पलकों पर मकड़ी के स्पर्श से अत्यन्त पीड़ा जान पड़ती है वैसे दूसरे के अङ्ग में उसका स्पर्श होने से पीड़ा नहीं जान पड़ती है। ऐसे ही अविवेकी मनुष्यों को अधिक दुःख में भी उद्वेग नहीं होता है पर योगी को दुःख के लेश में भी बड़ा उद्वेग होता है। दुःख का उद्वेग क्योंकर होता है? सब सुखों का वा दुःखों का परिणाम अर्थात् परिवर्तन होता है। कोई भी सुख सदा स्थिर

नहीं रहता और जब सुख विनष्ट होता है तो उसके वियोग में महादुःख जान पडता है इस कारण सुख और दुःख दोनों ही पीडादायक हैं। ताप, संस्कार और दु खों के कारण जो विषय भोग किये जाते हैं, उनमें लोभ उत्पन्न होता है, पर जब उन विषयों की प्राप्ति नहीं होती तो उससे सुख वा दुःख अवश्य होता है वह दुःख फिर दूसरे दुःख को उत्पन्न करता है इससे विषयों में सुख-रूपता नहीं है। परिणामदुःखता का अर्थ यह है कि जिन विषयों को सुख का साधन समझके ग्रहण किया जाता है उनके ही विरोधी सुख को नाश करने वाले दूसरे विषय होते हैं (अथवा सुख का परिणाम अन्त भी हो जाता है) फिर अपने सुख के विरोधियों का जो सुखभोग के समय ध्यान रहता है उसे ताप दुःखता कहते हैं। संस्कार दुःखता का अभिप्राय यह है, कि वाञ्छित और अनिच्छित विषयों की समीपता में सुख और दुःख ज्ञान उत्पन्न होता है और वैसे ही उनसे संस्कार उत्पन्न होते हैं और संस्कारों से फिर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से असंख्य संस्कार जो उत्पन्न होते हैं वह सब दुःखों से पूरित रहते हैं इस कारण सब दुःख स्वरूप ही हैं। क्लेश, कर्म्म, कर्म्मफल और संस्कार सबही दुःखमय होते हैं। गुणवृत्ति विरोध का अर्थ यह है कि सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की जो सुख, दुःख और मोहरूपी वृत्ति हैं वह एक दूसरे को जीतने वाली होती हैं अर्थात् जब तमोगुण की मोहरूपी वृत्ति सतोगुण और रजोगुण की वृत्तियों को दबाकर आप प्रकाशित होती है, तब मनुष्य के सुख को नाश कर देती है। ऐसे ही और वृत्तियों की भी दशा है इस कारण वह सब वृत्तियाँ दुःख रूप हैं' तात्पर्य यह है कि योगी सब वृत्तियों में परिणाम दुःखता, तापःदुखता और सस्कार दुःखता एवम् वृत्तिविरोध को देखकर समस्त सांसारिक सुखों को भी

दुःख ही समझते हैं और आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति की इच्छा से सबको त्यागने का उपाय करते हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार से सिद्ध हुआ कि क्लेश कर्म और कर्म फलों का कारण अविद्या और मिथ्याज्ञान का अविद्या कहते हैं वह सम्यक् ज्ञान से नष्ट हो जाती है सम्यक् ज्ञान से ग्रहण करने और त्यागने योग्य पदार्थों का ज्ञान होता है यही आगे कहते हैं:—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

सू० का पदा०—(हेयम्) त्यागने योग्य (दुःखम्) दुःख (अनागतम्) अप्राप्त ॥ १६ ॥

सू० का भा०—अप्राप्त दुःख त्यागने योग्य है ॥ १६ ॥

व्या० दे० का भा०—दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते वर्तमानञ्च स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत्-क्षणान्तरे हेयतामापद्यते । तस्माद्यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षि पात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति नेतर प्रतिपत्तारम् । तदेव हेयतामापद्यते ॥ १६ ॥ तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणंप्रतिनिर्दिश्यते ।

भा० का पदा०—अतीत गुजरा हुआ दुःख भोग से बिताया गया है वह त्याग करने योग्य नहीं है । तथा वर्तमान अपने क्षण में भोगारूढ है वह अन्य क्षण में त्याग योग्यता का नहीं प्राप्त होता है इसलिए जो अप्राप्त दुःख है वह ही आँख की अन्धेरी के समान योगी को क्लेशदाता है और प्रवृत्ति मात्र का नहीं वह त्याज्यभाव का प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ इसलिए यही त्याज्य कहा जाता है उस ही कारण के प्रति निर्देश किया जाता है ।

भा० का भावा०—जो दुःख व्यतीत हो चुका है अर्थात् पूर्व का है उसका फल भोगा जा चुका है वह त्यागने योग्य नहीं है और जो वर्त्तमान है सो स्वक्षण अर्थात् इस ही समय भोग में स्थित है वह क्षणान्तर में त्याज्य नहीं होगा। इसलिए जो दुःख अप्राप्त है वह ही अन्धेरी के समान योगी को दुःख देता है दूसरे पुरुषों को वह त्यागने योग्य है। इस ही से उसे त्याज्य कहते हैं। उस ही का कारण दिखलाया जाता है ॥ १६ ॥

१६ सू०—बीते हुये दुःख त्यागने योग्य नहीं है क्योंकि उनका भोग हो चुका है और वर्त्तमान दुःख भी त्यागने योग्य नहीं हैं, क्योंकि उनका प्रताप प्रबल हो रहा है। यद्वा वर्त्तमान का कुछ भाग व्यतीत में और कुछ भाग भविष्यत् में संयुक्त हो जाता है। अतएव वर्त्तमान दुःख हेय कोटि में नहीं आ सकते हैं, किंतु भविष्यत् दुःख ही त्यागने योग्य हैं ॥ १६ ॥

भो० वृ०—भूतस्यातिक्रान्तत्वादनुभूयमानस्य च त्यक्तुमशक्यत्वादनागतमेव संसारदुःखं हातव्यमित्युक्तं भवति ॥ १६ ॥ हेयहेतुमाह।

भो० वृ० का भा०—भूत अर्थात् गत समय का दुःख निवृत्त हो गया जिसको भोग रहे हैं उसका भी त्यागना असम्भव है, इस कारण भविष्य संसार दुःख ही त्यागने योग्य है ॥ १६ ॥ आगे हेयहेतु का वर्णन करते हैं।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

सू० का पदा०[द्रष्टृदृश्ययोः] द्रष्टा—देखने वाला और दृश्य दर्शनीय पदार्थ का संयोग त्यागने योग्य दुःख का मूल है ॥ १७ ॥

सू० का भाषा०—देखनेवाला पुरुष और जिस वस्तु को देखे अर्थात् दृश्य संसार इनका जो संयोग है वह त्याज्य का मूल है।१७

व्या० दे० का मा०—द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः अनुभवकर्मविषयतामापन्नं यतः। अन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्परतन्त्रम्।

तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः तथा चोक्तम्—तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। कस्मात्—दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता कण्टकस्य भेत्तृत्वं परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाधिष्ठानम्। एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति। कस्मात् त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति। अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम् कस्मात् तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्, सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे दर्शितविषयत्वात्। सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽप्यनुतप्यत इति ॥१७॥ दृश्यस्वरूपमुच्यते।

भा० का प०—बुद्धि से जाननेवाला पुरुष द्रष्टा कहलाता है, बुद्धि

में स्थित सब धर्म दृश्य कहलाते हैं । ये दृश्य स्फटिकमणिके समान समीपस्थमात्र के उपकरण दृश्यभाव से दर्शन के स्वामी पुरुष के स्वभाव में परिणत होकर अनुभवविषयता को प्राप्त होते हैं । और स्वरूप से प्राप्त होने वाले स्वतन्त्र भी परार्थता से परतन्त्र कहलाते हैं ।

[तयोः] उन दोनों द्रष्टा और दृश्य शक्ति का अनादि जो अर्थकृत संयोग है वह हेयहेतु अर्थात् दुःख का कारण है ऐसा अन्यत्र भी कहा है, उसके संयोग रहित होने से अत्यन्त दुःख का प्रतिकार होता है क्योंकि नाश करने योग्य दुःख हेतु का [परिहार्यस्यप्रतीकार] देखने से जैसे [पादतलस्य] पैर का तलुआ भेद्य और काटा भेदक है । इसके परिहार के दो ही उपाय हैं या तो पैर काटे में रक्खा ही न जावे और यदि रक्खा जाय तो पादत्राण (जूता) पहनकर, इन तीनों को अर्थात् भेद्य, भेदक और परिहार अथवा हेय, हेतु और प्रतिकार को जो जानता है संसार में वह उनके नाशक उपाय का आरम्भ करता हुआ भेदोत्पन्न दुःख को नहीं प्राप्त होता है त्रिविध ज्ञान के सामर्थ्य से योग में भी तापक रजोगुण का सत्व ही तप है क्योंकि तपिक्रिया के कर्मस्त होने से क्योंकि सत्व कर्म में ही तपिक्रिया रहती है, न कि अपरिणामी निष्क्रिय क्षेत्रज्ञ मे, सत्व के तपित होने से उसके अदृश्य का अनुसरण करने वाला जीव तापित होता है ॥ १७ ॥ अब दृश्य का स्वरूप कहते हैं ।

भा० का भा०—बुद्धि के साक्षी जीव को द्रष्टा कहते हैं । तथा बुद्धिस्थ समस्त कर्मों को दृश्य कहते हैं, वही दृश्य स्फटिक के समान पार्श्वस्थ मात्र का उपकारी दृश्य होने के कारण होता है । पुरुष अर्थात् जीव को अपने विषय में अनुभव विषयता को प्राप्त होने से स्वरूपान्तर होने योग्य स्वतन्त्रता भी, परार्थ होने से पर-

उष्णता के समान हो जाती है, उन दृक् और द्रष्टा की शक्ति का जो अनादि अर्थकृत सम्बन्ध है' सो दुःख का कारण है। ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है उनका संयोग अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध छोड़ने से बहुत दुःख दूर होता है' सो दुःख के परिहार अर्थात् त्याग का हेतु है उनका प्रतीकार दीखता है। दृष्टान्त है कि चरण का तलवा भेद्य अर्थात् छेदन योग्य और कण्टक भेदक अर्थात् छेदन करने वाला होता है जिसका परिहार कण्टक का चरण में न रखना है अथवा पादत्राण जूता से रक्षित चरण का अधिष्ठान है। इन तीनों को जो जानता है वह रक्षा पाता है ऐसे ही दृक्, दृश्य और प्रतीकरण को जो संसार में जानता है, वह दुःख नाश में उपाय करता हुआ भेदोत्पन्न दुःख को नहीं प्राप्त होता है : फलितार्थ यह है कि जो पुरुष द्रष्टा दृश्य और उनके संयोग को जानता है वही इस दुःख के हेतु को त्याग कर मुक्त होता है ॥ १७ ॥

भो० वृ०—द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषः दृश्यं बुद्धिसत्त्वं तयोरविवेकख्यातिपूर्वको योऽसौ संयोगो भोग्यभोक्तृत्वेन संनिधानं हेयस्य दुःख-स्य गुणपरिणामरूपस्य संसारस्य हेतुः कारणं तन्निवृत्त्या संसार निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ द्रष्टृदृश्ययोः संयोग इत्युक्तं तत्र दृश्यस्य स्वरूपं कार्यंप्रयोजनञ्चाह—

भो० वृ० का भा०—द्रष्टा चैतन्य स्वरूप पुरुष है दृश्य बुद्धि सत्त्व है, उन दोनों का जो अविवेक वा अविचार से संयोग अर्थात् एकता का अहंकार है अर्थात् भोग्य और भोक्ता की जो समीपता है वही हेय अर्थात् संसार रूप दुःख का हेतु है। उसकी निवृत्ति दुःख की निवृत्ति होती है ॥ १७ ॥ द्रष्टा का स्वरूप पिछले सूत्र में कहा था इस कारण अगले सूत्र में दृश्य का स्वरूप, कार्य और प्रयोजन कहा जायगा—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाप-वर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

सू० का पदार्थ—(प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्) प्रकाश सत्वगुण, क्रिया रजोगुण और स्थिति तमोगुणसे युक्त (भूतेन्द्रियात्मकम्) पञ्चभूत और पञ्च इन्द्रियात्मक (भोगापवर्गार्थम्) भोग और मोक्षार्थ (दृश्यम्) दृश्य कहाता है ॥ १८ ॥

सू० का भा०—सत्व, रज और तम, गुणों से युक्त भूतात्मक और इन्द्रियात्मक तथा भोग मोक्ष का हेतु जो है उसे दृश्य कहते है ॥ १८ ॥

व्या० दे० का भा०—प्रकाशशीलं सत्वम् । क्रिया-शीलं रजः स्थितिशीलं तम इति । एते गुणाः परस्परोपर-क्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोगवियोगधर्म्माण इतरेत-रोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्परांगांगित्वेऽप्यसम्भिन्नशक्ति-प्रविभागास्तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शितसन्निधाना गुणत्वेऽपि च व्यापार-मात्रेण प्रधानान्तर्नीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः सन्निधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिक-ल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधानश-ब्दवाच्या भवन्ति एतद्दृश्यमित्युच्यते । तदेतद्भूतेन्द्रिया-त्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते तथे-

उष्णता के समान हो जाती है, उस दृक् और दृश्य की शक्ति का जो अनादि अविद्याकृत सम्बन्ध है' जो दुःख का कारण है। ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है उनका संयोग अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध छोड़ने से बहुत दुःख दूर होता है' जो दुःख के परिहार अर्थात् त्याग का हेतु है उनका प्रतीकार दीखता है। दृष्टान्त है कि चरण का तलुवा भेद्य अर्थात् छेदन योग्य और कण्टक भेदक अर्थात् छेदन करने वाला होता है जिसका परिहार कण्टक का चरण में न लगना है अथवा पादत्राण जूता से रक्षित चरण का अधिष्ठान है। इन तीनों को जो जानता है वह दुःख पाता है ऐसे ही एक दृश्य और प्रतीकरण को जो संसार में जानता है, वह दुःख नाश में उपाय करता हुआ भेदात्मक दुःख को नहीं प्राप्त होता है : अभिप्राय यह है कि जो पुरुष द्रष्टा दृश्य और उनके संयोग को जानता है वही इस दुःख के हेतु का त्याग कर मुक्त होता है ॥ १७ ॥

भो० वृ०—द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषः दृश्यं बुद्धिसत्त्वं तयोरविवेकख्यातिपूर्वको योऽसौ संयोगो भोग्यभोक्तृत्वेन सन्निधानं हेयस्य दुःख स्य गुणपरिणामरूपस्य संसारस्य हेतुः कारणं तन्निवृत्त्या संसार निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ द्रष्टृदृश्ययोः संयोग इत्युक्तं तत्र दृश्यस्य स्वरूपं कार्यं प्रयोजनमाह—

भो० वृ० का भा०—द्रष्टा चैतन्य स्वरूप पुरुष है दृश्य बुद्धि सत्त्व है, उन दोनों का जो अविवेक या अविचार से संयोग अर्थात् एकता का अहंकार है अर्थात् भोग्य और भोक्ता की जो समीपता है वही हेय अर्थात् संसार रूप दुःख का हेतु है। उसकी निवृत्ति दुःख की निवृत्ति होती है ॥ १७ ॥ द्रष्टा का स्वरूप पिछले सूत्र में कहा था इस कारण अगले सूत्र में दृश्य का स्वरूप, कार्य और प्रयोजन कहा जायगा—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

सू० का पदार्थ—(प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्) प्रकाश सत्वगुण, क्रिया रजोगुण और स्थिति तमोगुणसे युक्त (भूतेन्द्रियात्मकम्) पञ्चभूत और पञ्च इन्द्रियात्मक (भोगापवर्गार्थम्) भोग और मोक्षार्थ (दृश्यम्) दृश्य कहाता है ॥ १८ ॥

सू० का भा०—सत्व, रज और तम, गुणों से युक्त भूतात्मक और इन्द्रियात्मक तथा भोग मोक्ष का हेतु जो है उसे दृश्य कहते है ॥ १८ ॥

व्या० दे० का भा०—प्रकाशशीलं सत्वम् । क्रियाशीलं रजः स्थितिशीलं तम इति । एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोगवियोगधर्म्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसम्भिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शितसन्निधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्नीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः सन्निधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति एतद्दृश्यमित्युच्यते । तदेतद्भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते तथे-

न्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति। तत्तु नाप्रयोजनमपि तु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति भोगाप वर्गार्थं हि तद्दृश्यं पुरुषस्येति। तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपाव धारणमविभागापन्नं भोगो भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति। द्वयोरतिरिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति तथाचोक्तम्—अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नान नुपश्यन्नदर्शनमन्यच्छङ्कत इति।

तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव प्रवर्तमाने कथं पुरुषेऽपदिश्येते इति। यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते सहि तस्य फलस्य भोक्तेति एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते सहि तत्फलस्य भोक्तेति। बुद्धेरेव पुरुषार्थपरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्था-वसायो मोक्ष इति। एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभि निवेशाबुद्धौ वर्तमानाःपुरुषेऽध्यारोपितसद्भावा सहि तत्फल-स्योपभोक्तेति ॥ १८ ॥ दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदावधा-रणार्थमिदमारभ्यते ॥

भा० का पदा०—(प्रकाशक्रियास्थितिशीलम् दृश्यम्) सत्त्वगुण प्रकाश-स्वभाव वाला है, रजोगुण का स्वभाव क्रियाकारित्व है, तमोगुण का स्वभाव स्थितिशील है ये सब गुण एक दूसरे के आश्रयीभूत और भिन्न २ हैं तथा अवस्थान्तर को धारण करने वाले हैं एवं

संयोग, वियोग धर्म वाले हैं। एक दूसरे की सहायता से रूप को धारण करने वाले हैं।। परस्पर अगांगिभाव में भी जिनकी शक्ति और विभाग दूर नहीं होते, तुल्य जातीय और अतुल्य जातीय शक्ति को धारण करने वाले प्रधान वेला अर्थात् समाधि समय में अपनी समीपता दिखलाते हैं और गुण भाव होने पर भी व्यापार मात्र से प्रधान के अन्तर्भूत इनकी विद्यमानता अनुमान की जाती है। प्रयुक्त सामर्थ्य होकर सन्निधि मात्र से दूसरे का अनुकरण करने वाले स्फटिक मणि के समान निश्चय वा ज्ञान के विना किसी एक की वृत्ति के अनुसार चलनेवाले प्रधान शब्द वाच्य कहलाते हैं इन्हीं गुणों को दृश्य कहते हैं।

सो यह भूतेन्द्रियात्मक तत्व पृथिवी आदि पञ्चभूतों के तथा श्रोत्रादि पञ्चेन्द्रियों के सूक्ष्म, स्थूल भेदों से परिणाम को प्राप्त होता है और वह (नाप्रयोजनम्) निष्प्रयोजन नहीं है वरन प्रयोजन को हृदय मे धारण करके भोग और मोक्ष के वास्ते प्रवृत्त होते हैं। वह दृश्य पुरुष का है उनमें से इष्ट अर्थात् इच्छानुकूल अनिष्ट प्रतिकूल गुणों के स्वरूप को विना विभाग के अवधारण करना भोग कहाता है। भोग करनेवाले भोक्ता के स्वरूप के निश्चय हो जाने को मोक्ष कहते हैं। भोग और भोक्ता से भिन्न और दर्शन कुछ नहीं है ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है यह तो तुल्य और अतुल्य जाति वाले जगत् के कार्य्यकर्त्ता तीनों गुणों में और अकर्त्ता पुरुष में चौथे उनके क्रिया साक्षी मे आरोपित किए हुये अप्राप्त सब भावों का अज्ञान से विना जाने अन्यथा शंका करना है।

ये दोनों भोग और मोक्ष बुद्धिकृत हैं और बुद्धि में ही रहते हैं फिर इसको पुरुषों में क्यों आरोपित किया जाता है? जैसे जय अथवा पराजय योद्धाओं में रहता है परन्तु राजा में आरोपित किया जाता है क्योंकि वह स्वामी जय वा पराजय के फल का

भोक्ता है। इस ही प्रकार से बन्ध और मोक्ष बुद्धि में रहते हैं परन्तु पुरुष में आरोपित होते हैं यही उनके फल का भोक्ता है बुद्धि का ही पुरुषार्थ समाप्त न होना बन्ध है और बुद्धि के परिश्रम की समाप्ति का नाम मोक्ष है इससे सिद्ध हुआ ग्रहण धारण तर्क और समाधान, तत्त्वों का ज्ञान और अभिनिवेश बुद्धि में रहते हैं परन्तु पुरुष में अध्यारोपित होते हैं क्योंकि वही उनके फल का भोक्ता है॥ १८॥

भा० का भा०—सत्त्वगुण प्रकाश स्वभाव वाला है, रजोगुण क्रिया स्वभाव वाला है, और तमोगुण आलस्य स्वभाव युक्त हैं यह सब एकाकी नहीं रहते किन्तु एक दूसरे के आश्रय से रहते हैं। जब एक प्रधान होता है तब अन्य उसमें लय हो जाते हैं किन्तु अनुमान से दूसरों की विद्यमानता जानी जाती है यद्यपि सब कार्य्य गुणों के आश्रय से होते हैं और यह गुण बुद्धि में रहते हैं तथापि इन बन्ध और मोक्ष के फल को भोगने वाला जीव है इसलिये जीव को ही कार्य्यकर्त्ता कहा जाता है। जैसे जय और पराजय योद्धाओं में रहती है तथापि राजा में आरोपित होती है क्योंकि वही उनके फल का भोगने वाला है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसमें बुद्धि के पुरुषार्थ की समाप्ति न हो वह बन्ध है और जिसमें बुद्धि के पुरुषार्थ का अन्त हो जाय वह मोक्ष है॥ १८

१८ सू०—प्रकाश सत्त्वगुण का धर्म है क्रिया अर्थात् प्रवृत्ति रजोगुण का और स्थिति तमोगुण का स्वभाव है॥

भो० वृ०—प्रकाशः सत्त्वस्य धर्मः क्रिया प्रवृत्तिरूपा रजसः स्थितिर्नियमरूपा तमसः ताःप्रकाशक्रियास्थितयः शीलं स्वाभाविकं रूपं यस्य तत्तथाविधमिति स्वरूपमस्य निर्दिष्टम्। भूतेन्द्रियात्मकमिति। भूतानि स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधानि पृथिव्यादीनि गन्धतन्मात्रादीनि च। इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणभेदेन त्रिवि-

धानि। उभयमेतद्ग्राह्य-ग्रहणरूपमात्मा सरूपमात्मा सरूपाभिन्नः परिणामो यस्य तत्तथाविधेत्यनेनास्य कार्य्यमुक्तम्। भोगः कथित लक्षणोऽपवर्गो विवेकख्यातातिपूर्विका संसारनिवृत्तिः तौ भोगापवर्गो अर्थःप्रयोजनं यस्य तत्तथाविधं दृश्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

तस्य दृश्यस्य नानावस्था रूपपरिणामात्मकस्य हेयत्वेन ज्ञातव्यत्वात् तदवस्थाः कथयितुमाह।

भो० वृ० का भा०—सत्व अर्थात् सतोगुण का धर्म्म प्रकाश है, रजोगुण का धर्म क्रिया और प्रवृत्ति है और तमोगुण का धर्म नियम रूप स्थिति है। वह प्रकाश, क्रिया और स्थिति हैं स्वभाव जिसके वह प्रकाश क्रिया स्थितशील दृश्य कहाता है। भूतेन्द्रियात्मकम् का अर्थ यह है कि सूक्ष्म और स्थूल भेदवाले पृथिवी आदि भूत दो प्रकार के हैं और उनकी तन्मात्राओं के भी दो भेद हैं, इन्द्रियों के तीन भेद हैं। ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण। यह सब ग्राह्य और ग्रहण रूप में आत्मा जीव से भिन्न नहीं है, इस कथन से दृश्य के कार्य्य का वर्णन सिद्ध हुआ। भोग का लक्षण प्रथम कह चुके हैं, अपवर्ग का अर्थ वा लक्षण यह है कि विवेक ख्याति पूर्वक संसार की निवृत्ति भोग और अपवर्ग है प्रयोजन जिसका उसे दृश्य कहते हैं ॥ १८ ॥ वह दृश्य अनेक रूपो मे बदला करता है इस कारण हेय अर्थात् त्यागने योग्य है और इस ही कारण से उसका जानना आवश्यक है अतएव उसकी विशेष अवस्थाओं का वर्णन करते हैं।

विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि ॥१६

सू० का प०—(विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि) विशेष, अविशेष, लिंग और अलिंग (गुणपर्वाणि) गुण की अवस्था हैं ॥ १९ ॥

सू० का भा०—गुणों की चार अवस्था हैं। १ विशेषावस्था, २ अविशेषावस्था, ३ लिंगावस्था और ४ अलिंगावस्था ॥१९॥

तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरस गन्ध तन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः तथा श्रोत्रत्वक्चक्षु जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि एकादशम्मन सर्वार्थम् इत्येतान्यस्मितास्य लक्षणस्याविशेषस्य विशेषगुणानामेष षोडश को विशेष परिणामः। षड् विशेषाः। तद्यथा-शब्दतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुःपञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्च विशेषाः, षष्ठश्चास्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महत षड्विशेषपरिणामाः। यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिंगमात्रं महत्तत्व तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति। प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रेमहत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निः सत्तासत्त निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिंग प्रधानन्तत्प्रतियन्तीति एष तेषां लिंगमात्रः परिणामोनिः सत्तासत्तञ्चालिंगपरिणाम इति। अलिंगावस्थाया न पुरुषार्थो हेतुना लिंगावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति। न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवतीति। नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायते त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति स चार्थो हेतुर्निमित्तंकारणंभवतीत्यनित्याख्यायते गुणास्तु सर्व धर्मा

नुयायिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते व्यक्तिभिरेवाती-
तानागतव्ययागमवतीनिर्गुणान्वयिनीभिरुपजनापाय धा-
म्निका इव प्रत्यवभासन्ते यथादेवदत्तो दरिद्राति कस्मात्
यतोऽस्यम्रियन्ते गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणां न स्वरूप-
हानादितिसमः समाधिः।

लिंगमात्रमलिंगस्य प्रत्यासन्नंतत्र तत्संसृष्टंविच्यते क्रमानतिवृत्तेः तथा षड् विशेषलिंगमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते परिणामक्रमनियमात् तथातेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते तथाचोक्तम् पुरस्तात् विशेषेभ्यः परन्तत्वान्तरमस्तीति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामःतेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामव्याख्यायिष्यन्ते ॥ १६ ॥
व्याख्यातं दृश्यमथद्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारम्यते।

भा० का प०—उनमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी यह स्थूल पञ्चभूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो पञ्चभूतों की सामान्य तन्मात्रा हैं उनके विशेष श्रवण, त्वचा नेत्र जिह्वा, नासिका ज्ञानेन्द्रियाँ, वचन, हाथ, चरण, गुदा और लिंग यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ और ११ वाँ मन यह सब अस्मिता के सामान्य लक्षण हैं। सत्वादि विशेष गुणों की उक्त १६ विशेष अवस्था हैं अविशेष ६ अवस्था हैं जैसे शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र इस प्रकार से एक, दो, तीन, चार और पाँच लक्षण हैं। जिनके शब्दादिक पाँच अविशेष अवस्था हैं और छठी अवस्था विद्यमानता मात्र है। यह छै सत्तामात्र आत्मा की अविशेषावस्था हैं जो परम अविशेष है उस महत्तत्व में उक्तगुण

के सत्तामात्र आत्मा में स्थिर होकर रही हुई अवस्था को प्राप्त होते हैं और जब इनका पुनः लय होता है तब उस ही सत्तामात्र आत्मा में स्थिर होकर निःसत्त असत् अर्थात् अदृश्य के समान जिस को सत् और असत् कुछ भी नहीं कह सकते हैं। इस कारण से गुणों की यह अवस्था अलिंगावस्था वा प्रधान अवस्था कह लाती है। इनका परिणाम लिंगावस्था है। लय होना अलिंगावस्था है। अलिंगावस्था में पुरुषार्थता कारण नहीं होती है इसलिये वह नित्य कहलाता है। पहली तीन अवस्थाओं में अर्थात् विशेष, अविशेष और लिंग अवस्थाओं में आदि में पुरुषार्थता कारण होती है। वह अर्थ हेतु के निमित्त कारण होता है अतः अनित्य कहाजाता है। सब धर्मों में आनेवाले न कहीं अस्त होते हैं और न उत्पन्न होते हैं। अतीत, अनागत व्यय और आगमवाली तथा गुणाभिपातिनी व्यक्तियोंसे विनाश उत्पत्ति धर्मक से मालूम पड़ने में जैसे देवदत्त दरिद्र है, क्यों? इसलिये कि इसकी गायें मरती हैं इसके आश्रय रहती हुई गायों के मरने से उसकी दरिद्रता है न कि स्वरूप हानिसे।

लिंगमात्र अलिंग के समीप होता है इसलिए क्रमानुसार (संसृष्ट) मिलाहुआ कह ही विचार किया जाता है। नियम है कि अविशेष लिंगमात्र में संसृष्ट ही विचारणीय है। परिणामक्रम के नियम से तथा उन अविशेषों में भूतइन्द्रिय मिली हुई रही आती हैं जैसा ही ऊपर कहा गया है। विशेषों से सूक्ष्म और कोई तत्त्वान्तर नहीं है। अतएव विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है। इनके आगे धर्मलक्षण और अवस्था परिणाम की व्याख्या की जायगी ॥ १९ ॥ दृश्य का वर्णन होचुका अब द्रष्टा के स्वरूप के अवधारणार्थ यह आरम्भ किया जाता है।

भा० का भा०—इनमें वायु अग्नि, जल, आकाश और भूमि

ये पाँच भूत हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द इन अविशेष तन्मात्राओंके अर्थात् रूपरहितों के पञ्चभूत विशेष हैं और पञ्च तन्मात्रा विशेष हैं, तथा कान, नाक, त्वचा, आँख और जिव्हा ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं । वाक्, हाथ, पैर, गुदा, लिंग ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं ये दस और ग्यारहवाँ मन उभयात्मक हैं । ये सब अविशेष अस्मिता लक्षण के विशेष यही गुणों के सोलह विशेष परिणाम हैं ।

छै अविशेष हैं वे ये हैं—शब्दतन्त्रमात्र, रूपतन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, गन्धतन्मात्र, रसतन्मात्र, ये पाँचों क्रम से १ । २ । ३ । ४ । ५ । लक्षणयुक्त पाँच अविशेष हैं और छठा अविशेष अस्मिता है, ये सत्तामात्र महान् आत्मा के छै अविशेष अर्थात् रूपरहित परिणाम हैं जो इन सब से उत्कृष्ट अविशेष सो भी परलिंगमात्र महत्तत्त्व है उस ही महत्तत्त्व सत्त्वमात्र महान् आत्मा के आश्रय से बढते हैं और लय होने के समय प्रकाशित हुए उसही से सदसदात्मक प्रतीत होते हैं । ये उनका लिंगमात्र ही परिणाम है और निस्सत्तासत्त लिंगरहित का परिणाम है ।

लिंगरहित अवस्था को पुरुषार्थ हेतुता नहीं है और न लिंगरहित अवस्था मे प्रथम पुरुषार्थ कारण है और न वह अवस्था पुरुषार्थ से हुई है इसीलिए वह नित्य है, तीनों अवस्थाओं का प्रथम पुरुषार्थता कारण है, वह अर्थ निमित्त कारण होता है इस लिए अवस्था अनित्या कही जाती है । सब गुण धर्मानुयायी होते हैं । न अस्त होते हैं न उत्पन्न होते हैं । अतीत, अनागत, लाभ और व्यययुक्त गुणान्निपातिनी यह अवस्था व्यक्तियों से उत्पत्ति और नाश धर्मक: ऐसे मालूम होते हैं, जैसे देवदत्त दरिद्र है । क्यों ? उसकी गायें मरती हैं तो गायों के मरने ही से उसकी दरिद्रता है कि स्वरूप हानिसे ।

लिंगमात्र लिंगरहित के समीपस्थ होता है । इसी प्रकार से

अविशेषों का लिंगमात्र के समीपस्थ होनेसे विकार होता है। क्रम से, ऐसे ही भूतेन्द्रियों का भी अपने अविशेषों में मिश्रित विकार होता है ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। विशेषों से सूक्ष्म तत्त्वान्तर नहीं है अतः विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है इनके धर्म-लक्षण और अवस्था परिणाम कहे जायेंगे ॥१९॥ दृश्य का वर्णन हो चुका, अब द्रष्टा के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

भो० वृ०—गुणानां पर्वाण्यवस्थाविशेषाश्चत्वारो ज्ञातव्या इत्युपदिष्टं भवति। तत्र विशेषा महाभूतेन्द्रियाणि अविशेषास्तन्मात्रान्तःकरणानि लिंगमात्रं बुद्धिः अलिंगमव्यक्तमित्युक्तम्। सर्वत्र त्रिगुणरूपस्याव्यक्तस्यान्वयित्वेन प्रत्यभिज्ञानादवश्यं ज्ञातव्यत्वेन योगकाले चत्वारि पर्वाणि निर्दिष्टानि ॥ १९ ॥

एवं हेयत्वेन प्रथमं दृश्यस्य ज्ञातव्यत्वात्तदवस्थासहितं व्याख्यायोपादेयं द्रष्टारं व्याख्यातुमाह।

भा० सू० का भा०—गुणों के चार भेद होते हैं इसी का उपदेश किया जाता है इनमें से विशेष रूप महाभूत और इन्द्रियाँ हैं अविशेष रूप तन्मात्रा तथा अन्तःकरण हैं लिङ्गमात्ररूप बुद्धि है और अलिङ्ग रूप अव्यक्त अर्थात् कारण रूप प्रकृति है, योगी को इन चारों भेदों का ज्ञान होना चाहिये इस कारण इनका उपदेश किया गया है ॥ १९ ॥ इस प्रकारसे हेय अर्थात् दृश्यका रूप दिखाकर उपादेय द्रष्टा का वर्णन करते हैं।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥

सू० का पदार्थ—(द्रष्टा दृशिमात्रःशुद्धोऽपि) द्रष्टा स्वरूप से शुद्ध भी (प्रत्ययानुपश्यः) बुद्धि से उत्पन्न होने वाले प्रत्ययों का अनुकारी है ॥ २० ॥

सू० का भा०—द्रष्टा यद्यपि साक्षिमात्र है तथापि बुद्धिजन्य प्रत्यय से दृश्यरूप भान होता है ॥ २० ॥

व्या० दे० भा०—दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषेणापरामृष्टत्यर्थः स पुरुषो बुद्धेःप्रतिसंवेदी । स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति । न तावत्सरूपः । कस्मात् ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परिणामिनी हि बुद्धिः । तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वाज्ञातश्चज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति । सदाज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति । कस्मान्नहि बुद्धिश्च नाम पुरुष विषयश्च स्यादगृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति । किञ्च परार्था बुद्धिः सहकारित्वात, स्वार्थः पुरुष इति तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात्त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति । गुणानान्तूपद्रष्टा पुरुष प्रत्ययतो न सरूपः । अस्तु तर्हि विरूप इति नात्यन्तं विरूपः । कस्मात् शुद्धोऽशुद्धोऽप्यसौप्रत्ययानुपश्योयतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्तदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते । तथाचोक्तत्तपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमाच परिणामित्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद् वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रया बुद्धिवृत्त्याविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते ॥ २० ॥

भा० का पदा०—जब वह विशेष गुणों से असंवृत्त होती है

अविशेषों का लिङ्गमात्र के समीपस्थ होनेसे विभक्त होता है। क्रम से, ऐसे ही भूतेन्द्रियों का भी उन्हीं अविशेषों में मिलित विभक्त होता है वैसा ही अन्यत्र भी कहा है। विशेषों से सूक्ष्म तत्त्वान्तर नहीं है अतः विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है, इनके धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम कहे जायेंगे ॥१९॥ दृश्य का वर्णन हो चुका, अब द्रष्टा के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

भा० १९—गुणानां पर्वाण्यवस्थाविशेषाश्चत्वारो व्याख्याता इत्युपदिष्टं भवति। तत्र विशेषा महाभूतेन्द्रियाणि अविशेषास्तन्मात्राऽन्तःकरणानि लिङ्गमात्रं बुद्धि, अलिङ्गमव्यक्तमित्युक्तम्। सर्वं त्रिगुणस्वरूपस्यावस्थान्तरस्याभिव्यक्तेन, प्रत्यभिज्ञानादनयत्र ज्ञातव्यत्वेन योगाभ्यास चत्वारि पर्वाणि निर्दिष्टानि ॥ १९ ॥

एवं द्रष्टव्येन प्रथमं दृश्यस्य व्याख्यातत्वात्तदवस्थासहितं व्याख्यापादर्य द्रष्टारं व्याख्यातु माह।

भा० १९ का भा०—गुणों के चार भेद होते हैं इसी का उपदेश किया जाता है उनमें से विशेष रूप महाभूत और इन्द्रियाँ हैं अविशेष रूप तन्मात्रा तथा अन्तःकरण हैं लिङ्गमात्ररूप बुद्धि है और अलिङ्ग रूप अव्यक्त अर्थात् कारण रूप प्रकृति है, योगी को इन चारों भेदों का ज्ञान होना चाहिये इस कारण इनका उपदेश किया गया है ॥ १९ ॥ इस प्रकारसे हेय अर्थात् दृश्य रूप दिखाकर उपादेय द्रष्टा का वर्णन करते हैं।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥

सू० का पदार्थ-(द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि) द्रष्टा स्व रूप से शुद्ध भी (प्रत्ययानुपश्यः) बुद्धि से उत्पन्न होने वाले प्रत्ययों का अनुकारी है ॥ २० ॥

सू० का भा०—द्रष्टा यद्यपि साक्षिमात्र है तथापि बुद्धिजन्य प्रत्यय से दृश्यरूप भान होता है॥ २०॥

व्या० दे० भा०—दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषेणापरामृष्टेत्यर्थः स पुरुषो बुद्धेःप्रतिसंवेदी। स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति। न तावत्सरूपः। कस्मात् ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परिणामिनी हि बुद्धिः। तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वाज्ञातश्चज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति। सदाज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति। कस्मान्नहि बुद्धिश्च नाम पुरुषं विषयश्च स्यादगृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति। किञ्च परार्था बुद्धिः सहकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात्त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति। गुणानान्तूपद्रष्टा पुरुष प्रत्ययतो न सरूपः। अस्तु तर्हि विरूप इति नात्यन्तं विरूपः। कस्मात् शुद्धोऽशुद्धोऽप्यसौप्रत्ययानुपश्योयतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्तदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते। तथाचोक्तत्तपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमाच परिणामित्यर्थे प्रतिसक्रान्तेव तद् वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रया बुद्धिवृत्त्याविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते॥ २०॥

भा० का पदा०—जब वह विशेष गुणों से असंवृत्त होती है

तब वृत्तिमात्र कहलाती है। यह आत्मा बुद्धि से जानने योग्य अथवा बुद्धि का साक्षी है यह बुद्धि के समान रूप वाला नहीं है न अत्यन्त विरुद्ध स्वरूप वाला है। समान रूप न होने में हेतु यह है—ज्ञात और अज्ञात विषयिणी होने से बुद्धि परिणामिनी है इस बुद्धि का विषय गौ आदि और घट पटादि ज्ञात और अज्ञात दोनों ही हैं जो कि उसके परिणामित्व को दिखाते हैं अज्ञात विषय था सदैव ही आत्मा को परिणाम रहित भाव को प्रकाशित करता है क्योंकि बुद्धि पुरुष को प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। क्योंकि यह उसका विषय नहीं है। पुरुष का सदैव अज्ञात विषय और अपरिणामी होना सिद्ध है। साधनापेक्ष होने से बुद्धि परतन्त्र है।

परन्तु पुरुष स्वतन्त्र है तथा सब अर्थों के व्यवहारयुक्त होने से बुद्धि त्रिगुणात्मिका है। त्रिगुणा होने से जड़ है और पुरुष गुणों का द्रष्टा है। इससे पुरुष बुद्धि के समान नहीं है तो बुद्धि से विलक्षण रूप वाला होगा। अत्यन्त विरूप भी नहीं है क्योंकि पुरुष शुद्ध होनेपर भी ज्ञान से देखा जाता है ज्ञान बुद्धिके द्वारा देखने से तब आत्मा भी उसके रूप के समान मालूम होता है ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है भोक्तृशक्ति का कभी परिणाम नहीं होता और संक्रमण से रहित है अर्थात् सम्बोधन करने योग्य नहीं है (परिणामिन्यर्थे) परिणामी पदार्थों में संक्रान्त अर्थात अवस्थान्तर को धारण करने वाली के समान उसकी वृत्ति भान होने लगती है और उस चैतन्य का प्रत्यय बुद्धि की वृत्तियों के अनुकरण मात्र से करने वाली बुद्धि वृत्ति से अविशिष्ट ज्ञान की वृत्ति है ऐसा कहा जाता है ॥ २० ॥

भा० का भा०—द्रष्टा बुद्धि की वृत्तियों का साक्षी है परन्तु इसमें शंका यह है कि यह द्रष्टा बुद्धिका स्वरूप है या विरूप है?

इसका उत्तर यह है न अत्यन्त स्वरूप है और न अत्यन्त विरूप है। स्वरूप तो इस कारण से नहीं है कि आत्मा दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार के पदार्थों का अधिकारी है और बुद्धि केवल ज्ञात घटादि पदार्थों के ज्ञान को धारण कर सकी है और बुद्धि में अनेक प्रकार के परिणाम भी होते हैं, एवम् बुद्धि परतन्त्र है क्योंकि यह बिना दूसरे की सहायता के ज्ञान प्राप्ति में असमर्थ है और आत्मा स्वतन्त्र है, तथा बुद्धि जब चाञ्चल्यरहित होती है तब मनुष्य को प्रतीत होता है कि इस समय मेरी बुद्धि सद्गुण युक्त है इन कारणों से आत्मा बुद्धि के स्वरूप नहीं है विरूप इस कारण से नहीं कि शुद्ध होने पर भी ज्ञान द्वारा पदार्थों को समझता है और ज्ञान बुद्धि के बिना होना असम्भव है इससे अज्ञानी लोग जानते हैं कि आत्मा बुद्धिरूप है और ऋषियों ने भी कहा है कि आत्मा की शक्ति परिणाम रहित है तथापि परिणामिनी बुद्धि की वृत्तियों के संयोग से परिणामिनी प्रतीत होती है, इससे यह सिद्ध हुआ, कि आत्मा की जो चैतन्य वृत्तियाँ हैं उनसे बुद्धि की वृत्ति भिन्न हैं इससे आत्मा बुद्धिसे विरूप भी नहीं है ॥२०॥

भो०—द्रष्टा पुरुषो दृशिमात्रश्चेतनामात्रो मात्रग्रहणं धर्म्मधर्मिनिराशार्थम् केचिद्धि चेतनात्मनो धर्म्मिमिच्छन्ति स शुद्धोऽपि परिणामित्माद्यभावेन स्वप्रतिष्ठोऽपि प्रत्ययानुपश्यः प्रत्यया विषयोपरक्तानि विज्ञानानि, तानि खनु अव्यवधानेन प्रतिसंक्रमाद्यभावेन पश्यति। एतदुक्तं भवति। जालविषयोपरागायामेव बुद्धौ सन्निधिमात्रेणैव पुरुषस्य द्रष्टृत्वमिति ॥ २० ॥ स एव भोक्तेत्याह।

भो० वृ० का भा०—द्रष्टा पुरुष ही दृष्टिमात्र अर्थात् चेतनमात्र है, यहाँ पर मात्र शब्द इस कारण लिखा है कि जिससे गुण और गुणी दोनों का ग्रहण न हो। कोई आचार्य्य चेतनता को आत्मा का गुण मानते हैं वह पुरुष यद्यपि शुद्ध है तथा परिणामित्व आदि

गुणों से रहित है तो भी विषयों के विज्ञान रूप रंगों का समीपवर्ती होने से विषय संयोगी दीखता है। फलितार्थ यह हुआ कि विषयों के संसर्ग से जो बुद्धि विषयाकार हो जाती है उसकी समीपता के कारण पुरुष में भी बुद्धिपन प्रतीत होता है। वास्तव में पुरुष शुद्ध है ॥२०॥ द्रष्टा ही भोक्ता है। यह अगले सूत्र में कहा जायगा।

तदर्थ एवदृश्यस्यात्मा ॥२१॥

सू० का० प०—(तदर्थ एव) पूर्व सूत्र में कहे हुए हेतु से (दृश्यस्य) दृश्य पदार्थ का (आत्मा) पुरुष आत्मा है ॥ २१ ॥

सूत्र का भा०—पूर्व सूत्रोक्त कारण से ही आत्मा दृश्यभाव से भान होता है।

दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मविषयतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा भवति स्वरूपम्भवतीत्यर्थः। तत् स्वरूपन्तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति। स्वरूपहानादस्यनाशः प्राप्तो नतु विनश्यति ॥ २१ ॥ कस्मात्

भा० का प०—द्रष्टारूप आत्मा के कर्मविषयता को प्राप्त हुआ पदार्थ दृश्य कहाता है उसके ही वास्ते दृश्य का आत्मा होता है अर्थात् स्वरूप होता है आत्मा का स्वरूप तो भोग और मोक्ष का प्रयोजनता या लोलुपता करने में पुरुष से नहीं देखा जाता इस प्रकार की स्वरूपहानि से दृश्य का नाश हो जाता है प्राप्त हो जाने से नाश नहीं होता ॥ २१ ॥

भा० का भा०—द्रष्टा का जो कर्म अर्थात् शरीर उसकी विष-

यता को जो प्राप्त हों वह सब पदार्थ दृश्य कहाते हैं और इस ही कारण दृश्य का स्वरूप होता है उस दृश्य का स्वरूप दूसरे के रूप के द्वारा भोग और मोक्ष की लालसा में फँसे हुये मनुष्य को प्रतीत नहीं होता इससे दृश्य की रूपहानि होती है किन्तु नाश नहीं होता ॥ २१ ॥

भा० वृ०—दृश्यस्य प्रागुक्तलक्षणस्याऽऽत्मा यत् स्वरूप स तदर्थस्तस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वसम्पादनं नाम स्वार्थपरिहारेण प्रयोजनम् नहि प्रधानं प्रवर्त्तमानमात्मनः किञ्चित् प्रयोजनमपेक्ष्य प्रवर्त्तते किन्तु पुरुषस्य भोगसम्पादयामीति ॥ २१ ॥

यद्येवं पुरुषस्य भोगसम्पादनमेव प्रयोजनं तदा सम्पादिते तस्मिन् तत् निष्प्रयोजनं विरतव्यापारं स्यात तस्मिंश्च परिणाम-शून्य शुद्धत्वात् सर्वे द्रष्टारो वन्धरहिताः स्युः ततश्च संसारोच्छेद इत्याशङ्क्याह।

भो० वृ० का भा०—ऊपर जिसका लक्षण कहा है उस दृश्य का आत्मा अर्थात् स्वरूप उसही द्रष्टा के निमित्त है, दृश्य का भोग भी अपने स्वार्थ के त्याग से है, अर्थात् प्रधान अपने प्रयोजन के वास्ते किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता है, किन्तु पुरुष के भोक्तृत्व को सिद्ध करने के वास्ते ही उसकी प्रवृत्ति है ॥ २१ ॥

यदि इस रीति से पुरुष के निमित्त भोगसाधन ही दृश्य का प्रयोजन है तो भोग सम्पादन के अनन्तरावह निष्फल होगा जव दृश्य ही परिणामरहित और अक्रिय हो जायगा तव जगत् के सब द्रष्टा अर्थात् जीव वन्धन से मुक्त हो जायँगे और इस दशा मे संसार का उच्छेद होना चाहिये। इस शङ्का का उत्तर अगले सूत्र मे लिखते हैं।

कृतार्थंप्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।२२

सू० का पदार्थ—(कृतार्थम् प्रति) कृतार्थ एक पुरुष के प्रति (नष्टमपि) नष्ट हुआ भी दृश्य का रूप (अनष्टम्) नष्ट नहीं है (तदन्यसाधारणत्वात्) क्योंकि दूसरे पुरुष को भान होता है ॥ २२ ॥

सू० का भा०—एक कृतार्थ पुरुष के प्रति दृश्य का रूप नष्ट हुआ है परन्तु दूसरे साधारण पुरुषों के प्रति यह अनष्ट है इससे इसे नष्ट नहीं कह सकते ॥ २२ ॥

व्या० दे० का भा०—कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्। कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकुशलान् पुरुषान् प्रत्यकृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं लभत एव पररूपेणात्मरूपमिति अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति। तथाचोक्तम्—धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोग इति ॥ २२ ॥ संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—

भा० का पदा०—कृतार्थ एक पुरुष के प्रति नष्ट हुआ भी दृश्य अनष्ट है क्योंकि वह अन्य पुरुषों को प्रतीत होता है। योग्य चतुर पुरुष के प्रति दृश्य नाश को प्राप्त हुआ भी मूर्ख पुरुषों के प्रति अकृतार्थ अर्थात् अनष्ट है। वह उनकी दृष्टि में कर्म्म विषयता को प्राप्त होता है। इस प्रकार से पर रूप से अपने रूप को प्राप्त होता है। अतएव द्रष्टा और दर्शन शक्तियों के नित्य होनसे दोनों का अनादि संयोग कहा गया है कहा भी गया है। धर्मी अर्थात् गुणी का अनादि संयोग होने से धर्म्म अर्थात् गुणों का भी अनादि

संयोग होता है ॥ २२ ॥

संयोग का स्वरूप कहने की इच्छा से अगला सूत्र प्रवृत्त होता है।

भा० का भा०—दृश्य का रूप जो ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में नष्ट होगया वही दूसरे पुरुषों की दृष्टि में विद्यमान है इससे उसे नष्ट हुआ नहीं कह सकते, किन्तु यही प्रतीत होता है कि दृक्शक्ति और दर्शन का संयोग अनादि है ॥ २२ ॥

२२ सू०—इन सब सूत्रों का सारांश यह है कि द्रष्टा, दर्शन और दृश्य यह तीनों भिन्न भिन्न हैं तो भी अनेक कारणों से ऐसा संयोग हो रहा है जिससे वे सब अभिन्न जान पड़ते हैं और इनके संयोग के अज्ञान को ही भोग कहते हैं। अर्थात् जब तक मनुष्य को इन सब का यथार्थ ज्ञान नहीं होता तभी तक सांसारिक सुखों का भोग भी जान पड़ता है और जब इनका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब सांसारिक भोग नष्ट हो जाते हैं। "नष्टे मोहे कः संसारः।" परन्तु एक मनुष्यको यथार्थ ज्ञान होनेसे संसार भरका अज्ञान दूर नहीं हो सकता वरन दूसरे मनुष्यों में बना रहता है इससे द्रष्टा और दृश्य का संयोग अज्ञानजन्य है ॥ २२ ॥

भो० वृ०—यद्यपि विवेकख्यातिपर्य्यन्तात् भोगसम्पादनात्-कमपि कृतार्थं पुरुषं प्रति तन्नष्टं विरतव्यापारं तथापि सर्वं पुरुष-साधारणत्वादन्यान् प्रत्यनष्टव्यापारमवतिष्ठते। अतः प्रधानस्य सकलभोक्तृसाधारणत्वान्न कदाचिदपि विनाशः। एकस्य मुक्तौ वा न सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इत्युक्तं भवति ॥ २२ ॥

दृश्यद्रष्टारौ व्याख्याय संयोगव्याख्यातुमाह।

भो० वृ० का भा०—यद्यपि भोग विवेकख्याति अर्थात् यथार्थ ज्ञान पर्य्यन्त ही रहते हैं और पश्चात् नष्ट हो जाते हैं परन्तु भोग सब पुरुषों के प्रति साधारण रूप से रहते हैं इस कारण जिसके

प्रति भोग नष्ट हो जाते हैं वही मुक्त होता है और जिसके प्रति नष्ट नहीं होते हैं वह बन्धन में रहता है अर्थात् एक जीव की मुक्ति से सब जीवों की मुक्ति नहीं होती है ॥ २२ ॥ द्रष्टा और दृश्य का वर्णन करके संयोग का वर्णन करते हैं ।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

सू० का पदा०—(स्वस्वामिशक्त्योः) स्व अर्थात् दृश्य और स्वामी अर्थात् द्रष्टा शक्तियों के (स्वरूपोपलब्धिहेतुः) स्वरूप की प्राप्ति का जो कारण हो (संयोगः) उसे संयोग कहते हैं ॥ २३ ॥

सू० का भा०—द्रष्टा और दृश्य शक्तियों के स्वरूप की उपलब्धि का जो हेतु है उसे संयोग कहते हैं ॥ २३ ॥

पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः । तस्मात् संयोगाद्दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम् । दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीत्य दर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम् । नात्र दर्शनं मोक्षकारणम्-अदर्शनाभावादेव बन्धाभावः स मोक्ष इति । दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनं ज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तम् ।

किञ्चेदमदर्शनं नाम किं गुणानामधिकार आहोस्वित् दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः स्वस्मिन् दृश्ये विद्यमाने यो दर्शनाभावः । किमर्थवत्तागु-

णानाम् । अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम् । किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः। यत्रेदमुक्तम् प्रधानं स्थित्यैववर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात् । तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात् ॥ उभयथा चास्य वृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा । कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेव । समानश्चचः दर्शनशक्तिरेवा दर्शनमित्येके,'प्रधानस्याऽऽत्मख्यापनार्थाप्रवृत्तिः'-इतिश्रुतेः।

सवबोध्यबोधसमर्थः प्राक्प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति । सर्व कार्यकरणसमर्थं दृश्य तदा न दृश्यत् इति । उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके । तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्ष दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति । तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनैवादर्शनमवभाषते । दशनं ज्ञानमेवादर्शनंमिति केचिदभिदधति । इत्येते शास्त्रोक्ता विकल्पा॰ तत्र विकल्पबहुत्वमेतत् सर्वपुरुषाणां गुणानां संयोगे साधारणविषयम् ॥ २३ ॥

यस्तुप्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः ।

भा० का प०—स्वामी अपने दृश्य से देखने के लिये संयुक्त होता है उस संयोग से जो दृश्य पदार्थों का ज्ञान होता है उसे भोग कहते हैं और जो द्रष्टा अर्थात् आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति होती है उसे मोक्ष कहते हैं जहाँ दर्शन के कार्य का अन्त हो जाता है उसे संयोग कहते हैं इस प्रकार दर्शन को वियोग का कारण कहते हैं दर्शन अदर्शन का विपक्षी है इसलिए अदर्शन को संयोग

का कारण कहा है यहाँ पर दर्शन मोक्ष का कारण नहीं है अदर्शन के अभाव ही से बन्धन का जो अभाव होता है उसे मोक्ष कहते हैं। दर्शन की विद्यमानता में बन्ध का कारण जो अदर्शन है उसका नाश हो जाता है इसलिये दर्शन ज्ञान को कैवल्य का कारण कहा है।

क्या यह अदर्शन गुणों का अधिकार है अथवा दृशिरूप आत्मा के जिस चित्त ने विषय को देखा है उस प्रधान चित्त अर्थात् ज्ञान का उत्पन्न न होना है ? अपने दृश्य के विद्यमान रहते भी जो दर्शन का अभाव होता है वह क्या गुणों की अर्थवत्ता से होता है अथवा जो अविद्या अपने चित्त के संग निरुद्ध हो गई है वह अपने चित्त की उत्पत्ति का कारण है ? क्या स्थिति के संस्कार क्षय हो जाने पर गति के संस्कार प्रकट होते हैं ? इसपर यह कहा जाता है प्रधान स्थिति के साथ वर्तमान रहकर अविकारी होने से अप्रधान होता है। वैसे ही गति के साथ विद्यमान नित्य विकारशील होने से अप्रधान होता है। उक्त दोनों प्रकार से इसकी प्रवृत्ति प्रधानता को प्राप्त होती है अन्यथा नहीं। और कारणों की कल्पना करने पर भी यह समान विचारणीय होगा। दर्शन शक्ति ही अदर्शन है ऐसा भी कोई कहते हैं। "प्रधान की आत्मख्यापनार्थ जो प्रवृत्ति है"। ऐसा श्रुति का मत है।

जानने योग्य जितने पदार्थ हैं उनके जानने में शक्तिमान् पुरुष प्रवृत्ति से पहले नहीं देखता सब कार्य्य करनेमें समर्थ दृश्य समय उसे नहीं दीखता इसलिये दोनों का भी अदर्शन धर्म है यह किसी का मत है। यहाँ पर दृश्य का [आत्मभूतमपि] तादात्म्य होने पर भी दर्शन पुरुष प्रत्यय की अपेक्षा रखता हुआ दृश्य भाव को प्राप्त होता है वैसे ही [पुरुषदर्शनात्मभूतमपि] पुरुष से तादात्म्य न होने पर भी अदर्शन दृश्यमान की अपेक्षा रखता हुआ पुरुष धर्म के समान दर्शन का अभाव मान होता है कोई दर्शन ज्ञान

को ही अदर्शन कहते हैं यह सब शास्त्र विकल्प हैं [तत्र विकल्प-बहुत्वम्] शास्त्र के विकल्पों का बहुत्व पुरुषों के और गुणों के संयोग में साधारण विषय है ॥ २३ ॥ और जो प्रत्यक् चैतन्य का अपनी बुद्धि से संयोग है।

भा० का भा०—आत्मा जो अपने रूप के देखने को प्रवृत्त होता है, परन्तु मध्य में जो पदार्थान्तरों का संयोग हो जाता है और उसकी वृत्तियाँ आगे नहीं बढ़ सकती हैं, उसको भोग कहते हैं और जो पुरुष को परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति है उसे मोक्ष कहते हैं। और जहाँ दर्शन रूप क्रिया का अन्त हो जाय उसे संयोग कहते हैं, किन्तु दर्शन ही वियोग का कारण है क्योंकि जब किसी का संयोग होता है तो उसका वियोग भी अवश्य होता है। ऐसे ही अदर्शन संयोग का हेतु कहाता है, इस शास्त्र में दर्शन को मोक्ष का कारण नहीं कहा है, अभिप्राय यह है कि जो २० और २१ सूत्र में संयोग कहा था वह दृश्य पदार्थों के संयोग के समान नहीं है किन्तु वह एक विलक्षण ही संयोग है ॥ २३ ॥

भो० वृ०—कार्य्यद्वारेणास्य लक्षणं करोति, स्वशक्तिर्दृश्य स्वभावः। स्वामिशक्तिर्द्रष्टुः स्वरूपं तयोर्द्वयोरपि संवेद्यसंवेदकत्वेन व्यवस्थितयोर्या स्वरूपोपलब्धिस्तस्याः कारणं यः स संयोगः। सच सहजभोग्यभोक्तृभावस्वरूपान्नान्यः। नहि तयोर्नित्ययोर्व्यापकयोश्च स्वरूपादतिरिक्तः कश्चित् संयोगः। यदेव भोग्यस्य भोग्यत्वं भोक्तुश्च भोक्तृत्वमनादिसिद्धं स एव संयोगः ॥ २३ ॥ तस्यापि कारणमाह।

भो० वृ० का भा०—कार्य्य द्वारा संयोग का लक्षण कहते हैं। दृश्य का स्वभाव स्वशक्ति अर्थात् इन्द्रियों का विषय रूप है और द्रष्टा का स्वभाव स्वामीपन वा अध्यक्षता है इन दोनों शक्तियों में संवेद्य और संवेदक भाव सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध से जो दोनों का

ज्ञान है उसको ही संयोग कहते हैं और वह संयोग स्वाभाविक है भोग्य और भोक्ता दोनों ही नित्य हैं इनके स्वरूप के अतिरिक्त संयोग और कोई वस्तु नहीं है, भोग्य का भोग्यत्व है और भोक्ता का भोक्तृत्व ये दोनों अनादि सिद्ध हैं उसको ही संयोग कहते हैं ॥ २३ ॥ इस संयोग के कारण का व्यख्यान करते हैं।

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

सू० का पदार्थ—(तस्य) उस सयोग का (हेतुः) मूल (अविद्या) अविद्या है ॥ २४ ॥

सू० का भा०—इसका अर्थात् संयोग का हेतु अविद्या है ।।२४।।

व्या० दे० का भा०—विपर्य्ययज्ञानवासनेत्यर्थः । विपर्य्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्य्यनिष्ठां पुरुषख्याति बुद्धिः प्राप्नोति, साधिकारा पुनरावर्त्तते । सा तु पुरुषख्यातिपर्य्यवसानां कार्य्यनिष्ठां प्राप्नोति, चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्त्तते अत्र कश्चित् षण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति । मुग्धयाभार्य्ययाभिधीयते—षण्डकाय्यपुत्र, अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाम नाहमिति, स तामाह मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामीति । तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति, विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा । तत्राचार्य्यदेशीयो वक्ति—ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षोऽदर्शनकारणाभावात् बुद्धिनिवृत्तिः । तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्त्तते । तत्र चित्तनिवृ-

त्तिरेरेव मोक्षः किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः ॥२४॥

हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तमतः परं हानं वक्तव्यम्—

भा० का पदा०—अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञानवासना सयोग का हेतु है। मिथ्याज्ञानवासना से वासित बुद्धि कार्यनिष्ठ पुरुष ख्याति को नहीं प्राप्त होती, अधिकार सहित पुनः आवर्त्तित होती है वह बुद्धि कार्यनिष्ट पुरुष ज्ञान मे स्थिर होती है जो कि अधिकारिणी है और अदर्शन जिसका निवृत्त हो गया है ऐसी बुद्धि बन्ध कारण के अभाव से पुनः आवर्तित नहीं होती यहाँ कोई (षण्ढकोपाख्यानेन) नपुंसक के उपाख्यान से उद्घाटित करता हैं। किसी नपुंसक की भोली स्त्री अपने पति से कहती है। स्वामिन्, मेरी बहन पुत्रवती है मैं क्यो नहीं? वह उससे बोला मैं मरकर तेरे पुत्र उत्पादन करूगा। तैसे ही विद्यमान ज्ञान चित्त की निवृत्ति नहीं करता किन्तु नष्ट हुआ करेगा, इसकी क्या प्रत्याशा है। यहाँ पर आचार्य्य का उपदेश दिया। शिष्य कहता है बुद्धि की निवृत्ति से ही मोक्ष होता है और अदर्शन कारण के अभाव से बुद्धि निवृत्त होती है। और वह अदर्शन बन्ध के कारण दर्शन से निवृत्त होता है तब चित्तकी निवृत्ति ही मोक्ष है तब क्यों यह अकालिक मतिभ्रम होता है॥ २४॥

भा० का भा०—विपरीत ज्ञान को अविद्या कहते हैं विपरीत ज्ञानकी वासना से भरी हुई बुद्धि कार्य्यनिष्ठा व आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकती। अधिकार से युक्त न होने के कारण पुनः पतित हो जाती है। इस कारण से बुद्धि की वासना को निवृत्त करना योग्य है। इस स्थल पर कोई नपुंसक की कथा के अनुसार शंका करते हैं। अर्थात् नपुंसक की स्त्री ने अपने पति से पूछा कि

आर्यपुत्र, मेरी भगिनी तो सन्तानवाली है, मैं सन्तानवाली क्यों नहीं ? तब नपुंसक ने उत्तर दिया कि मैं मरकर तुम्हारे सन्तान उत्पन्न करूँगा । विचारने का स्थल है कि जब वह जीते ही सन्तान उत्पन्न न कर सका तो मरकर क्या करेगा ? ऐसे ही यह वर्तमान ज्ञान तो चित्त की निवृत्ति न कर सका किन्तु मरकर करेगा यह केवल दुराशामात्र है । किन्तु इस विषय में एक आचार्य कहता है कि बुद्धि की निवृत्ति ही मोक्ष है क्योंकि उसमें अदर्शन के कारणों का अभाव नहीं होता और बुद्धि की निवृत्ति अदर्शन है किन्तु बन्धकारण दर्शन से निवृत्त होता है इससे चित्त की निवृत्ति ही मोक्ष है । यह भाष्यकार का मत है ॥ २४ ॥

भा० सू०—या पूर्वं विपर्ययात्मिका मोहरूपाऽविद्या व्याख्याता सा तस्य विवेकख्यातिरूपस्य संयोगस्य कारणं हेयं हानक्रियाकर्मोच्यते ॥ २४ ॥ किं पुनस्तद्धानमित्याह—

भा० सू० का भा०—पहले जो विपर्यय ज्ञानरूप अविद्या का वर्णन कर चुके हैं वही अविद्या विवेकख्याति रूप संयोग का कारण है और वही हानक्रिया का कर्म होने से हेय है ॥ २४ ॥

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् २५

सू० का प०—(तदभावात्) उस दर्शन के अभाव से (संयोगाभावो हानम्) संयोग का न होना ही हान है । (तद्दृशेः कैवल्यम्) यह दर्शन का एकत्व है ॥२५॥

सू० का भा०—दर्शन के अभाव से संयोग का नाश जिसे हान कहते हैं होता है और उससे मोक्ष होता है ॥ २५ ॥

व्या० दे० का भा०—तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धि-पुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः एत

द्धानम् तद्दृशेः कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः। दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानं तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ॥ २५ ॥ अथ हानस्य कः प्राप्त्युपाय इति—

भा० का प०—उस अदर्शन के अभाव से बुद्धि और आत्मा के सयोग का अभाव होता है अर्थात् बन्धन की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है उसे हान कहते हैं वही कैवल्य होता है पुरुष प्रकृति के गुणों से पृथक् होकर संयोगरहित हो जाता है। दुःखों के कारण के निवृत्त हो जाने से दुःखके नाश को हान- कहते हैं तब समाधिस्थ पुरुष कहा जाता है ॥ २५ ॥

भा० का भा०—जब दर्शन का अभाव हो जाता है तब बुद्धि और आत्मा के सयोग का भी अभाव हो जाता है और बन्धन का नाश हो जाता है तथा पुरुष को कैवल्य अर्थात् गुणादि का विरह होता है, अभिप्राय यह है, कि दुःख की निवृत्ति को हान कहते हैं उसके होने से पुरुष समाधिस्थ वा कैवल्य को प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

भो० वृ०—तस्या अविद्यायाः स्वरूपविरुद्धेन सम्यग् ज्ञानेन उन्मूलिताया योऽयमभावस्तस्मिन् सति तत्कार्य्यस्य सयोगस्याप्यभावस्तद्धानमित्युच्यते। अयमर्थः। नैतस्यामूर्त्तद्रव्यवत् परित्यागो युज्य ते किन्तु जाताया विवेकख्यातौ अविवेकनिमित्तः संयोगः। स्वयमेव निवर्त्तत इति तस्य हानम् यदेव च सयोगस्य हान तदेव नित्य केवलस्यापि पुरुषस्य कैवल्यं व्यपदिश्यते ॥ २५ ॥ तदेवं संयोगस्य स्व रूपं कारणं कार्य्यञ्चाभिहितम् अथ हानोपायकथनद्वारेणोपादेयकारणमाह।

भा० वृ० का भा०—अविद्याके स्वरूप से विरुद्ध जो सम्यक्

ज्ञान है उससे अविद्या का अभाव होता है, उस अभावके होनेसे अविद्यासे उत्पन्न हुआ जो द्रष्टा और दृश्य का संयोग है उसका भी अभाव हो जाता है इस अभावको हान कहते हैं, तात्पर्य यह है, कि अमूर्त अर्थात् रूपरहित वस्तु का विभाग नहीं हो सकता है किन्तु जब विवेकख्याति उत्पन्न होती है तब अविवेकसे उत्पन्न हुआ पूर्वोक्त संयोग आप ही नष्ट हो जाता है यही हान कहाता है जो संयोग का हान है वही पुरुष का कैवल्य है ॥ २५ ॥ इसी रीति से दृश्य के संयोग का कारण स्वरूप और कार्य्य कहा गया। आगे हानोपाय के कथन से मोक्ष के कारण का वर्णन होगा—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

सू० का प०—(अविप्लवा विवेकख्यातिः) स्थिर विवेक ज्ञान (हानोपायः) हान का उपाय है ॥ २६ ॥

सू० का भा०—जिस ज्ञान का कभी नाश न हो वह आत्मप्राप्ति हान का उपाय है ॥ २६ ॥

व्या० दे० भा०—सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते। यदा मिथ्या ज्ञानं दग्धबीजभावं वन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति। सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्ध बीजभावोपगमः पुनश्चाप्रसव इत्येष मोक्षस्य मार्गो हान स्योपाय इति ॥ २६ ॥

भा० का प०—दृश्य बुद्धिसे आत्मा भिन्न है यह ज्ञान विवेक-

ख्याति कहलाता है। और वह जब तक मिथ्या ज्ञान निवृत्त नहीं होता तब तक स्थिर नहीं होता। जब मिथ्याज्ञान दग्धबीज भावको प्राप्त होकर उत्पन्न होनेके अयोग्य हो जाता है तब रजो-गुणके क्लेश नष्ट हो गये हैं जिसके सत्व गुण के परम प्रकाश में परम वशीकार सज्ञा मे वर्तमान जो योगी, उसका विवेक ज्ञान का प्रवाह निर्मल हो जाता है। वह अविच्छिन्न विवेकख्याति होने का उपाय है तब मिथ्या ज्ञान के बीज भाव का नाश होता है फिर उत्पन्न नहीं होता यह मोक्ष का मार्ग हान का उपाय है॥ २६॥

भा० का भा०—दृश्य पदार्थों से और बुद्धि से आत्मा भिन्न है ऐसा विचार हो जिसमे वह ज्ञान विवेकख्याति कहलाता है और वह विवेकख्याति जब तक मिथ्याज्ञान नष्ट नहीं होता, स्थिर नहीं होता जब उसका प्रकाश होता है तब मिथ्याज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है अर्थात् उसकी उत्पत्ति फिर नहीं होती। तब रजोगुण से उत्पन्न हुआ क्लेश नाश हो जाता है और सत्वगुण के प्रकाश से ज्ञान के प्रवाह में निर्मल हो जाता है, वही विवेकख्याति हान का उपाय है। जब मिथ्या ज्ञान के बीज का नाश हो जाता है वह पुनः उत्पन्न नहीं होता। यही मोक्ष का मार्ग और हानोपाय है॥ २६॥

२६—इस सूत्र में विवेकख्याति विशेष्य और अविप्लवा विशेषण है। अविप्लवा का अर्थ यह है "न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तराऽन्तरा व्युत्थानं रूपो यस्याः सा अविप्लवा"। तात्पर्य यह है कि अविद्या के नाश हो जाने पर कर्त्ता और भोक्तापन का अभिमान बुद्धि से जाता रहता है तब वह बाह्य विषयों को त्याग कर अन्तर्मुख हो जाता है तब दृश्य का अधिकार निवृत्त हो जाता है तदनन्तर मोक्ष होता है। यही हान अर्थात् संसार त्याग का उपाय है॥ २६॥

भो० वृ०—अन्ये गुणा अन्यः पुरुष इत्येव विधस्य या ख्यातिः

प्रकृत्या वाऽस्य हानस्य हेयस्य परित्यागस्योपाया कारणम् । कीदृशी, अविप्लवा न विद्यते विप्लवा विच्छेदोऽन्तराऽन्तरा व्युत्थानरूपो यस्याः साऽविप्लवा । इदमत्र तात्पर्य्यम् प्रतिपक्षभावनाबलादविद्या-प्रविलये निवृत्तकर्त्तृत्व भोक्तृत्वाभिमानाया रजस्तमोमलानभिभूताया बुद्धेरन्तर्मुखा या चिच्छायाः संक्रान्तिः सा विवेकख्यातिरुच्यते तस्यां च सन्ततत्वेन प्रवृत्तायां सत्यां दृश्यस्याधिकारनिवृत्ते-र्भवत्येव कैवल्यम् ॥ २६ ॥

भो० वृ० का भा०—गुण भिन्न हैं और आत्मा भी एक पृथक् पदार्थ है इस विवेक ज्ञान को हान अर्थात् दुःखपरित्याग का उपाय का कारण जानना चाहिये वह विवेकख्याति कैसा है । "नहीं है विप्लव अर्थात् विनाश जिसका" । अभिप्राय यह है कि अविद्या के विरोधी ज्ञान के उदय होने से रजोगुण और तमोगुण की जिन वृत्तियों से कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान बुद्धि को घेरे हुए हैं उन वृत्तियों से बुद्धि रहित होकर अन्तर्मुख हो जाती है चैतन्य के आभास रूप विचार को विवेक ख्याति कहते हैं ॥ जब वह विवेक तत्स्वरूप विचार में प्रवृत्त रहती है तब दृश्य का अधिकार निवृत्त हो जाने से पुरुष को कैवल्य होता है ॥ २६ ॥ जिसको विवेकख्याति उत्पन्न हुई है उसकी बुद्धि का वर्णन करते हुए विवेकख्याति का रूप कहते हैं ।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

सू० का पदा० (तस्य) पूर्वोक्त हानोपाय की (सप्तधा) ७ प्रकार की (प्रान्तभूमिः) योगी के ज्ञान की भूमि (प्रज्ञा) बुद्धि है ॥ २७ ॥

सू० का भावा०—पूर्वसूत्र में कहे हुए हानोपाय प्राप्त हुए योगी

की ७ प्रकार की बुद्धि है ॥ २७ ॥

व्या० दे० का भा०—तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः । सप्तधेति अशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति । तद्यथापरिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति । क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति । साक्षात्कृतं निरोध समाधिना हानम्भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इति एषा चतुष्टयी कार्य्या विमुक्तिः प्रज्ञायाः चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी चरिताधिकारा बुद्धिः । गुणा गिरिशिखरतटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तङ्गच्छन्ति न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति । एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूप मात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति । एतां सप्तविधा प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यपुरुषः कुशलं इत्याख्यायते प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वादिति सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपाय इति नच सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते ॥ २७ ॥

भा० का पदा०—जिस योगी का विवेक उदय होगया है, एवं अशुद्धि, आवरण और मल के दूर होने से जिस २ का चित्त ज्ञेय के अतिरिक्त दूसरे किसी ज्ञान को उत्पन्न करने में असमर्थ है, उसकी ७ प्रकार की बुद्धि होती है जब ज्ञेय को इसने जान लिया फिर जानने योग्य कोई पदार्थ नहीं रहता है हेय के हेतु

क्षीण हो जाते हैं पुन विवेकी का क्षीण करने योग्य कुछ नहीं रहता है निरोध समाधि से इसने हान का साक्षात्कार किया है एवं विवेकख्याति रूप हानोपाय का भी जान लिया है यह चार प्रकार की कार्य्य-विमुक्ति प्रज्ञा है और चित्त विमुक्ति तो तीन प्रकार की है। पहिली अधिकरण बुद्धि, दूसरी में वे सत्वादि गुण हैं जो पर्वत के शिखर से गिरे हुए समस्त गुण गिरिशिखर पत्थरों के समान स्थिर नहीं रह सकते किन्तु साधारण में लीन हान के लिए पतन क्रिया के साथ ही नष्ट भ्रष्ट होजाते हैं। कारण में लीन हुए इनकी फिर उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि फिर उत्पत्ति का प्रयोजन ही नहीं रहता इस अवस्था में गुणों के सम्बन्ध से रहित शेष रहता है और यही चित्त विमुक्ति की तीसरी अवस्था है। मकाशरूप वाला निर्मल शुद्ध आत्मा पूर्वोक्त ७ प्रकार की अवस्थाओं में बुद्धि को देखता हुआ पुरुष ज्ञानी कहाता है चित्त की पुनः उत्पत्ति होने पर भी गुणातीत होनेसे मुक्त जीव ज्ञानी ही रहता है ॥ २७ ॥ इस रीति से सिद्ध होता है विवेकख्याति ही हानोपाय है साधन के बिना सिद्धि नहीं होती अतएव सब साधनों का वर्णन किया जाता है।

भा का भाषा०—उक्त ज्ञान की ७ प्रकार की अवस्था है जिनका भूमिका कहते हैं उन में से प्रथम वर्ग की जिसमें ४ भूमिका हैं कार्य्यविमुक्तिसंज्ञा है और दूसरे वर्ग की जिसमें ३ अवस्था हैं चित्तविमुक्ति संज्ञा है। इनमें से प्रथम अवस्था जिस योगी को प्राप्त होती। उसको यह चिन्तन होता है कि पूर्व काल में मुझे बहुत ही ज्ञातव्य था, किन्तु अब मुझे कुछ ज्ञातव्य नहीं है अर्थात् मैं अज्ञम्य है दूसरी अवस्था में प्राप्त होने से योगी को यह मालूम होता है कि पूर्वकाल में मुझे कामादि अनेक दुःख थे, परन्तु अब मुझको कुछ दुःख नहीं। तीसरी अवस्था में

अस्थिर होनेसे योगीको प्रतीत होता है, कि अब मुझे कोई वस्तु का प्राप्त करना अवशिष्ट नहीं है, सब कुछ मुझे प्राप्त होगया है।' चतुर्थ वह भूमिका है जिसमें योगी को यह ज्ञान प्राप्त होता है, कि मैंने सम्प्रज्ञात समाधि से विवेकख्याति की भावना प्राप्त करली अब मुझे भावनीय कोई पदार्थ नहीं रहा। यह चारों कार्य्य विमुक्ति कहलाती हैं। चित्तविमुक्ति अवस्थाओ मे स्थिर होने से योगी को यह ज्ञान होता है, कि पूर्व काल मे मैं अनेक बुद्धिजन्य दुःखों से ग्रस्त था, किंतु अब सब दुःख क्षय हो गये, दूसरी भूमिका में प्राप्त होनेसे योगी को यह परिज्ञान होता है कि मेरे अन्तःकरणके गुण दग्धवीज होगये हैं अब पुन. उनकी उत्पत्ति नहीं होगी जब योगी तृतीय भूमिका अथवा सप्तम भूमिका मे प्राप्त होता है तब उसका चित्त और बुद्धि लय होते हैं उस अवस्था को कैवल्य कहते हैं ॥ २७॥

भो० वृ०—तस्योत्पन्नविवेकज्ञानस्य ज्ञातव्यविवेकरूपा प्रज्ञा प्रान्तभूमौ सकलासालम्बनसमाधिपर्य्यन्ते सप्तप्रकारा भवति। तत्र कार्यविमुक्तिरूपा चतुःप्रकारा-ज्ञातं मया ज्ञेयं न ज्ञातव्यं किन्चिदस्ति, क्षीणा मे क्लेशा न किञ्चित् क्षेतव्यमस्ति, अधिगतं मया ज्ञान प्राप्ता मया विवेकख्यातिरिति। प्रत्ययान्तरपरिहारेण तस्यामवस्थायामी दृश्येव प्रज्ञा जायते ईदृशी प्रज्ञा कार्यविषयं निर्मलं ज्ञान कार्य्यविमुक्तिरित्युच्यते। चित्तविमुक्तिस्त्रिधा—चरितार्था मे बुद्धिर्गुणा हृताधिकारा गिरिशिखिरनिपतिता इव ग्रावाणो न पुनः स्थित यास्यन्ति, स्वकारणे प्रविलयाभिमुखानां गुणाना मोहाभिधानमूलकारणाभावान्निष्प्रयोजनत्वाच्चामीषा कुतः प्ररोहो भवेत्, सात्मी भूतश्च मे समाधिः तस्मिन् सति स्वरूपप्रतिष्ठोऽहमिति ईदृशीत्रिकारा चित्तविमुक्तिः। तदैवमीदृश्या सप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञायामुपजातायां पुरुषः केवल इत्युच्यते॥ २७॥

विवेकख्यातिः संयोगाभावहेतुरित्युक्तं, तस्यास्तूत्पत्तौ किंनिमित्तमित्याह ।

भा० सू० का भा०—जिसको विवेक ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसको जानने योग्य विवेक रूपी बुद्धिभूमि में सब आलम्बन रूपी अवस्था समाधि पर्य्यन्त ७ होती हैं उनमें से कार्य्यविमुक्त रूपक प्रथम की चार भूमियों की प्राप्ति से योगी को यह मालूम होता है कि हेय को मैंने जाना है अब ज्ञातव्य कुछ शेष नहीं रहा है, मेरे क्लेश क्षीण हो गये हैं अब छेत्तव्य कुछ नहीं रहा है, मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है, विवेकख्याति मुझे प्राप्त हुई है, इस अवस्था में ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। इसही को निर्मल ज्ञानवाली बुद्धि कहते हैं इसेही कार्य्यविमुक्ति अवस्था वा भूमिका कहते हैं। चित्तविमुक्ति तीन प्रकार की मेरी बुद्धि चरितार्थ हुई अर्थात् मेरी बुद्धि अपने कार्य्य को कर चुकी है गुणों के अधिकार समाप्त होगये अर्थात मेरे रजो गुणादि अधिकार नष्ट होगये हैं जैसे पहाड़ के शिखर से गिरा जो पत्थर वह फिर पहाड़ के शिखर पर नहीं पहुँचेगा ऐसे ही अपने कारण में लय होजाने वाले गुणोंका कारण जो मोह है उसका अभाव होने से सब गुण निष्प्रयोजन होजाते हैं फिर वह किस प्रकार से उत्पन्न हो सकते हैं। मेरी समाधि ठीक होगई है मैं इस ही अवस्था में अपने रूपमें स्थित हूँ इसको चित्तविमुक्ति कहते हैं। जब यह ७ प्रकार की भूमिका प्राप्त होजाती है तब पुरुष को मुक्त वा कैवल्यप्राप्त कहते हैं ॥ २७ ॥ विवेकख्याति संयोग के अभाव का हेतु है यह कहा परन्तु विवेकख्याति की उत्पत्ति का क्या कारण है? इसका अगले सूत्र में उत्तर कहेंगे ॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक-ख्यातेः ॥ २८ ॥

सूत्र का पदार्थ—(योगांगानुष्ठानात्) योग के जो ८ अंग हैं उनके करने से (अशुद्धिक्षये) मलिनता नाश हो जाती है और उससे (ज्ञानदीप्तिः) ज्ञानका प्रकाश होता है (आविवेकख्यातेः) विवेकख्याति प्राप्त होने तक ॥ २८ ॥

सूत्र का भावा०—योग के अंगों का क्रमशः अनुष्ठान करने से ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति की प्राप्ति होने तक होता है ॥२८॥

व्या० दे० का भा०—योगांगान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि तेषा-मनुष्ठात् पंचपर्वणोविपर्य्ययस्या शुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः तत्क्षये-सम्यक ज्ञानस्याभिव्यक्तिः । यथायथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते यथा यथाच क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमा-नुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्द्धते । सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्ष-मनुभवत्याविवेकख्यातेः आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः योगा-गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोग कारणम् । यथा परशुश्छेद्यस्यविवेकख्या-तेस्तु प्राप्तिकारण यथा धर्मःसुखस्य—नान्यथा कारणम् । कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति नवत्येवाह तद्यथा उत्पत्तिस्थि-त्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा-स्मृतमिति ।

तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति विज्ञानस्य स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता शरीरस्येवाहार इति । अभिव्यक्तिकारणं यथा रूप-स्याऽऽलोकस्तथा रूपज्ञानं विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्

यथाग्निः पाक्यस्य प्रत्ययकारणं धर्मज्ञानमभिज्ञानस्य प्राप्तिकारणम् योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः । अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः एकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या मूढत्वे द्वेषो दुःखत्वे रागः सुखत्वे तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये । धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणाम् । तानि च तस्य महाभूतानि शरीराणां तानि च परस्परं सर्वेषां तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वादित्येवं नवकारणानि तानि च यथासम्भवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभते इति ॥ २८ ॥

तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते ।

भा० का प०—योग के आठ अङ्ग जिनका आगे वर्णन किया जायगा आठ हैं उनका अनुष्ठान करने से पाँच भाग वाला मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है उसके नाश हो जाने से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है और जैसे २ साधन किये जाते हैं वैसे २ मल न्यून होता जाता है और जैसे २ अपवित्रता नाश होती जाती है वैसे ही वैसे उस क्रम के अनुसार ज्ञान का भी प्रकाश बढ़ता जाता है यह ज्ञान की वृद्धि विवेक ख्याति अर्थात् गुण और पुरुष के स्वरूप ज्ञान होने तक उत्कृष्टता को प्राप्त होती है। योगांगोंका अनुष्ठान अपवित्रता के नाश का कारण है जैसे फरसा काठ के उच्छेद का कारण है। तथा विवेक ख्याति के प्राप्ति का कारण है जैसे धर्म के अतिरिक्त सुख का कारण अन्य कोई नहीं है। शास्त्र में कितने कारण होते हैं ? जो होते हैं जिनके नाम ये हैं १ उत्पत्ति २ स्थिति ३ अभिव्यक्ति ४ विकार ५ प्रत्यय ६ प्राप्ति ७ वियोग ८ अन्यत्व और ९ धृति ।

ये नव प्रकार के कारण शास्त्र में कहे हैं उनमें से ज्ञान की उत्पत्ति का कारण मन है मन की पुरुषार्थता स्थिति का कारण है जैसे शरीर का कारण आहार है। अभिव्यक्ति का कारण रूप

ज्ञान है जैसे रूप का प्रकाश। विकार का कारण मन का विपर्यान्तर मे जाना है। जैसे अग्नि पाक के विकार का कारण है॥ धुयें का ज्ञान अग्नि ज्ञान के प्रलय का कारण है। योगागों का अनुष्ठान विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है और वही अशुद्धि के वियोग का भी कारण है। अन्यत्व कारण है जैसे सुवर्ण का सुनार। इसही प्रकार से एक स्त्री प्रत्ययमे अविद्या मोह का कारण होती है, द्वेष दुःख का कारण होता है, राग सुख का और तत्व ज्ञान वैराग्य का कारण होता है। शरीर, इन्द्रियो का धृति कारण है और इन्द्रियाँ शरीर की तथा महाभूत शरीरों के मनुष्य योनि और देवयोनि का कारण है. इस प्रकार एक दूसरे के सहायक परस्पर ये ९ हैं। जहाँ २ सम्भव हो अन्य पदार्थों मे भी लगाने चाहिये योगांग के अनुष्ठान तो दो ही प्रकार के कारण भाव को प्राप्त करते हैं॥ २८॥

भा० का भावा०—योग के अग जिनका आगे वर्णन किया जायगा उनका अनुष्ठान करने से पञ्चपर्वा अविद्या नष्ट होती है उससे अपवित्रताका क्षय होता है और अपवित्रता के नाश होने से ज्ञान की प्राप्ति होती है, योगी जैसे २ जपादि का अनुष्ठान करता है वैसे ही मलिनता क्षय होती है और मलिनता क्षय के क्रम से ही ज्ञानोदय होता जाता है वह ज्ञान क्रम से उत्कृष्ट होता जाता है जिस प्रकार से सुख का कारण केवल धर्म्म है ऐसे ही मोक्ष प्राप्ति का यह योगाग कारण है॥ २८॥

भो० वृ०—योगाङ्गानि वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानात् ज्ञानपूर्वकादभ्यासाद्वाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्त्वस्य प्रकाशावरणरूप क्लेशात्मिकाशुद्धिक्षये या ज्ञानदीप्तिस्तारतम्येन सात्विकः परिणामो विवेकख्यातिपर्य्यन्तः स तस्याः ख्यातेर्हेतुरित्यर्थः॥ २८॥

योगाङ्गानामनुष्ठानादशुद्धिक्षय इत्युक्तं, कानि पुनस्तानि योगाङ्गानि

इति वपामुद्देशमाह ।

भो० वृ० का भा०—जिन योग के अङ्गों का वर्णन किया जायगा उनके साधन अर्थात् ज्ञान पूर्वक अभ्यास से विवेकख्याति प्राप्त होती है और उससे अशुद्धि का क्षय हो जाता है ज्ञान का प्रकाश होने से सात्विक परिणाम विवेकख्याति तक रहता है वही परिणाम विवेकख्याति का हेतु है ॥ २८ ॥

इस सूत्र में यह है कि योग के अङ्गों के साधन से अशुद्धि क्षय होती है परन्तु वह योग के अङ्ग कौन हैं इसका वर्णन अगले सूत्र में करेंगे ।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणा समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२६ ॥

सू० का पदार्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान धारणा, और समाधि योग के यह ८ अंग हैं ॥ २६ ॥

सू० का भा०—यमादि योग के ८ अंग हैं ॥ २६ ॥

व्या० दे० का भा० —यथाक्रममेतेषामनुष्ठानं स्वरूपञ्च वक्ष्यामः ॥ २६ ॥ तत्र—

भाष्य का पदार्थ—क्रम से इनका अनुष्ठान और स्वरूप आगे कहेंगे ॥ २६ ॥

भाष्य का भावार्थ—यमादि योग के ८ अंगों के स्वरूप आगे कहेंगे ॥ २६ ॥

२६—इन अंगों से कुछ अंग योग के साक्षात् साधन हैं और कुछ परम्परा सम्बन्ध में योग में सहायता देते हैं जैसे यम और

नियम चित्त मे निर्मलता उत्पन्न करते हैं और चित्त शुद्ध होने से योग मे रुचि बढ़ती है, परन्तु यम साक्षात् समाधि के साधक नहीं हैं। इस ही से इन्हें योग का बहिरंग साधन कहना उचित है और प्राणायामादिक साक्षात् योग के साधन हैं अतएव अन्तरंग साधन कहे जाते हैं ॥ २९ ॥

भो० वृ—इह कानिचित् समाधेः साक्षादुपकारकत्वेनान्तरंगाणि यथा धारणादीनि। कानिचित् प्रतिपक्षभूतहिंसादिवितर्कोन्मूलनद्वारेण समाधिमुपकुर्वन्ति। यथा यमनियमादीनितत्रासनादीनामुत्तरोत्तरमुपकारकत्वम्। तद्यथा—सत्यासनजये प्राणायामस्थैर्य्यमेवमुत्तरत्रापियोज्यम् ॥ २९ ॥ क्रमेणैषास्वरूपमाह

भो० वृ० का भा०—इनमे से कोई अंग योग के साक्षात् उपकारक होने से अन्तरंग हैं। जैसे धारणादिक कोई हिंसादि के प्रतिपक्षी होने से वितर्क के नाशक होने के कारण योग में उपकारक होते हैं जैसे यम नियमादि आसनादिक परम्परा से योग के साधक हैं जैसे आसन के जीतने के पश्चात् प्राणायाम स्थित होता है ऐसे ही योग के और अंगों को भी समझना चाहिये ॥२९॥ योग के अंगों का क्रम से लक्षण कहते हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥

सू० का पदा०—(अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः) सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह अर्थात् विषयों का संग्रह न करना यम हैं ॥ ३ ॥

सू० का भा०—यम ५ हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ॥ ३० ॥

व्या० दे० का भा०—तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्व-

भूतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते । तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते तथाचोक्तम्—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति ।

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे । यथा दृष्टं यथानुमितं तथा वाङ्मनश्चेति । परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति । एषा सर्वभूतोपकाराय प्रवृत्ता न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात् तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् ।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥ ३० ॥ ते तु

भा० का प०—उक्त यमों में से अहिंसा यम कहते हैं जो सब प्रकार से सब काल में प्राणिमात्र का अभिद्रोह चिन्तन न करे और अगले यम और नियम इसी से ही होते हैं उसकी सिद्धि के लिए ही और यमादि प्रतिपादित किये जाते हैं उसका निर्मल और निर्मल-

करने के लिए ग्रहण किये जाते हैं ऐसा ही अन्यत्र कहा है यह ब्रह्म को जानने वाला योगी जैसे जैसे बहुत से व्रतो को धारण करने की इच्छा करता है तैसे ही तैसे प्रमाद से किये हुए हिंसा के कारण रूप पापो से निवृत्त होकर उस ही निर्मल रूपवाली अहिंसा को धारण करता है।

अब सत्य को कहते हैं जिसमे मन और वाणी यथार्थ रहे जैसा देखा हो जैसा अनुमान किया हो वैसा ही अपने मन और वाणी को रखना। दूसरे मनुष्य मे अपने ज्ञान को जतलाने के लिए जो वचन कहा जाय वह वाक्य न छल कपट भरा, न भ्रम देने वाला और न निरर्थक हो। वह वाणी सब प्राणियों के उपकार के वास्ते कही गई हो किन्तु प्राणियों के नाश के वास्ते न कही गई हो यदि वह कहा हुआ वाक्य प्राणियों का उत्पीडक हो तो वह सत्य नहीं होगा उसके अनुसार आचरण करने से पाप ही होता है पुण्याभाव अर्थात् जो पुण्य के नाम से स्वार्थ साधन किया जाता है और अपुण्य के कृत्य से कष्ट पाता है इसलिये परीक्षा करके जिसमें सब प्राणियों का हित हो ऐसा सत्य ही बोले।

चोरी उसको कहते है कि निषिद्ध रीति से दूसरे का द्रव्य लेना। उस के निषेध को अस्तेय कहते हैं। तृष्णा से भी चोरी होती है इस लिए तृष्णा का त्याग भी अस्तेय है। ब्रह्मचर्य का अर्थ यह है कि लिगेन्द्रिय का निरोध करना अर्थात् वीर्यरक्षा। विषयों का संग्रह करने मे फिर उनकी रक्षा करने मे और उनके नाश में सर्वत्र हिंसारूप दोष को देख कर जो विषयों का त्याग है उसे अपरिग्रह कहते हैं॥ ३०॥

भा० का भा०—अहिंसा उसे कहते हैं जो किसी प्रकार किसी काल मे भी किसी प्राणी की शत्रुता का न करना यह अहिंसा अन्य ४ यमों की मूल है, क्योंकि अहिंसा के सिद्ध करने को ही

प्रमाणित किये जाते हैं। सत्य उसे कहते हैं, कि जैसा अपना दृष्ट या अनुमित विषय हो वैसा ही प्रकाशित करना और जिसे दूसरा करना उसे निष्कपट अभिप्राय ऐसे शब्दों में करना जिन से उसे बोध हो जाय, जिसमें प्राणियों का उपघात हो वह सत्य नहीं है और सो पुण्याभास है उससे धर्म नहीं होता किन्तु पाप ही होता है इसलिये सावधानी से सत्य की परीक्षा करके वचन बोलना उचित है। अस्तेय का अर्थ है कि शास्त्र विरुद्ध रीति से किसी के धन को ग्रहण न करना या इन्द्रियों का निरोध किया जाता है उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। विषयों का जो दोष दृष्टि से त्यागना है उसे अपरिग्रह कहते हैं यह ५ यम हैं॥ ३०॥

भा० सू०—तत्र प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारो हिंसा। सा च सर्वानर्थहेतुः। प्रथमं तदभावोऽहिंसा। हिंसायाः सर्वप्रकारेणैव परिहार्य्यत्वात् प्रथमं तदभावरूपाया अहिंसाया निर्देशः। सत्यं वाङ्मनसोर्यथार्थत्वम्। स्तेयं परस्वापहरणं तदभावोऽस्तेयम् ब्रह्मचर्यमुपस्थसंयमः। अपरिग्रहो भोगसाधनानामनङ्गीकारः। तत्र पदेऽहिंसादयः पञ्च यमशब्दवाच्या योगाङ्गत्वेन निर्दिष्टाः॥ ३०॥ एषां विशेषमाह—

भो० सू० का भा०—इसमें हिंसा का अर्थ यह है कि किसी प्राणी के शरीर को प्राण से जुदा कर देने के प्रयोजन से जो क्रिया की जाती है उसे हिंसा कहते हैं। यह हिंसा सब अनर्थों का हेतु है। उसके अभाव को अहिंसा कहते हैं क्योंकि अहिंसा में सब प्रकार की हिंसा निवृत्त हो जाती है। इस ही कारण प्रथम अहिंसा का वर्णन किया गया है। सत्य का अर्थ यह है कि वाणी और मन को ठीक रखना। चोरी का अर्थ यह है कि पराये धन को छीन लेना और उसके अभाव को अस्तेय कहते हैं। ब्रह्मचर्य का अर्थ यह है कि लिंग इन्द्रिय को वश में रखना। अपरिग्रह का

अर्थ यह है, कि भोग साधन की सामग्रियों को ग्रहण न करना । योग के अंगों मे से अहिंसादिक ५ योग के अंग कहाते हैं ॥ ३० ॥

इनका विशेष वर्णन करते हैं—तेतु

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

सू० का पदा०—(जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः) जाति, देश, काल और समय से अनावृत (सार्वभौमाः) सर्व पृथिवी और सब विषयों में पालन करना (महाव्रतम्) महाव्रत है ॥ ३१ ॥

सू० का भा०—जाति, देश, काल और समय मे आवद्ध न होकर इन यमों का सर्वथा परिपालन करना महाव्रत कहाता है ॥३१

व्या० दे० का भा०—तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यवधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा । सैव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति । सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति । सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति । यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति । एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः । सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते ॥ ३१ ॥

भा० का पदा०—(तत्राहिंसाजात्यवच्छिन्नाः) उनमे से जाति

के अनुसार अहिंसा यह है कि मछली पकड़ने वाले की हिंसा केवल मछलियों के मारने में है अन्यत्र नहीं। वही हिंसा देश-सम्बन्धिनी होती है, (न तीर्थे हनिष्यामीति) तीर्थ स्थानमें हिंसा न करूंगा यही कालसम्बन्धिनी होती है चतुर्दशी को या और किसी पुण्यतिथि में हत्या न करूंगा इन तीनोंसे विरुद्ध है उसे समय सम्बन्धिनी। देवता ब्राह्मण के वास्ते हिंसा करूंगा और ऐसे ही क्षत्रियों की युद्ध ही में हिंसा होती है अन्यत्र नहीं। इन जाति, देश, काल और समयोंसे असम्बन्धित अहिंसादि यम सब प्रकार से पालन करने योग्य हैं। सब अवस्थाओं में सब विषयों में सब प्रकारसे जिसमें व्यभिचार न हो, वह सार्वभौम महाव्रत कहाता है ॥ ३१ ॥

भा० का भा०—जात्यवच्छिन्न हिंसा वह कहाती है जो जाति से सम्बन्ध रखती हो जैसे मछुआ जाति में मछली मारना देश सम्बन्धिनी हिंसा वह है जो किसी देश के अन्दर ही की जाय ऐसे ही काल और समय सम्बन्धिनी भी हैं इनसे सर्वथा निवृत्त होने को सार्वभौम महाव्रत कहते हैं ॥ ३१ ॥

३१ सूत्र—जाति ब्राह्मणादि अर्थात् ब्राह्मणों को न मारूंगा, ऐसे ही अमुक तीर्थ वा चतुर्दशीके दिन हत्या न करूंगा अथवा देवताओं के निमित्त ही हत्या करूंगा इस पक्षपात को त्याग कर ऐसी प्रतिज्ञा करना कि मैं कभी किसी प्रयोजन के वास्ते भी किसी को नहीं मारूंगा ऐसे ही सत्य पालन चोरी न करने आदि के व्रत को सार्वभौम महाव्रत कहते हैं। यहाँ पर सार्वभौमका अर्थ उक्त ७ प्रकार की भूमियों में स्थिर रहने वाला है ॥ ३१ ॥

भा० पु०—जातिर्ब्राह्मणत्वादिः। देशस्तीर्थादिः। कालश्चतुर्दश्यादिः समयो ब्राह्मणप्रयोजनादिः। एतैश्चतुर्भिरनवच्छिन्ना पूर्वोक्ता अहिंसादयो यमाः सर्वासु क्षिप्तादिषु चित्तभूमिषु महा

महाव्रतमित्युच्यते। तद्यथा ब्राह्मणं न हनिष्यामि तीर्थे न कञ्चन हनिष्यामि। चतुर्दश्यां न हनिष्यामि। देवब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण कमपि न हनिष्यामीति। एतच्चतुर्विधावच्छेदव्यतिरेकेण किञ्चत् क्वचित् कदाचित् कस्मिंश्चिदर्थे न हनिष्यामीत्यवच्छिन्ना। एवं सत्यादिषु यथायोग्यं योज्यम्। इत्थमनियतीकृताः सामान्येनैव प्रवृत्ता महाव्रतमित्युच्यते न पुनः नियमानाह-परिच्छिन्नावधारणम्॥ ३१॥

भो० वृ० का भा०—जाति का अर्थ ब्राह्मणत्व आदि है न्याय दर्शन में जाति के दो लक्षण लिखे हैं एक "समानप्रसवात्मिका जातिः" अर्थात् जिन समस्त व्यक्तियो मे किसी विशेष गुण के कारण देखने वालों को समान बुद्धि उत्पन्न हो उसे जाति कहते हैं। जैसे गोत्वधर्मावच्छिन्न समस्त व्यक्ति गौ कहलाती हैं ऐसे ब्राह्मणत्व गुणविशिष्ट मनुष्य ब्राह्मण जाति के कहलाते हैं। दूसरा लक्षण "साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः" लिखा है इसका अर्थ भी यही है कि साधर्म्य और वैधर्म्य से जिसका निर्णय होता है उसे जाति कहते हैं। देश का अर्थ स्थान विशेष जैसे काशी आदि है, काल का अर्थ चतुर्दशी आदि है समय का अर्थ दिन का कोई भाग सन्ध्या आदि है इन सबके सम्बन्ध से रहित जो अहिंसादि यमो का पालन करना है उसे सार्वभौम महाव्रत कहते हैं अर्थात् क्षिप्त वा मूढ आदि किसी अवस्था में भी इनका परित्याग न करना, तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण का न मारूँगा, तीर्थ में हत्या न करूँगा, चतुर्दशी को किसी प्राणी का वध न करूँगा, देवता ब्राह्मण के हित साधन के अतिरिक्त हत्या न करूँगा इत्यादि चार प्रकार के प्रयोजन से युक्त जो हत्या है उनको जात्यवच्छिन्न, देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न और समयावच्छिन्न हत्या कहते हैं और किसी प्राणी का वध न करूँगा, किसी स्थान

मैं भी हिंसा न करूँगा किसी दिन या समय में भी हिंसा न करूँगा और किसी प्रयोजन से भी हिंसा न करूँगा इस व्रत के धारण करने को सार्वभौम कहते हैं, ऐसे ही यमोंको भी समझना चाहिये ॥ ३१ ॥

अगले सूत्र में नियमों का वर्णन करेंगे।

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

सू० का पदा०—[शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान [नियमाः] ये ५ नियम कहाते हैं ॥३२॥

सू० का भा०—शौच आदि नियम कहाते हैं ॥ ॥ ३२ ॥

व्या० दे० का भा०—तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। सन्तोषः—सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा तपो—द्वन्द्वसहनम् द्वन्द्वाश्च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च। व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा, स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ॥ यत्रेदमुक्तं ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्चेति ३२

भा० का प०—अब शौच का अर्थ करते हैं। मट्टीजलादि से अथवा पवित्र आहारादि से बाह्य शौच होता है और चित्त मलों के प्रक्षालन से आभ्यन्तर प्राप्त साधन से अधिक की इच्छा न करना सतोष कहाता है। द्वन्द्व सहनका नाम तप है। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, स्थान, आसन, काष्ठ मौन आकार मौन* को द्वन्द्व कहते हैं यथा कृच्छ्रचान्द्रायण और सान्तपन आदि व्रत कहलाते हैं। मोक्षशास्त्रों का पढ़ना अथवा प्रणव का जप स्वाध्याय कहलाता है। ईश्वर में सब कर्म्मों का अर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान है। शय्या वा आसन पर बैठा या चलता या स्वस्थ,. गतवितर्कजाल ससारके बीजको नष्ट देखता हुआ नित्य मुक्त और मोक्षभागी होता है जहाँ यह कहा जाता है वहाँ परमात्मा के ज्ञानकी प्राप्ति होती है और विघ्नो का नाश होता है॥ ३२॥

भा० का भा०—मट्टी और जलादि से स्नान और शोधन बाह्यशौच सत्यादि के आचरण से चित्त शुद्धि करना अन्तश्शौच कहाता है। सन्निहितसाधन की अनिच्छा सन्तोष कहाती है। सर्दी, गर्मी, भूख, प्यासका सहना मौन, कृच्छ्रचान्द्रायण आदिका करना तप कहाता है मोक्षनिरूपक शास्त्रों के पढ़ने तथा प्रणव के जप को स्वाध्याय कहते हैं। जो कर्म्म करे उसको ईश्वर में अर्पण करदे इसको ईश्वरप्रणिधान कहते हैं। सोता, बैठता, चलता, स्वस्थ, निवृत्तवितर्क—संसारबीज को ग्रहण न कर जो पुरुष रहता है वह मोक्षपदको प्राप्त होता॥ ३२॥

भो० वृ०—शौचं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च। बाह्यं मृज्जलादिभिः कायादिप्रक्षालनम्। आभ्यन्तरम् मैत्र्यादिभिश्चित्तमलाना

---

* संकेत से भी अपने अभिप्राय को प्रकट न करना काष्ठमौन और मुँह से न बोलना आकार मौन कहलाता है।

मथासनम् सन्तोषस्तुष्टिः शेषाः प्रागेव कृतव्याख्याना एते शौचा दयो नियम शब्दवाच्या ॥ ३२ ॥ कथमेषां योगांगत्वमित्याह ।

भा० सू० का भा०—शौच या शुद्धता दो प्रकार की है एक बाह्य और दूसरी आभ्यन्तर। मट्टी और जल आदि से जो स्थूल शरीर का धोना है उसे बाह्यशुद्धि कहते हैं मैत्री और मुदिता आदि से जो चित्तके मलों को दूर करना है उसे आभ्यन्तरशुद्धि कहते हैं सन्तोष तुष्टि का कहते हैं और नियमोंका व्याख्यान प्रथम ही कर चुके हैं यह शौच आदि नियम कहाते हैं ॥ ३२ ॥ यह योग के अङ्ग क्योंकर हैं इसका वर्णन आगे किया जायगा—

वितर्कबाधनेप्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

सू० का पदा०—(वितर्कबाधन) विघ्नों की बाधा होने पर (प्रतिपक्षभावनम्) प्रतिकूल भावना करे ॥३३॥

सू० का भा०—हिंसादि विघ्नों की बाधा होनपर उनके विरुद्ध भावना करे ॥ ३३ ॥

व्या० दे० का भा०—यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन्हनिष्याम्यहमपकारिणमनृतमपि वक्ष्यामि द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि दारेषु चास्य व्यवायीभविष्यामि परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान् भावयेत् । घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभय-प्रदानेन योगधर्मः स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत् यथा श्वा वान्तावलेही

तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति । एवमादिसूत्रान्तरेष्वपि योज्यम् ॥ ३३ ॥

भा० का पदा०—जब इस योगीको हिंसादिक वितर्क उत्पन्न हो तब मैं शत्रु को मारूँगा, झूँठ भी बोलूँगा, इसका द्रव्य भी छीन लूँगा, इसकी स्त्री से कुकर्म करूँगा और इसके धनका स्वामी हूँगा इत्यादि उन्मार्ग मे लेजानेवाले उद्दीप्त वितर्क ज्वर से बाध्यमान उनके प्रतिपक्ष की हृदय मे भावना करे। घोर संसार अगारों में पकते हुये मैंने प्राणिमात्र का अभयदान देने के लिये योगधर्म की शरण ली है सो मैं इसको छोड़ कर पुनः वितर्कों को ग्रहण करके कुत्तेके समान प्रवृत्त होता हूँ ऐसी भावना करे। जैसे कुत्ता वमन कियेको खाता है तैसे ही छोड़े हुये को फिर ग्रहण करनेसे मेरी वैसे ही दशा होगी ॥ ३३ ॥

भा० का भा०—जब इस ब्राह्मण की हिंसादि कुकर्मों मे बुद्धि जाय और ये मति होय कि मैं इसको मार डालूँगा, गाली दूँगा, द्रव्य ले लूँगा, स्त्री छीन लूँगा, इसके संसार का स्वामी हो जाऊँगा इत्यादि तब जाने कि कुमार्ग के अतितीक्ष्ण ज्वर से बाधित हूँ और घोर संसार के अंगारों से पकता हूँ अब मुझको समस्त प्राणियों को निर्भय दानपूर्वक योगधर्म्म ही की शरण लेनी चाहिये सो मैं वितर्कों को त्यागके (योग धर्म्मों को) ग्रहण करूँ ऐसी भावना करे ॥ ३३ ॥

३३ सू०—योगी को जब जान पड़े कि मेरा चित्त वितर्क अर्थात् योग के विरुद्ध चल रहा है तब उसे चाहिये कि वितर्कों की ओर से अपने चित्त को रोके और समझे कि संसार के विषयों को मैंने त्याग दिया है अब उनको ग्रहण करना ऐसा है जैसे उगले हुए को खाना।

भो० वृ०—वितर्क्यन्त इति वितर्काः । योग परिपन्थिनो हिंसा दयस्तेषां प्रतिपक्षभावने सति यदा बाधा भवति तदा योगः सुकरो भवत्येव यमनियमानां योगांगत्वम् ॥ ३३ ॥ इदानीं वितर्काणां स्वरूपं भेदप्रकारं कारणं फलंच क्रमेणाह ।

भा० वृ० का भा०—वितर्क किया जाय जिनके द्वारा उनको वितर्क कहते हैं योग के शत्रु हिंसादिक वितर्क कहाते हैं उन वितर्कों के यह यम नियम शत्रु हैं इनके द्वारा योग सुगम होता है इस कारण यम और नियमादि योग के अङ्ग कहाते हैं ॥ ३३ ॥ आगे वितर्कों के लक्षण भेद प्रकार, कारण और फल का वर्णन करेंगे—

हिंसादय कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोध मोह पूर्वका वितर्का मृदुमध्याधिमात्रा दु खाज्ञा नानन्त फला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

सू० का पदा —(वितर्का हिंसादय) वितर्क हिंसादि हैं (कृतकारितानुमोदिता) स्वयं किये या दूसरे से कराये या जिनके करने में सम्मति दी हो (लोभ क्रोधमोहपूर्वका) लोभ से क्रोध से मोह से (मृदुमध्याधिमात्रा) मृदु, मध्य और तीव्र (दुःखाज्ञानानन्तफलाः) अनन्तदुःख और

हों। ये सब दुःख अज्ञान के अनन्त फल देनेवाले हैं यही योग मे प्रतिपक्षभावना कहाती है॥ ३४॥

व्या० भा०—तत्र हिंसा तावत्कृतावकारिताऽनुमोदितेति त्रिधा। एकैका पुनस्त्रिधा लोभेन मांसचर्मार्थेन क्रोधेनापकृतमनेनेति मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति। लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति। एवं सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति हिंसायाः। मृदु मध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधा मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति। तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति। तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। एवमेकाशीति भेदा हिंसा भवति। सा पुनर्नियमविकल्प समुच्चयभेदादसंख्येया, प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यम्।

ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानानन्त फला इति प्रतिपक्षभावनम्। दुःखमज्ञानञ्चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम्। तथा च हिंसाकस्तावत् प्रथमं वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति। ततश्च शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति। ततो जीवितादपि मोचयति। ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति। दुःखोत्पादान्नरकतिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणञ्च जीवितात्यये वर्त्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात् कथञ्चिदेवोच्छ्वसिति। यदि च कथञ्चित्पु-

यथायथापगता हिंसा भवेत् तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति । एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासम्भवम् । एवं वितर्काणाञ्चा- मुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रणि दधीत ॥ ३४ ॥

भा० का प०—यहाँ हिंसा १—कृता-स्वयम् अपने शरीर द्वारा की गई २—कारिता दूसरेके द्वारा कराई गई ३—अनुमोदिता जिसमें अनुमति दी जाय इन भेदोंसे हिंसा तीन प्रकार की है । फिर एक एक तीन प्रकार की है लाभ से मांस और चमड़े के निमित्त क्रोध से इसने मेरा अपकार किया है । मैं भी इसे मारूँ । मोह से मुझको बलिदान चढ़ाने से धर्म होगा लाभ, क्रोध और मोह ये भी पुनः ३ प्रकार के हैं मृदु मध्य और तीव्र इस प्रकार हिंसा के २७ भेद होते हैं । मृदु, मध्य और तीव्र फिर तीन प्रकार के हैं । १ मृदु २ मध्य मृदु और ३ तीव्र मृदु । १ मृदुमध्य २ मध्यमध्य, ३ तीव्रमध्य । ऐसे ही १ ऐसे ही १ मृदुतीव्र २ मध्यतीव्र ३ तीव्र तीव्र । इस रीति से ८१ भेदवाली हिंसा होती है फिर यही हिंसा नियम विकल्प और संग्रह के भेद से असंख्य भेद वाली है क्योंकि प्राणियोंके असंख्य भेद हैं । ऐसे ही असत्यादि के भी भेद समझने चाहिये । ये वितर्क दुःख और अज्ञान आदि अनन्त फलों के देने वाले हैं । ऐसी भावना करना ही प्रतिपक्षभावना कहलाती है । ऐसे ही हिंसा करने वाला प्रथम तो जिसका वध करने की इच्छा करता है उसके बल की निन्दा वा तिरस्कार करता है उसके पश्चात् शस्त्रादि से मार कर उसे दुःख देता है इसके अनन्तर जीवन से उसे छुड़ा देता है इसके पश्चात् उस हत्याकारी ने जो वध्य के बल वीर्य का तिरस्कार किया था इससे इसका भी जो वीर्य जड़ और चेतन का क्षीण की जो सामग्री है वही क्षीण

होजाता है जो हत्याकारी ने बध्य को शस्त्रादि से दुःख दिया था उससे हिंसक को भी नरक अर्थात् जन्म जन्मान्तरमें दुःख भोगना पड़ता है। जो हिंसकने जीव घात किया है जिस समय हत्याकारी का प्राणान्त होगा उस समय मरने की इच्छा करने पर भी दुःख का फल अवश्य भोग्य होने के कारण बड़े कष्टसे ऊर्ध्वश्वास होता है यदि किसी प्रकारकी पुण्ययुक्त हिंसा हो, उसमें सुख प्राप्त होकर मनुष्य अल्पायु होता है ऐसे ही मिथ्याभाषणादि के फल समझना जैसा सम्भव हो। इस से वितर्कोंके अनिष्ट फलको विचारकर वितर्कोंमें मनको न लगावे ॥ २४ ॥

भा० का भा०—हिंसा तीन प्रकार की होती है—१ अपने से की हुई २ और से कराई ३ सलाह से कराई पुनः एक २ तीन २ प्रकार की होती है एक लोभ से—अर्थात् इसके मारने से मुझे इतना मास और चर्म मिलेगा, दो क्रोध से—अर्थात् इससे मेरा अपमान किया है मैं भी इसे मारूँ। तीसरे मोह से अर्थात् मुझे इसके मारने से धर्म्म होगा। लोभ, क्रोध, मोह से करी हिंसा पुनः ३, तीन प्रकार की होती है मृदु २ मध्य ३ तीव्र ऐसे हिंसा ७ प्रकार की है पुनःमृदु मध्य और तीव्र भी तीन २ प्रकार के हैं। १ मृदु मृदु, २ मध्यमृदु, ३ तीव्रमृदु। १ मृदुमध्य, २ मध्यमध्य, ३ मध्यतीव्र तैसे ही १ मृदुतीव्र, २ मध्यतीव्र, ३ तीव्रतीव्र। ये इस प्रकार हिंसाके ८१ भेद होते हैं। फिर नियम, विकल्प और समुच्चय भेद से असंख्य भेद होते हैं क्योंकि प्राणियों के असंख्य भेद हैं ऐसे ही असत्यादि के भेद भी जानना। ये हिंसादि वितर्क दुःख अज्ञादि अनन्त फल देने वाले हैं। हिंसा करने वाला पहले जिसके वध की इच्छा करता है तब उसके बल की निन्दा करता है फिर शस्त्रादि से उसे दुःख देता है इसके पश्चात् मार डालता है अतएव जैसे इसने उसके वीर्यादि का तिरस्कार किया था वैसे ही

ण्यावापगता हिंसा भवेत् तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति । एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासम्भवम् । एवं वितर्काणाममुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत ॥ ३४ ॥

भा० का प०—यहाँ हिंसा १–कृता-स्वयम् अपने शरीर द्वारा की गई २–कारिता दूसरे के द्वारा कराई गई ३–अनुमोदिता जिसमें अनुमति दी जाय इन भेदों से हिंसा तीन प्रकार की है। फिर एक एक तीन प्रकार की है लाभ से मांस और चमड़े के निमित्त क्रोध से इसने मेरा अपकार किया है। मैं भी इसे मारूँ। मोह से मुझको बलिदान चढ़ाने से धर्म होगा लोभ, क्रोध और मोह ये भी पुनः ३ प्रकार के हैं मृदु, मध्य और तीव्र इस प्रकार हिंसा के २७ भेद होते हैं। मृदु, मध्य और तीव्र फिर तीन प्रकार के हैं। १ मृदु २ मध्य मृदु और ३ तीव्र मृदु। १ मृदुमध्य २ मध्यमध्य, ३ तीव्रमध्य। ऐसे ही १ ऐसे ही १ मृदुतीव्र २ मध्यतीव्र ३ तीव्र तीव्र। इस रीति से ८१ भेदवाली हिंसा होती है फिर वही हिंसा नियम, विकल्प और समुच्चय के भेद से असंख्य भेद वाली है क्योंकि प्राणियोंके असंख्य भेद हैं। ऐसे ही असत्यादि के भी भेद समझने चाहिये। ये वितर्क दुःख और अज्ञान आदि अनन्त फलों के देने वाले हैं। ऐसी भावना करना ही प्रतिपक्षभावना कही जाती है। जैसे ही हिंसा करने वाला प्रथम तो जिसका वध करने की इच्छा करता है उसके बल की निन्दा या तिरस्कार करता है उसके पश्चात शस्त्रादि से मार कर उसे दुःख देता है उसके अनन्तर जीवन से उसे छुड़ा देता है इसके पश्चात् उस हत्याकारी ने जो वध्य के बल वीर्य का तिरस्कार किया था इससे इसका भी जो वीर्य बल और चेतन को जीने की जो सामग्री है वही क्षीण

होजाता है जो हत्याकारी ने बध्य को शस्त्रादि से दुःख दिया था उससे हिंसक को भी नरक अर्थात् जन्म जन्मान्तरमें दुःख भोगना पड़ता है। जो हिंसकने जीव घात किया है जिस समय हत्याकारी का प्राणान्त होगा उस समय मरने की इच्छा करने पर भी दुःख का फल अवश्य भोग्य होने के कारण बड़े कष्टसे ऊर्ध्वश्वास होता है यदि किसी प्रकारकी पुण्ययुक्त हिंसा हो, उसमें सुख प्राप्त होकर मनुष्य अल्पायु होता है ऐसे ही मिथ्याभाषणादि के फल समझना जैसा सम्भव हो। इस से वितर्कोंके अनिष्ट फलको विचारकर वितर्कोंमे मनको न लगावे॥ २४॥

भा० का भा०—हिंसा तीन प्रकार की होती है—१ अपने से की हुई २ और से कराई ३ सलाह से कराई पुनः एक २ तीन २ प्रकार की होती है एक लोभ से—अर्थात् इसके मारने से मुझे इतना मास और चर्म मिलेगा, दो क्रोध से—अर्थात् इससे मेरा अपमान किया है मैं भी इसे मारूँ। तीसरे मोह से अर्थात् मुझे इसके मारने से धर्म्म होगा। लोभ, क्रोध, मोह से करी हिंसा पुनः ३, तीन प्रकार की होती है मृदु २ मध्य ३ तीव्र ऐसे हिंसा ७ प्रकार की है पुनःमृदु मध्य और तीव्र भी तीन २ प्रकार के हैं। १ मृदु मृदु, २ मध्यमृदु, ३ तीव्रमृदु। १ मृदुमध्य, २ मध्यमध्य, ३ मध्यतीव्र तैसे ही १ मृदुतीव्र, २ मध्यतीव्र, ३ तीव्रतीव्र। ये इस प्रकार हिंसाके ८१ भेद होते हैं। फिर नियम, विकल्प और समुच्चय भेद से असंख्य भेद होते हैं क्योंकि प्राणियों के असंख्य भेद हैं ऐसे ही असत्यादि के भेद भी जानना। ये हिंसादि वितर्क दुःख अज्ञादि अनन्त फल देने वाले हैं। हिंसा करने वाला पहले जिसके वध की इच्छा करता है तब उसके बल की निन्दा करता है फिर शस्त्रादि से उसे दुःख देता है इसके पश्चात् मार डालता है अतएव जैसे इसने उसके वीर्यादि का तिरस्कार किया था वैसे ही

इसका जीवन वीर्य क्षीण होता है फिर जन्मान्तर में इसे अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं और मरणकाल में न मरना चाहता भी श्वासावक्षेप करने से बड़ा खेद पाता है यदि किसी प्रकार से कोई हिंसा पुण्ययुक्त होय तो हिंसक का जन्मान्तर में सुख मिलेगा परन्तु अल्पायु होगा ऐसे ही असत्यादि में भी जानना। ऐसे वितर्कों के फल विचार कर इनमें मन न लगावे ॥ ३४ ॥

भोजवृत्तिः—एते पूर्वोक्ता हिंसादयः प्रथमं त्रिधा भिद्यन्ते कृतकारितानुमोदनभेदेन। तत्र स्वयं निष्पादिताः कृताः कुरु कुर्विति प्रयोजकव्यापारेण समुत्पादिताः कारिताः। अन्येन क्रियमाणाः साध्वित्यङ्गीकृता अनुमोदिताः। एतच्च त्रैविध्यं परस्परव्यामोहनिवारणायोच्यते। अन्यथा मन्दमतिरेवं मन्येत न मया स्वयं हिंसा कृतेति नास्ति मे दोष इति। एतेषां कारणप्रतिपादनाय लोभक्रोधमोहा इति। यद्यपि लोभः प्रथमं निर्दिष्टस्तथापि सर्वक्लेशानां मोहस्यानात्मनि आत्माभिमानलक्षणस्य निदानत्वात्। तस्मिन् सति स्वपरविभागपूर्वकत्वेन लोभक्रोधादीनामुद्भवात् मूलत्वमवसेयम्। मोहपूर्विका सर्वा दोषजातिरित्यर्थः। लोभस्तृष्णा। क्रोधः कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकः प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः प्रत्येकं कृतादिभेदेन त्रिप्रकारा अपि हिंसादयो मोहादिकारणत्वेन त्रिधा भिद्यन्ते पुनरवस्थाभेदेन त्रैविध्यमाह। मृदुमध्याधिमात्राः। मृदवो मन्दा न तीव्रा नापि मध्याः। मध्या नापि मन्दा नापि तीव्राः। अधिमात्रास्तीव्राः पाश्चात्त्या नव भेदाः इत्थं त्रैविध्ये सति सप्तविंशतिर्भवति। मृद्वादीनामपि प्रत्येकं मृदुमध्याधिमात्रभेदात् त्रैविध्यं सम्भवति। तद्यथायोगं योज्यम् तद्यथा। मृदुमृदुः मृदुमध्यः मृदुतीव्र इति। एषां फलमाह। दुःखाज्ञानानन्तफला। दुःखं प्रतिकूलतयाऽवभासमानो राजसश्चित्तधर्मः। अज्ञानं मिथ्याज्ञानं संशयविपर्ययरूपं च दुःखाज्ञाने अनन्तमपरिच्छिन्नं फलं येषां ते

तथोक्ताः । इत्थ तेषा स्वरूपकारणादिभेदेन ज्ञाताना प्रतिपक्षभावनया योगिना परिहारः कर्त्तव्य इत्युपदिष्टं भवति ॥ ३४ ॥ एषामभ्यासवसात् प्रकर्षमागच्छतामनुनिष्पादिन्यः सिद्धयो यथा भवन्ति तथाक्रमेण प्रतिपादयितुमाह—

भो० सू० का भा०—पूर्व कहे हुए हिंसादि के पहिले ३ भेद हैं, एक कृत, दूसरा कारित, तीसरा अनुमोदित, जो हिंसादिक स्वयम् किये जाते हैं उनको कृत कहते हैं, दूसरे से तुम करो तुम करो ऐसा कहकर जो कराये जाते हैं उन हिंसादि वितर्कों को कारित कहते हैं, अनुमोदित उसे कहते हैं जो दूसरा मनुष्य हिंसा करता हो उसे अच्छा कहना व उसके उत्साह को बढाना । हिंसा आदिके यह तीन भेद इस वास्ते किये गये हैं जिससे हिंसक को यह भ्रम न रहे कि मैंने हिंसा नहीं की वा इस हिंसा मे मेरा क्या दोष है क्योंकि मैंने हिंसा नहीं की ऐसा मन्दमति लोग कह सकते हैं । इन हिंसादि के कारण लोभ, मोह और क्रोध हैं, यद्यपि सूत्र में लोभ को पहले लिखा है परन्तु मोहसे ही सब क्लेश आत्मामें भान होते हैं और मोह ही मनुष्य को अपने पराये के भेद में फंसाता है और उससे ही लोभ और क्रोध की उत्पत्ति होती है इस कारण मोह ही सब दोषों की जड है । तृष्णा को लोभ कहते हैं कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक को नाश करने वाला अग्नि रूप जो चित्त का गुण विशेष है उसे क्रोध कहते हैं । हिंसादिके जो कृत आदि के भेद से तीन प्रकार हैं उनमें से प्रत्येक लोभ, मोह और क्रोध के भेदसे फिर तीन तीन प्रकार के होते हैं, इन्हीं के फिर अवस्था भेदसे तीन २ भेद होते हैं मृदु अर्थात् मन्द, मध्य अर्थात् न मन्द और न तीव्र तीसरा भेद तीव्र है, पूर्व कहे ९ भेद इन मृदु आदि के भेद से २७ प्रकार के होजाते हैं फिर मृदु आदि के परस्पर भेद से ८१ होते हैं जैसे मृदुमृदु, मृदुमध्य और मृदु-

तीव्र, ऐसे ही मध्यमृदु मध्यमध्य और मध्यतीव्र एवम् तीव्र मृदु, तीव्र मध्य और तीव्र तीव्र इत्यादि अब इन हिंसादि वितर्कों का फल कहते हैं दुःख और अज्ञान रूपी अनन्त फल को देते हैं दुःख धर्म करते हैं, जो आत्मा के प्रतिकूल सान पड़े वह रजोगुण से उत्पन्न हुआ चित्त का धर्म दुःख कहाता है, संशय और विपर्ययरूप ज्ञान को अज्ञान कहते हैं दुःख और अज्ञान है अनन्त अर्थात् असीम फल जिनका ऐसे उपयुक्त वितर्कों का जब स्वरूप और फल मालूम होजाय तब योगी को चाहिये कि इनका परित्याग करे यही इस सूत्र का तात्पर्य है ॥ ३४ ॥

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

सू० का पदा०—(अहिंसाप्रतिष्ठायाम्) अहिंसा की प्रतिष्ठा में (तत्सन्निधौ) उसके समीप (वैरत्यागः) वैरका त्याग होता है ॥ ३५ ॥

सू० का भा०—योगी का चित्त जब अहिंसा में स्थिर होजाता है तब वह किसीसे वैर नहीं करता और न उससे कोई वैर करता है ॥ ३५ ॥

व्या० सू० भा०—प्रतिपक्षभावनात् हेतोर्हेयावितर्का यदास्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति । तद्यथा—

भा० का प०—विरुद्ध भावना से जब वितर्क अनुत्पत्ति धर्मक होकर त्यागने के योग्य होते हैं तब अहिंसादि से उत्पन्न ऐश्वर्य योगी की सिद्धि का सूचित करता है ।

व्या० भा०—सर्वप्राणिनां भवति ॥ ३५ ॥

भाष्य का प०—अहिंसा की प्रतिष्ठामे सब प्राणियों से वैर होता है।

भा० का भावार्थ—जब योगी क्रोध से विरत हो अहिंसा मे सयम करता है तब उसका यह फल प्राप्त होता है कि कोई भी प्राणी उसके साथ वैर नहीं करता और न वह किसी से वैर करता है ॥ ३५ ॥

३५ सू० का वि०—जब योगी को अहिंसा सिद्ध हो जाती है तब उसके समीप जितने प्राणी आते हैं वह भी सब परस्पर के वैर को त्याग देते हैं, यहाँ पर यह सन्देह हो सकता है कि सिंहादि हिंसक जन्तुओ का स्वाभाविक वैर क्यो कर दूर हो सक्ता है ? इसका उत्तर यह है कि वैर किसी का भी स्वाभाविक गुण नहीं है क्योंकि जिस जन्तुका वैर स्वाभाविक गुण हो तो उसे अपने स्त्री पुत्र मे भी प्रीति नहीं हो सक्ता है परन्तु ऐसा कोई जन्तु नहीं है जिसे अपने सजातीय से प्रीति न हो इससे सिद्ध होता है कि वैर वा प्रीति किसी का भी स्वाभाविक गुण नहीं है योगीमे विशेषता यही होजाती है कि वह अपने मन की शुद्धता के बल से दूसरे प्राणी के मन को शुद्ध बना देता है जिससे उसके समीप जाके सब प्राणी बैर को त्याग देते हैं। यह अनेक बार देखा गया है कि मिसमरेजिम के द्वारा दूसरे प्राणी के चित्त को खींच कर मूर्च्छित करके उसको स्वभावविरुद्ध कर्म्मों मे लगा दिया गया है जब कि बालक्रीडनवत् क्रिया से ऐसा होना प्रत्यक्ष देखा गया है तो साक्षात् योगसे अपने समीप आये प्राणियों को वैर रहित कर देना क्या आश्चर्य है ? किसी २ का तो मत इस विषयमें ऐसा है कि "मन एव मनुष्याणाङ्कारणं बन्धमोक्षयोः"। बन्ध अर्थात् सांसारिक विषयों मे आसक्ति और मोक्ष अर्थात् सांसारिक विषयों में विराग इन दोनों का कारण मन ही है एवम् किसी

विद्वान ने सृष्टि ही को मनोमय माना है । इस सिद्धान्तों का सविस्तर गुरुतत्त्व प्रकाशित करने से ग्रन्थ बहुत बढ़ जायगा इस भयसे यहाँ पर हम उसे नहीं लिख सकते हैं ।

भो० वृ०—तस्याहिंसां भावयतः सन्निधौ सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनां वैरत्यागो निर्मत्सरतयावस्थानं भवति । हिंस्रा अपि हिंस्रत्वं परित्यजन्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ सत्याभ्यासवतः किं भवतीत्याह—

भो० वृ० का भा०—जब योगी अहिंसा की भावना वा संयम करता है तब उसके समीप स्वाभाविक वैर रखने वाले सर्प और नकुल आदि भी वैरभाव को त्याग देते हैं अर्थात् मत्सरता का त्याग कर रहते हैं । फलितार्थ यह हुआ कि हिंसा करना ही जिन जन्तुओं का स्वभाव है वह भी हिंसावृत्ति त्यागते हैं ॥ ३५ ॥ सत्य की प्रतिष्ठा से क्या लाभ होता है ? इसका उत्तर आगे लिखा है ।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सू० का प०—(सत्यप्रतिष्ठायाम्) सत्यकी प्रतिष्ठा में (क्रियाफलाश्रयत्वम्) क्रियाफल का आश्रय होता है ॥ ३६ ॥

सू० का भा०—सत्यप्रतिष्ठा में क्रिया के फलका आश्रयभाव होता है ॥ ३६ ॥

व्या० कृ० भा०—धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः स्वर्गमाप्नुहीति स्वर्गमाप्नोति अमोघास्य वाग्भवति ॥३६॥

भा० का पदा०—तू धार्मिक होजा धार्मिक हो जाता है ।

स्वर्ग को प्राप्त हो, स्वर्गको प्राप्त होता है, इसकी वाणी अमोघ, अव्यर्थ होती है ॥ ३६ ॥

भा० का भा०—जब योगी सत्य के संयम में दृढ हो जाता है तब यह जो वचन कहता है वह निष्फल नहीं जाता ॥ ३६ ॥

वि०—इस सूत्र का यह अभिप्राय नहीं है कि योगी यदि पापी से कहे कि तू स्वर्ग को चला जा तो वह स्वर्ग पहुँच जाय, वरन इसका अभिप्राय यह है कि सत्य में प्रतिष्ठ होने से योगी को सत्य क्रियाओंका फल प्राप्त होता है अर्थात् योगी जिस मनुष्य को उपदेश करे कि तू धर्मात्मा हो तो वह पाप को छोड़ कर धर्म्म करने लगेगा और जिससे कहे कि तू स्वर्गको जा तो वह भी स्वर्गप्राप्ति के कार्य करने लगेगा और उन कर्मों से स्वर्गप्राप्त होगा। सूत्रकार और भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि सत्य प्रतिष्ठा से योगी के वचन निष्फल नहीं होते हैं ॥ ३६ ॥

भा० वृ०—क्रियमाणा हि क्रिया योगादिकाः फलं स्वर्गादिकं प्रयच्छन्ति। तस्य तु सत्याभ्यासवतो योगिनस्तथा सत्यं प्रकृष्यते यथा क्रियायामकृतायामपि योगी फलमाप्नोति। तद्वचनात् यस्य कस्यचित् क्रियामकुर्वतोऽपि क्रियाफलं भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अस्तेयाभ्यासवतः फलमाह।

भो० वृ० का भा०—जो यज्ञादिक क्रिया की जाती हैं उनसे स्वर्गादिक फल प्राप्त होते हैं। जो योगी सत्य का अभ्यास करता है उसके सत्य की ऐसी प्रतिष्ठा होती है यज्ञादि क्रियाओं के बिना किये ही उनके फलरूप स्वर्ग को योगी पाजाता है, सत्याचारी योगी के वचन से और लोगों को भी स्वर्गादि का फल प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥ अस्तेय के अभ्यास का फल कहते हैं।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

सू० का पदा०—(अस्तेयप्रतिष्ठायाम्) चोरी न करने से (सर्वरत्नोपस्थानम्) सब रत्नों की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

सू० का भा०—चोरी न करने से सब रत्नों की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

भा०—सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥ ३७ ॥

भा० का प०—सब दिशाओं के रत्न इसको प्राप्त होते हैं ॥३७॥

भा० का भा०—सब दिशाओं के रत्न इसको मिलते हैं ॥३७॥

३७ सू० वि०—जब योगी अस्तेय अर्थात् चोरी न करने के अभ्यास में अपने चित्त को लगाता है तब उसे सब रत्नों की प्राप्ति होती है अर्थात् जगत् के सब प्राणी उसका विश्वास करते हैं।

भा० वृ०—अस्तेय यदाऽभ्यस्यति तदाऽस्य तत्प्रकर्षान्निरभिलाष स्यापि सर्वतो दिव्यानि रत्नानि उपतिष्ठन्ते ॥३७॥ ब्रह्मचर्याभ्या सस्य फलमाह—

भो० वृ० का भा—जब योगी अस्तेय अर्थात चोरी (कायिक वा मानसिक) न करने का अभ्यास करता है तब अभिलाषा न रहने पर भी दिव्य रत्नों की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥ ब्रह्मचर्य के अभ्यास का फल कहते हैं।

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः ॥ ३८ ॥

सू० का भा०—(ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायाम्) ब्रह्मचर्य्य की स्थिरता में (वीर्य्यलाभः) वीर्य का लाभ होता है।

सू० का भा०—ब्रह्मचर्य्य स्थिर होनसे वीर्य्य का लाभ होता है ।३८

व्या० दे० का भा०—यस्य लाभादप्रतिघान् गुणा

नुत्कर्षयति सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ॥ ३८ ॥

भा० पदा०—जिसके लाभसे अप्रतिघ गुणों का उत्कर्ष और सिद्ध होता है शिक्षा करने योग्य विद्यार्थियोंको ज्ञान देनेमें समर्थ होता है ॥ ३८ ॥

भ० का भा०—जिस वीर्य्य के लाभसे पुरुष अप्रतिघ गुणों को प्राप्त कर सकता है और सिद्ध होने पर विनेय अर्थात् शिक्षा करने योग्य मनुष्यों को ज्ञान देने मे समर्थ होता है ॥ ३८ ॥

भो० वृ०—यः किल ब्रह्मचर्य्यमभ्यस्यति तस्य तत् प्रकर्षान्निरतिशयं वीर्य्यं सामर्थ्यमाविर्भवति । वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यंतस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसुवीर्यं प्रकर्षमागच्छति ॥ ३८ ॥ अपरिग्रहाभ्यासस्य फलमाह—

भो० वृ० का भा०—जो योगी ब्रह्मचर्य्य का अभ्यास करता है उसको ब्रह्मचर्य्य के प्रकर्ष से अधिक सामर्थ्य उत्पन्न होती है वीर्य्य के निरोध से और ब्रह्मचर्य्य के बल से इन्द्रिय और मन का उत्साह बहुत बढ जाता है ॥ ३८ ॥

अपरिग्रह के अभ्यास से जन्म कथन्ता का ज्ञान होता है, कथन्ता का अर्थ यह है कि प्रकारार्थक कथम् शब्दसे भावमे 'तल्' प्रत्यय करने से 'कथन्ता' शब्द सिद्ध हुआ है ? योगी को पूर्वजन्म की कथन्ता का ज्ञान होता है अर्थात् पूर्वजन्म कैसा था और परजन्म कैसा होगा ? योगी इस बातको जानता है ॥ ३९ ॥

अपरिग्रह के अभ्यास के फल कहते हैं ।

अपरिग्रहस्थैर्य्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

सू० का प०—(अपरिग्रहस्थैर्य्ये)अपरिग्रह के स्थिर

होने पर (जन्मकथन्तासम्बोधः) जन्म क्यों हुआ इस का बोध होता है ॥ ३९ ॥

सू० का भा०—अतिग्रह न करना अपरिग्रह कहाता है उसके स्थिर होनेसे जन्म क्यों हुआ इसका बोध होता है ॥ ३९ ॥

व्या० का भा०—अस्य भवति । कोऽहमासं कथम् अहमासं किं स्विदिदं कथंस्विदिदं के वा भविष्यामः कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभाव जिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते । एता यमस्थैर्ये सिद्धयः ॥ ३९ ॥ नियमेषु वक्ष्यामः—

भा० का पदा०—योगीको यह ज्ञान होता है कि मैं पूर्वजन्मम कौन था कैसे मैं था, क्या यह है कैसे यह है, या आगे हम क्या होंगे वा कैसे होंगे। इस प्रकारसे इस पुरुषके पूर्वजन्म परजन्म और मध्य में आत्म स्वभावके जानने की इच्छा स्वरूप से उपावर्तित होती है (एत सिद्धयः) यमों की स्थिरतासे ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ३९ ॥

अब नियमों की सिद्धियाँ कहते हैं—

भा० का भा०—इसको अर्थात् जिसको अपरिग्रह स्थिर है यह जिज्ञासा होती है कि मैं पूर्व जन्म में कौन था कैसे था, यह वर्तमान जन्म क्या है, कैसे है। आगे क्या होंगे कैसे होंगे? पूर्व पर और मध्यमें आत्मभाव जानने की इच्छा अपने रूपसे उपावर्तित होती है। ये सब स्थिर सिद्धियाँ यमों के सेवन से प्राप्त होती हैं। तात्पर्य यह है कि त्यागी का अनेक जन्मों का ज्ञान होता है ॥३९॥

३९ सू० वि०—त्याग का अभ्यास होनेसे योगी का भूत और भविष्यत् जन्मों का ज्ञान होता है इस ही योगशास्त्र के भाष्य में

अणिमाण्डव्य ऋषि का उदाहरण लिखा है कि उनको अपने १२ जन्मों का ज्ञान था ॥ ३९ ॥

भो० वृ०—कथमित्यस्य भावः कथन्ता जन्मनःकथन्ता जन्मकथन्ता तस्याः सम्बोधः सम्यक् ज्ञानजन्मान्तरेकोऽहमासं कीदृशः किं कार्यकारीति जिज्ञासायां सर्वमेव सम्यग्जानातीत्यर्थः । न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एवपरिग्रहो यावदात्मनः शरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य । तस्मिन् सति रागानुबन्धाद्बहिर्मुखायामेव प्रवृत्तौ न तात्त्विकज्ञानप्रादुर्भावः । यदा पुनःशरीरादिपरिग्रहनैरपेक्ष्येण माध्यस्थ्यमवलम्बने तदा मध्यस्थस्य रागादित्यागात्सम्यग् ज्ञानहेतुर्भवत्येव पूर्वाऽपरजन्मसंबोधः ॥३९॥ उक्ता यमाना सिद्धयः ।

होने पर (जन्मकथन्तासम्बोधः)जन्म क्यों हुआ इस का बोध होता है ॥ ३९ ॥

सु० का भा०—प्रतिग्रह न करना अपरिग्रह कहाता है उसके स्थिर होनसे जन्म क्यों हुआ इसका बोध होता है ॥ ३९ ॥

व्या० का भा०—अस्य भवति । कोऽहमासं कथम् अहमासं किं स्विदिदं कथंस्विदिदं के वा भविष्यामः कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभाव जिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते । एता यमस्थैर्ये सिद्धयः ॥ ३९ ॥ नियमेषु वक्ष्यामः—

भा० का प्र०—योगीको यह ज्ञान होता है कि मैं पूर्वजन्ममें कौन था, कैसे मैं था, क्या यह है कैसे यह है या आगे हम क्या होंगे या कैसे होंगे । इस प्रकारसे इस पुरुषके पूर्वजन्म, परजन्म और मध्य में आत्म स्वभावके जानने की इच्छा स्वरूप से उपा वर्तित होती है (एते सिद्धयः) यमों की स्थिरतासे ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ३९ ॥

अब नियमों की सिद्धियां कहते हैं—

भा० का भा०—इसका अर्थात् जिसको अपरिग्रह स्थिर है यह जिज्ञासा होती है कि मैं पूर्व जन्म में कौन था, कैसे था, यह वर्तमान जन्म क्या है कैसे है । आगे क्या होंगे कैसे होंगे ? पूर्व पर और मध्यमें आत्मभाव जानने की इच्छा अपने रूपसे उपावर्तित होती है । ये सब स्थिर सिद्धियाँ यमों के सेवन से प्राप्त होती हैं । तात्पर्य यह है कि त्यागी को अनेक जन्मों का ज्ञान होता है ॥३९॥

३९ सू० वि०—त्याग का अभ्यास होनेसे योगी को भूत और भविष्यत् जन्मों का ज्ञान होता है इस ही योगशास्त्र के भाष्य में

अणिमाण्डव्य ऋषि का उदाहरण लिखा है कि उनको अपने १२ जन्मों का ज्ञान था ॥ ३९ ॥

भो० वृ०—कथमित्यस्य भावः कथन्ता जन्मनःकथन्ता जन्मकथन्ता तस्याः संबोधः सम्यक् ज्ञानजन्मान्तरेकोऽहकासं कीदृशः कि कार्यकारीति जिज्ञासाया सर्वमेव सम्यग्जानातीत्यर्थः । न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एवपरिग्रहो यावदात्मनः शरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य । तस्मिन् सति रागानुबन्धाद्बहिर्मुखायामेव प्रवृत्तौ न तात्विकज्ञानप्रादुर्भावः । यदा पुनःशरीरादिपरिग्रहनैरपेक्ष्येण माध्यस्थ्यमवलम्बने तदा मध्यस्थस्य रागादित्यागात्सम्यग् ज्ञानहेतुर्भवत्येव पूर्वाऽपरजन्मसम्बोधः ॥३९॥ उक्ता यमाना सिद्धयः ।

अथनियमानाह—

भो० वृ० का भा०—अर्थात् उसे यह सब ज्ञान हो जाता है कि मैं पूर्व जन्म में कौन था, कैसा था और मैंने कैसे कर्म किये थे, केवल भोगसाधनों को त्यागना ही अपरिग्रह नहीं कहाता है,वरन भोग का साधन जो शरीर है उसमे यदि अनुराग बना रहेगा तो योगी की बाह्यवृत्ति नष्ट न होगी इस कारण शरीर के मोह को त्यागना और राग द्वेष से रहित होने को अपरिग्रह कहना चाहिये । यही अपरिग्रह ज्ञान का हेतु है और इस ही के साधन से पूर्वजन्मो का ज्ञान होता है॥ ३९ ॥

यमों की सिद्धियाँ कही कईं अब नियमों के फल वा सिद्धि का वर्णन करते हैं—

शौचात्स्वांगजुगुप्सापरैरसंसर्गः ॥४०॥

सू० का पदा—(शौचात्) शौच से (स्वांगजुगुप्सा)

अपने अंगों की निन्दा (परैरसंसर्गः) औरों से असंसर्ग होता है ॥ ४० ॥

सू० का भा०—अन्तः शौच से अपने शरीर की अशुद्धि देखकर निन्दा और दूसरे अशुद्धों से असंसर्ग होता है ॥ ४० ॥

व्या० दे० का भा०—स्वांगे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वंगी यतिर्भवति । किंच परैरसंसर्गः कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुर्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि । कायशुद्धिमपश्यन् कथम् परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥ ४० ॥ किंच

भा० का पदा०—स्वांग निन्दा से शौच का आरम्भ करता है काया में दोष देखने वाला कायामें अनासक्त यति होता है काया के स्वभाव को देखने वाला अपने शरीर को भी त्यागने की इच्छा वाला मट्टी जलादि से इसकी शुद्धि करता हुआ भी काया की शुद्धि को न देखता हुआ कैसे अत्यन्त मलिन दूसरे के शरीरों से संसर्ग करेगा ॥ ४० ॥

भा० का भा०—स्वांग निन्दा से अपने शरीर में शौच का आरम्भ करता हुआ काया को नश्वर जान कर इसमें आसक्त नहीं होता। काया के स्वभाव को देखने वाला जो अपने अशुद्ध शरीर से संसर्ग करेगा ॥ ४० ॥

४० सू० वि०—शौच का अभ्यास करने से योगी को अपने शरीर का कारण ही अशुद्ध दीखने लगता है। जब कारण ही अशुद्ध है तो कार्य शुद्ध कैसे हो सकता है इस ही से वह अपने शरीर को निन्दित समझता है तथा दूसरों के शरीर को भी अशुद्ध समझ कर उनका संग त्याग देता है इससे योगी को संगदोष

लिप्त नहीं होता है। और इस ही कारण से योगी निर्विघ्नता के साथ योग साधन में तत्पर रहता है किन्तु आज कल के आचारी जैसा मिथ्या शौच करते हैं वैसा करने से केवल आडम्बर और पाखण्ड की वृद्धि होती है अतएव योगी को ऐसा शौच करना चाहिये जिससे यथार्थ रूप से योग साधन होते हैं॥ ४०॥

भो० वृ०—यः शौचं भावयति तस्य स्वांगेष्वपि कारणस्वरूपपर्य्यालोचनद्वारेण जुगुप्सा घृणा समुपजायते। अशुचिरयम् कायो नात्राऽऽग्रहः कार्य इति। अमुनैव हेतुना परैरन्यश्च कायवद्भिरसंसर्गः संसर्गाभावःसंसर्गपरिवर्ज्जनमित्यर्थः। यः किल स्वमेव कार्यं जुगुप्सतेतत्तदवद्यदर्शनात् स कथम् परकीयैस्तथाभूतैः कायैः संसर्गमनुभवति॥ ४०॥ शौचस्यैव फलान्तरमाह।

भो० वृ० का भा०—जो योगी शौच में संयम करता है वह अपने शरीरके घृणित उपादान कारणको विचारकर अपने शरीरसे भी घृणा करने लगता है अर्थात् उसको यह निश्चय होजाता है कि यह शरीर अशुद्ध है इसमें प्रीति न रखनी चाहिये इस ही विचार से वह दूसरे शरीरधारियों के साथ सम्बन्ध छोड देता है वास्तव में जो योगी अपने शरीर से प्रीति नहीं रखता है वह दूसरे शरीर धारी से सन्बन्ध क्योंकर रख सकता है।

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन योग्यत्वानि च॥ ४१॥

सू० का पदा०—(सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च) सत्वशुद्धि, सुमनसत्व, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता शौच से होती है॥ ४१॥

सू० का भा०—सत्वशुद्धि, शुद्ध मनता एकाग्रता इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता शौच से प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

व्या० दे० का भा०—भवन्तीति वाक्यशेषः शुचेः सत्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यं तत एकाग्र्यं तत इन्द्रियजयस्तत आत्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्वस्य भवतीत्येतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति ॥ ४१ ॥

भा० का० प०—शौच से सत्वशुद्धि फिर सुमानसता तब एकाग्रता तब इन्द्रियजय तब आत्मदर्शन की योग्यता बुद्धिसत्व को होती है ये शौच की स्थिरता से होते हैं ॥ ४१ ॥

भा० का भा०—शुद्ध को क्रम से सत्वशुद्धि, शुद्ध मानसता, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती हैं ॥ ४१ ॥

सू० वि०—शौचाभ्यासी योगी को सत्वशुद्धि, यहाँ पर सत्व शब्द के अर्थ अनेक टीकाकार अनेक भाँति से करते हैं परन्तु हमारी समझ में सत्व का अर्थ बुद्धि ही युक्त है अर्थात् शौच से बुद्धि शुद्ध होती है, मन प्रसन्न रहता है चित्त एकाग्र अर्थात् एक ही ध्येय विषयमें लगा रहता है चंचलताको त्याग देता है इन्द्रियाँ विषयों से विरक्त हो जाती हैं आत्मदर्शन अर्थात योग सिद्धि में शक्ति प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

भो० वृ०—भवन्तीति वाक्यशेषः । सत्वं प्रकाशसुखाद्यात्मकं तस्य शुद्धी रजस्तमोभ्यामनभिभवः । सौमनस्यं खेदाननुभवेन मानसी प्रीतिः । एकाग्रता नियतेन्द्रियविषये चेतसः स्थैर्य्यम् । इन्द्रियजयो विषयपराङ्मुखाणामिन्द्रियाणामात्मनि अवस्थानम् । आत्मदर्शने विवेकख्यातिरूपे चित्तस्य योग्यत्वं समर्थत्वम् । शौचाभ्यासवत एते सत्वशुद्ध्यादयः क्रमेण प्रादुर्भवन्ति । तथाहि—सत्वशुद्धेः सौमन

स्य सौमनस्यावेकाग्रता एकाग्रताया इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यतेति॥ ४१ ॥

सन्तोषाभ्यासस्य फलमाह।

भो० वृ० का भा०—प्रकाशात्मक सुख और बुद्धि को सत्व कहते हैं। शौच से बुद्धि की शुद्धि होती है। सौमनस्य का अर्थ यह है कि खेद का अनुभव न होने से मन में जो प्रीति उत्पन्न होती है उसको सौमनस्य कहते हैं, एकाग्रता का अर्थ यह है कि किसी विषय में चित्त का स्थिर कर देना। इन्द्रियजय का अर्थ यह है कि विषयो से इन्द्रियों को हटाके आत्मा के विचार में लगा देना, विवेकख्यातिरूप आत्मदर्शन के योग्य अर्थात् समर्थवान् होना आत्मदर्शन योग्यत्व कहाता है। शौच संयम करने से योगी को यह सब फल क्रम से प्राप्त होते हैं अर्थात् शौच से प्रथम सत्व-शुद्धि उससे सौमनस्य, उससे एकाग्रता, एकाग्रता से इन्द्रियजय और इन्द्रियजय से आत्मदर्शन योग्यता प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

आगे सन्तोष का फल कहेंगे।

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥

सू० का प०—(सन्तोषात्) सन्तोष से (अनुत्तमः सुखलाभः) सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है ॥ ४२ ॥

सू० का भा०—सन्तोष से उत्तम सुख मिलता है ॥ ४२ ॥

व्या० दे० का भा०—तथाचोक्तम्-

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलामिति ॥४२॥

भा० का प०—तैसा ही अन्यत्र कहा है लोक मे जो काम सुख है और जो दिव्य महासुख हैं वे तृष्णाक्षयसुख की सोलहवीं कला

का भी नहीं प्राप्त होवे ॥ ४२ ॥

भा० का भा०—सूत्र के अनुसार ही अन्यत्र भी लिखा कि जो लोक में काम सुख है तथा महत् दिव्यसुख है व सब तृष्णाक्षय की षोडशी कला के समान भी नहीं है ॥ ४२ ॥

भा० सू०—सन्तोषप्रकर्षेण योगिनः तथाविधमान्तरं सुखमाविर्भवति। यस्य बाह्यं विषयसुखं शतांशेनापि न समम् ॥ ४२ ॥ तपसः फलमाह।

भा० सू० का भा०—सन्तोष का जब योगी के हृदय में प्रकर्ष होता है तब योगी को ऐसा सुख प्राप्त होता है जिसके सौ भाग में से एक भाग के बराबर भी विषय सुख नहीं है ॥ ४२ ॥ तप का फल कहते हैं—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

सू० का प०—(तपसः) तप से (अशुद्धिक्षयात्) अशुद्धि के क्षय होने से (कायेन्द्रियसिद्धिः) कायसिद्धि और इन्द्रियसिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

सू० का भा०—तपसे अशुद्धिक्षय होनेसे कायेन्द्रिय सिद्धि होती है ॥ ४२ ॥

व्या० दे० का भा०—निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलं तदावरणमलापगमात्कायसिद्धिरणिमाद्या। तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति ॥ ४३ ॥

भा० का पदा०—अनुष्ठित तप अशुद्धि से आच्छादित मलको नाश करता है उससे आवृत मलनाश होनेसे अणिमादिक कार्य सिद्धि प्राप्त होती है। वैसे ही दूर से श्रवण और दर्शनादि इन्द्रिय-सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४२ ॥

भा० का भा०—अनुष्ठित तप मलों का नाश करता है उसके नाश होने से अणिमादिक कार्यसिद्धि और दूर से श्रवण दर्शनादि इन्द्रियसिद्धि प्राप्त होती हैं ॥ ४३ ॥

४३ सू०—तप का अभ्यास करने से अशुद्धता नाश हो जाती है फिर अशुद्धता नाश होने से शरीर इन्द्रियों की सिद्धि अर्थात् उत्कृष्टता प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

भो० वृ०—तपः समभ्यस्यमानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुद्धि क्षय-द्वारेण कायेन्द्रियाणां सिद्धिमुत्कर्षमादधाति । अपभय । चान्द्रायणादिनाचित्तक्लेशक्षयस्तत्तत्त्वयादिन्द्रियाणां सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टदर्शनादिसामर्थ्यमाविर्भवति । कायस्य यथेच्छमणुत्वमह-त्त्वादीनि ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायस्य फलमाह ।

भो० वृ० भा०—जो योगी तपका अभ्यास करता है उसकी क्लेशरूप अशुद्धि क्षय हो जाती है, फिर शरीर और इन्द्रियों में उत्तम शक्ति उत्पन्न होती है। अभिप्राय यह है कि चान्द्रायणादि करने से चित्त के क्लेश दूर हो जाते हैं तब इन्द्रियों में सूक्ष्म गुण तथा उत्तम पदार्थों को देखने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है और शरीर को अणुत्व और महत्व आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥४३

आगे स्वाध्याय का फल कहेंगे।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

सू० का पदा०—(स्वाध्यायात्) स्वाध्याय से (इष्ट-देवतासम्प्रयोगः) इष्ट देवता की प्राप्ति होती है ॥ ४४ ॥

सू० का भा०—स्वाध्याय से अभिलषित देवता की प्राप्ति होती है ॥ ४४ ॥

व्या० दे० का भा०—देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्या-यशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्तन्त इति ॥४४॥

भा० का पदा०—देवता, ऋषि और सिद्ध स्वाध्यायशील के दर्शन को जाते हैं और इसके कार्य में प्रवृत्त होते हैं ॥ ४४ ॥

भा० का भावा०—स्वाध्यायशील को देवता और ऋषि दीखते हैं और इसके कार्य में प्रवृत्त होते हैं ॥ ४४ ॥

४४ सू०—यथापाठविधि स्वाध्याय से वांछित देवता अर्थात् तत्त्वज्ञानी महात्माओं का संग प्राप्त होता है। इस सूत्र से जो आनुमानिक या कल्पित देवताओं का अर्थ करते हैं वह भ्रान्त है क्योंकि महर्षि व्यासदेव ने अपने भाष्य में देवता शब्द का अर्थ देव (दिव्य गुणवान् विद्वान्) ऋषि और सिद्ध किया है। ऋषि और सिद्धों के साहचर्य से देवता शब्द वाच्य विद्वान् ही सिद्ध होते हैं अथवा योगी को व्यवहारसिद्धि के वास्ते जिन वसु आदि ३३ देवता अर्थात् प्रकाशक सूर्यादि की अत्यन्त इच्छा रहती है उनका योगी को यथार्थज्ञान होता है और वह देवता योगी के कार्यसाधक होते हैं अर्थात् वृष्टि आदि से योगी को विघ्न प्राप्त नहीं होता है ॥ ४४ ॥

भा० वृ०—अभिप्रेतमन्त्रजपादिलक्षणे स्वाध्याये प्रकृष्यमाणे योगिन इष्टया अभिप्रेतया देवतया संप्रयोगो भवति। सा देवता प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ ईश्वरप्रणिधानस्य फलमाह ।

भा० वृ० का भा०—अभीष्ट मन्त्र गायत्री के स्वाध्याय अर्थात् जप से योगी को इष्टदेव अर्थात् ईश्वर का मानसिक संयोग होता है। फिर उस ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

सू० का पदा०—(समाधिसिद्धिः) समाधि की सिद्धि (ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वरप्रणिधान से होती है ॥ ४५ ॥

सू० का भावा०—ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है।

व्या० दे० का भा०—ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च। ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥४५

उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः, आसनादीनि वक्ष्यामः। तत्र

भा० का पदा०—ईश्वर मे अर्पित किये हैं सर्वभाव जिसने ऐसे योगी को समाधिसिद्धि प्राप्त होती है जिससे जिन पदार्थों के जानने की इच्छा होती है उन सबको यथोचित जानता है। देशान्तर में, देहान्तर में और कालान्तर मे तब इसकी बुद्धि सब जानती है ॥ ४५ ॥

भा० का भावा०—जो पुरुष सब कर्मों को ईश्वर मे अर्पित कर देता है उसको समाधिसिद्धि प्राप्त होती है उससे अन्य देशस्थ, देहस्थ और कालस्थ पदार्थों को जानता है ॥ ४५ ॥

सू०—ईश्वर की भक्ति से योगी को देशान्तर, देहान्तर तथा कालान्तर की सब बातें यथार्थरूप से मालूम हो जाती हैं।

भो० वृ०—ईश्वरे यत्प्रणिधानं भक्तिविशेषस्तस्मात् समाधेरुक्तलक्षणस्याऽऽविर्भावो भवति यस्मात् स भगवानीश्वरः प्रसन्नः सन् अन्तरायरूपापान क्लेशान् परिहृत्य समाधिं संबोधयति ॥४५॥

यमनियमानुक्त्वाऽऽसनमाह।

भो० वृ० का भा०—ईश्वरमें जो प्रणिधान अर्थात् भक्ति की जाती है उससे समाधि का प्रकाश होता है उससे सकलैश्वर्य्यवान् भगवान् प्रसन्न होकर योग में विघ्न करने वाले क्लेशों को दूर करके

समाधि को प्राप्त कर देता है ॥ ४५ ॥

यम और नियमों का वर्णन करके आगे आसनों का वर्णन करेंगे।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

सू० का पदा०—(स्थिरसुखम्) जिसमें स्थिर सुख हो (आसनम्) वह आसन कहाता है ॥ ४६ ॥

सू०का भा०— जिसमें स्थिर सुख होता है वह आसन कहाता है ॥ ४६ ॥

व्या० दे० का मा?—तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्य्यङ्कं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखमित्येवमादीनि ॥ ४६ ॥

भा० का पदा०—आसन भेद कहते हैं—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन स्वस्तिक, दण्डासन सोपाश्रय पर्यङ्क क्रौञ्चनिषदन हस्तिनिषदन उष्ट्रनिषदन समसंस्थान, स्थिर सुख और यथा सुख इत्यादि आसन भेद हैं ॥ ४६ ॥

भा० का भा०—आसनों के भेद ये हैं—पद्मासन प्रसिद्ध है वीरासन—एक पैर पृथिवी में दूसरा जानु के ऊपर, भद्रासन—दोनों पैरों के तले वृषण के समीप ऊपर करके उसके ऊपर हथेली रखना, स्वस्तिक बायां पैर दाहिनी जंघा के ऊपर और दाहिना पैर बाईं जंघा के ऊपर रखना दण्डासन दोनों पैरों की उंगलियां और गुल्फ को मिलाकर भूमिस्पृष्ट जांघ, जानु और पैरों को फैलाकर बैठना सोपाश्रयपट्टके पर बैठना पर्यङ्क—जांघ और जानु को फैलाकर सोना, क्रौञ्च निषदन क्रौञ्च पक्षी के समान बैठना हस्तिनिष-

दन–हाथी के समान बैठना, उष्ट्र निषदन–ऊँट के समान बैठना, समसस्थान-आकुञ्चित और दोनों पैरों को परस्पर संपीडन, स्थिर सुख-जिस बैठक से स्थिरता और सुख हो ॥ ४६ ॥

भो० वृ०—आस्यतेऽनेनेत्यासनं पद्मासनदण्डासनस्वस्तिकासनादि तद्यदा स्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयञ्च भवति तदा योगाङ्गतां भजते ॥ ४६ ॥ तस्यैव स्थिरसुखत्वप्राप्त्यर्थमुपायमाह–

भो० वृ० का भा०–आसन का अर्थ यह है कि आस उपवेशने इस धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करके फिर "युवोरनाकौ" इस सूत्र से अन आदेश करके आसन शब्द बनाया है। भली भाँति बैठा जाय जिसकी सहायता से उसे आसन कहते हैं। वह पद्मासन, दण्डासन और स्वस्तिक आदि हैं। यह आसन जब स्थिर, कम्परहित और योगी को सुखदायक होते हैं तब योग के अङ्ग कहे जाते हैं ॥ ४६ ॥

इन आसनों से स्थिर सुख प्राप्त करने का उपाय अगले सूत्र में कहेंगे।

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

सू० का पदा०—(प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम्) प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में चित्त लगाने से आसन सिद्ध होता है ॥ ४७ ॥

सू० का भा०—प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त के ज्ञान से आसन सिद्धि होती है ॥ ४७ ॥

व्या० दे० का भा०—भवतीति वाक्यशेषः। प्रयत्नोपरमात्सिद्ध्यत्यासनं येननाङ्गमेजयो भवति अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ॥ ४७ ॥

भा० का प०—प्रयत्न के उपरत होने से आसन सिद्ध होता है, जिससे अंग कम्पित नहीं होते। व अनन्त परमात्मा में लगा हुआ चित्त आसन को सिद्ध करता है ॥ ४७ ॥

भा० का भा०—प्रयत्न के शिथिल होने से आसन सिद्ध होता है और अंग निश्चल होते हैं एवम् आसन से चित्त की एकाग्रता उत्पन्न हो जाती है ॥ ४७ ॥

भो० वृ०— तदासनं प्रयत्नशैथिल्येनानन्त्यसमापत्त्या च स्थिरं सुखं भवतीति सम्बन्धः। यदा यदा आसनं बध्नामीति इच्छां करोति प्रयत्नशैथिल्येऽपि अक्लेशेनैव तदा तदा आसनं सम्पद्यते। यदा चाकाशादिगत आनन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽवधानेन तादात्म्यमापद्यते तदा देहाहंकाराभावान्नासनं दुःखजनकं भवति। अस्मिंश्चासनजये सति समाध्यन्तरायभूता विघ्ना न प्रभवन्ति अङ्गमेजयत्वादयः ॥ ४७ ॥

तस्यैवानुनिष्पादितं फलमाह

भो० वृ० का भा०—यह आसन प्रयत्न की शिथिलता से तथा अनन्त आकाशादि में मन लगाने से स्थिर सुख देनेवाला होता है। अर्थात् योगी जब चाहे कि मैं आसन लगाऊँ तब ही बिना अधिक परिश्रम के आसन को जमा सके एवं योगी का चित्त जब अनन्त आकाश में या अनन्त ध्येय में चला जाता है तब योगी को अपने शरीर का संभालने का ज्ञान नहीं रहता अथ देहाभ्यास नहीं रहता तब योग के विघ्न अंगमेजयत्व (अंगों का कँपना) आदि नहीं होते किन्तु आसन के जय से यह समाधि के विघ्न अंगमेजयत्व आदि को भी जीत लेता है ॥ ४७ ॥ आसन जय का और फल कहते हैं—

ततो द्वन्द्वानभिघात ॥ ४८ ॥

सू० पदार्थ—(ततः) तदनन्तर (द्वन्द्वानभिघातः) सुख दुःखादि द्वन्द्वों से अभिघात नहीं होता ॥ ४८ ॥

भावार्थ—आसन स्थिर होने पर सुख दुःखादि द्वन्द्व योगी को नहीं सताते ॥ ४८ ॥

व्या० भा०—शीतोष्णादिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ४८ ॥

भा० का प०—आसन के जीतने से शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों से पराजित नहीं होता ॥ ४८ ॥

भा० का भा०—जो मनुष्य आसन सिद्ध नहीं कर सकता उसको द्वन्द्वे दुःख देते हैं और आसन सिद्ध होने पर ये दुःख नहीं देते ॥ ४८ ॥

भो० वृ०—तस्मिन्नासनजये सति द्वन्द्वैः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादिभिर्योगी नाभि हन्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आसनजयानन्तर प्राणायाममाह

भो० वृ० का भा०—उस आसन के जीत लेने पर शीत, उष्ण और भूख, प्यास आदि द्वन्द्वों से योगी सताया नहीं जाता ॥४८॥

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९॥

सू० का पदार्थ—(तस्मिन्सति) स्थिर आसन हो जाने से (श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः) जो श्वास और प्रश्वास की गति का अवरोध होता है (प्राणायामः) उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

सू० का भा०—आसन स्थिर होने से जो प्राण की गति का अवरोध होता है उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

व्या० भा०—सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं स तु श्वासः । कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासस्तयोर्गति-विच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

भा० का प०—आसन सिद्ध हो जाने पर बाह्य वायु को जो ग्रहण किया जाता है उसे श्वास कहते हैं तथा भीतर की वायु को जो बाहर निकालना है उसे प्रश्वास कहते हैं उन दोनों की गति का जो अवरोध है अर्थात् दोनों का अभाव उसे प्राणायाम कहते हैं ४९

भा० का भावा०—बाह्य वायु का जो आचमन किया जाता है उसे श्वास और अन्दर की वायु को बाहर निकाला जाता है उसे प्रश्वास कहते हैं और दोनों की गति के अवरोध को प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

भो० वृ०—आसनस्थैर्ये सति तन्निमित्तकः । प्राणायामलक्षणो योगाङ्गविशेषोऽनुष्ठेयो भवति । कीदृशः श्वासप्रश्वासयोर्गतिवि-च्छेदलक्षणः । श्वासप्रश्वासौ निरुक्तौ । तयोस्त्रिधा रेचनस्तम्भन-पूरणद्वारेण बाह्याभ्यन्तरेषु स्थानेषु गतेर्भवाहस्यविच्छेदो धारणं प्राणायाम उच्यते ॥ ४९ ॥

भो० वृ० का भा०—आसन जम हो जाने पर उसके आश्रय से योगाङ्ग प्राणायाम का अनुष्ठान करना चाहिये । उस प्राणायाम का स्वरूप यह है कि श्वास और प्रश्वास की गति को रोक देना, श्वास और प्रश्वास के लक्षण पहिले कह चुके हैं, उस श्वास और प्रश्वास को रोकने की ३ रीति हैं रेचन (कोष्ठस्थ वायु का बाहर निकालना) स्तम्भन (रोकना) पूरण (फिर खींचना) बाहर और भीतर उसकी गति को रोक देना प्राणायाम कहाता है ॥४९॥

सहज में प्राणायाम को समझाने के वास्ते प्राणायाम के विभाग कहते हैं—

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

सू० का प०—(सः तु) वह प्राणायाम (बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः) बाह्य आभ्यन्तर तथा स्तम्भवृत्ति से तीन प्रकार का (देशकालसंख्याभिः) देश, काल और संख्याओं से (परिदृष्टः) देखा गया है (दीर्घसूक्ष्मः) दीर्घ और सूक्ष्म है ॥ ५० ॥

सू० का भा०—वह प्राणायाम ३ प्रकार का है—१ बाह्य, २ आभ्यन्तर और ३ स्तम्भवृत्ति ॥ ५० ॥

व्या० भा०—यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः । यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः तृतीयःस्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति । यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः सङ्कोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति । त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति । कालेन परिदृष्टाः क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः । संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः । एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः । स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

सू० का भा०—आसन स्थिर होने से जो प्राण की गति का अवरोध होता है उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

व्या० भा०—सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं स तु श्वासः । कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

भा० का प०—आसन सिद्ध हो जाने पर बाह्य वायु को जो ग्रहण किया जाता है उसे श्वास कहते हैं तथा भीतर की वायु का जो बाहर निकालना है उसे प्रश्वास कहते हैं इन दोनों की गति का जो अवरोध है अर्थात् दोनों का अभाव उसे प्राणायाम कहते हैं ४९

भा० का भाषा०—बाह्य वायु का जो आचमन किया जाता है उसे श्वास और अन्दर की वायु को बाहर निकाला जाता है उसे प्रश्वास कहते हैं और दोनों की गति के अवरोध का प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

भो० वृ०—आसनस्थैर्ये सति तन्निमित्तकः । प्राणायामलक्षणो योगाङ्गविशेषोऽनुष्ठेयो भवति । कीदृशः श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः । श्वासप्रश्वासौ निरुक्तौ । तयोस्त्रिधा रेचनस्तम्भनपूरणद्वारेण बाह्याभ्यन्तरेषु स्थानेषु गतःप्रवाहस्य विच्छेदो धारणं प्राणायाम उच्यते ॥ ४९ ॥

भो० वृ० का भा०—आसन जय हो जाने पर उसके आश्रय से योगाङ्ग प्राणायाम का अनुष्ठान करना चाहिये । उस प्राणायाम का लक्षण यह है कि श्वास और प्रश्वास की गति का रोक देना, श्वास और प्रश्वास के लक्षण पहिले कह चुके हैं उस श्वास और प्रश्वास को रोकने की ३ रीति हैं रेचन (कोष्ठस्थ वायु का बाहर निकालना) स्तम्भन (रोकना) पूरण (फिर खींचना) बाहर और भीतर उनकी गति को रोक देना प्राणायाम कहाता है ॥४९॥

सहज मे प्राणायाम को समझाने के वास्ते प्राणायाम के विभाग कहते हैं—

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

सू० का प०—(सः तु) वह प्राणायाम (बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः) बाह्य आभ्यन्तर तथा स्तम्भवृत्ति से तीन प्रकार का (देशकालसंख्याभिः) देश, काल और संख्याओं से (परिदृष्टः) देखा गया है (दीर्घसूक्ष्मः) दीर्घ और सूक्ष्म है ॥ ५० ॥

सू० का भा०—वह प्राणायाम ३ प्रकार का है—१ बाह्य, २ आभ्यन्तर और ३ स्तम्भवृत्ति ॥ ५० ॥

व्या० भा०—यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः तृतीयःस्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जल सर्वतः सङ्कोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति। त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति। कालेन परिदृष्टाः क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः। संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः। एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः। स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

भा० का पदा०—जहाँ प्रश्वासपूर्वक गति का अभाव हो वह बाह्य और जहाँ श्वासपूर्वक गति का अभाव हो वह आभ्यन्तर है तीसरा स्तम्भ वृत्ति वह है जहाँ एक बार के प्रयत्न से दोनों का अभाव हो जैसे तपे हुये पत्थर पर डाला हुआ जल सब तरफ से संकुचित हो जाता है वैसे ही इनमें एक साथ गति का अभाव हो जाता है। ये तीनों देशदृष्ट, कालदृष्ट और संख्यादृष्ट कहलाते हैं। देश की सीमा से जो परिमित हो वह कालदृष्ट, समय की सीमा से जो परिमित हो वह कालदृष्ट कहलाता है। संख्यादृष्ट वह है कि जिसमें यह भाव धारण किया जाय कि इतने श्वास प्रश्वासों के रोकने से पहला उद्घात और इतनों के रोकने से दूसरा उद्घात होता है। ऐसे ही तीसरा ऐसे ही मृदु ऐसे ही मध्य, ऐसे ही तीव्र में श्वास प्रश्वासों की संख्या की जाती है। य संख्या परिदृष्ट कहाता है सो निश्चय किया हुआ यह अभ्यास दीर्घ और सूक्ष्म कहाता है ॥ ५० ॥

भा० का भा०—जिसमें प्रश्वास अर्थात् भीतर के श्वास को बाहर निकाल कर श्वास को रोका जाता है उसे बाह्य प्राणायाम कहते हैं जहाँ वायु के अभ्यन्तरगमन का अभाव हो वह आभ्यन्तर है। तीसरा वह प्राणायाम है जहाँ दोनों का स्तम्भ हो, उसे स्तंभ वृत्ति कहते हैं। यहाँ दृष्टान्त है—जैसे अग्नि में तपे पत्थर पर पानी डालने से संकुचित हो जाता है वैसे ही इसमें दोनों का स्तम्भ हो जाता है सो अभ्यास किये हुए पुरुष से हो सकता है यही इसका विषय है इसे देश परिदृष्ट कहते हैं यही इसका रूप है इसको काल परिदृष्ट कहते हैं। इतने श्वास प्रश्वास का प्रथम इतने ही का दूसरा इतने ही का तीसरा उद्घात है। ऐसे ही मृदु मध्य तीव्र के समय का जिससे निर्धारण किया जाय उसे संख्या परिदृष्ट कहते हैं ॥ ५० ॥

भो० वृ०—बाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः । अन्तःवृत्तिः प्रश्वासः पूरकः आभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः कुम्भकः । तस्मिन् जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणा अवस्थाप्यन्त इति कुम्भकः । त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशेन कालेन सख्यया चोपलक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति । देशोपलक्षितो यथा नासाप्रदेशान्तादिः । कालोपलक्षितो यथा—षट्त्रिंशन्मात्रादिप्रमाणः संख्ययोपलक्षितो यथा—इयतो वारान् कृत एतावद्भिः श्वास प्रश्वासैः प्रथम उद्घातो भवतीति । एतद् ज्ञानाय सख्याग्रहणमुपात्तम् उद्घातो नाम नाभिमूलात् प्रेरितस्य वायोः शिरसि अभिहननम् ॥ ५० ॥

त्रीन् प्राणायामानभिधाय चतुर्थमभिधातुमाह—

भो० वृ० का भा०—कोष्ठस्थ वायु को जो बाहर निकाला जाता है उस श्वास को रेचक कहते हैं, प्रश्वास को जो भीतर खींचा जाता है उसे पूरक कहते हैं और भीतर जो श्वास को रोका जाता है वह कुम्भक कहाता है । यह तीन प्रकार का प्राणायाम देश, काल और सख्या के उपलक्षण से दीर्घ प्राणायाम और सूक्ष्म प्राणायाम नामक दो भेदवाला हो जाता है । देशोपलक्षित प्राणायाम उसे कहते हैं जिसमे नाभिदेश वा हृदयदेश में प्राणों को स्थिर करने का उद्देश रहता है अथवा एकान्त वन आदि के उपलक्ष से जो प्राणायाम होता है । कालोपेक्षित वह प्राणायाम है जिसमे काल का नियम रक्खा जाता है । जितने काल मे पलक लगती है उसको पल कहते हैं और जितने काल मे ३ बार चुटकी बजाई जाय उसे मात्रा कहते हैं, किन्तु महर्षि पाणिनि के मत में एक मात्रा उतने काल की संज्ञा है जितने काल मे हाथ की नाडी एक बार फुदकती वा चलती है इस मात्रा के हिसाब से जो प्राणायाम किया जाता है उसे कालोपेक्षित प्राणायाम कहते हैं । सख्योपलक्षित वह प्राणायाम है जिसमें यह नियम किया जाय कि इतनी

बार प्राणायाम करूँगा या इतने श्वास से परिमित उद्घात होगा इस ज्ञान की रक्षा के वास्ते सूत्रकार ने संख्या शब्द लिखा है, उद्घात का अर्थ यह है कि नाभि स्थान से जो वायु प्रयत्न द्वारा प्रेरित होती है उसका सिर में बलपूर्वक लगना ॥ ५० ॥

तीन प्राणायामों का कथन करके अब चौथे प्राणायाम को कहेंगे—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

सू० का पदा०—(बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी) बाह्य विषय और आभ्यान्तर विषयों का जिसमें परित्याग किया किया जाता है (चतुर्थः) वह चतुर्थ प्राणायाम है ॥५१॥

सू० का भा०—जिसमें बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषयों का परित्याग हो वह चौथा प्राणायाम है ॥ ५१ ॥

व्या० भा०—देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः तथाभ्यन्तरविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः । उभयथा दीर्घ सूक्ष्मः तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः । तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारम्भ एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति ॥ ५१ ॥

भा० का प०—देश काल और संख्या के द्वारा बाह्य विषयों का देखकर परित्याग करना ऐसे ही आभ्यन्तर विषयों का अच्छे

प्रकार से देखकर त्याग करना दोनों प्रकार से दीर्घ और सूक्ष्म होता है। जो क्रम से दोनों की गति का अभाव होता है वह चतुर्थ प्राणायाम है और तीसरा तो जिसका विषय सोचा नहीं गया है जिसमें एक बार आरम्भ करने ही से देश काल और संख्या के द्वारा प्राणों की गति का अभाव देखा गया है वह दीर्घ सूक्ष्म है। चौथा प्राणायाम वह है श्वास और प्रश्वास के विषय को निर्द्धारित करने से क्रम से भूमिका के जय से दोनों के निरोधपूर्वक जो गति का निरोध किया जाता है वह चौथा प्राणायाम है॥ ५१॥

भा० का भा०—चौथा प्राणायाम वह है जो दीर्घ और सूक्ष्म से भिन्न हो और जिसमें श्वास और प्रश्वास की गतिका अवरोध हो जाय और क्रम से जिसमें भूमिकाओं का जय हो जाय॥ ५१॥

भो० वृ०-प्राणस्य वाह्यो विषयो नासाद्वादशान्तादिः। आभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः। तौ द्वौ विषवौ आक्षिप्य पर्य्यालोच्य यः स्तम्भरूपो गतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्मात् कुम्भकात् अयमस्य विशेषः। स वाह्याभ्यन्तरविषयौ अपर्यालोच्यैव सहसा तप्तोपलनिपतितजलन्यायेन युगपत्स्तम्भवृत्त्या निष्पद्यते। अस्य तु विषयद्वयापेक्षको निरोधः। अयमपि पूर्वदेशकालसंख्याभिरुपलक्षितो द्रष्टव्यः॥ ५१॥

यतेर्विधस्यास्य फलमाह—

भो० वृ० का भा०—(देशबन्धश्चित्तस्य धारणा) सूत्र के विवरण में कह चुके हैं कि प्राण धारण का वाह्य विषय नासिका आदि है और आभ्यन्तर विषय हृदय और नाभिचक्र आदि हैं इन दोनों विषयों की आलोचना अर्थात् कालोपलक्षित और संख्योपलक्षित पूर्वोक्त प्राणायामों के द्वारा क्रम से योग भूमियों को जीतकर जो स्तम्भ रूप श्वास प्रश्वास की गति को रोका जाता है वह चौथा प्राणायाम है। पूर्व सूत्र में कहा जो कुम्भक

प्राणायाम है उससे इसका इतना भेद है कि कुम्भक में बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का बिना विचारे ही प्राणों की गति को एकसे रोक दिया जाता है जैसे तपते हुये पत्थर पर पानी डालने से बस थोड़ाही चारों ओर से सिमट जाता है और इस चतुर्थ प्राणायाम में बाह्य और आभ्यन्तर विषय की आलोचना पूर्वक निरोध किया जाता है इसके भी देश काल और संख्या के उपलक्षण से वैसे ही भेद समझने चाहिये जैसे पहिले सूत्र में कह आये हैं ॥ ५१ ॥

आगे चारों प्रकार के प्राणायामों का फल कहते हैं—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥५२॥

सू० का प०—(ततः)प्राणायाम सिद्धि के अनन्तर (क्षीयते) नाश होता है (प्रकाशावरणम्) ज्ञान का आच्छादन ॥ ५२ ॥

सू० का भा०—प्राणायाम सिद्धि के अनन्तर ज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है ॥ ५२ ॥

व्या०—प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म यत्तदाचक्षते महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्त इति । तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणञ्च क्षीयते । तथाचोक्तम्—तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति ॥५२॥

किंच

भा० का पदा०—प्राणायाम का अभ्यास करने वाले योगी के विवेक ज्ञान को आच्छादन करने वाला अर्थात् जिससे ज्ञान ढका है वह कर्म नाश होता है जैसा कि कहा जाता है महामोहमय इन्द्रजाल के द्वारा प्रकाशशील सत्व को ढक कर वही आवरण अकार्य मे प्रयुक्त करता है। वही इस योगी के प्रकाश को आवरण करने वाला कर्म संसार का निबन्धक है। वह प्राणायामो के अभ्यास से दुर्बल होता है और प्रतिक्षण क्षीण होता है तैसा भी अन्यत्र भी कहा है प्राणायाम से अधिक कोई तप नहीं, क्योंकि उससे मलादि की शुद्धि और ज्ञान की दीप्ति होती है॥ ५२॥

भा० का भा०—प्राणायामो का अभ्यास करने वाले योगी का विवेक ज्ञान को आच्छादन करने वाला कर्म्म क्षीण होता है। जो कर्म महामोहमय इन्द्रजाल से प्रकाश का आच्छादन कहाता है वही इसको अकार्य मे प्रयुक्त करता है, प्राणायाम करने से वही कर्म क्षीण होता है तैसा ही अन्यत्र भी कहा है कि प्राणायाम से अधिक तप नहीं है, क्योंकि उससे मलादि की शुद्धि और ज्ञान का प्रकाश होता है॥ ५२॥

भो० वृ०—ततस्तस्मात् प्राणायामात् प्रकाशस्य चित्तसत्वगतस्य यदावरणं क्लेशरूपं तत्क्षीयते विनश्यतीत्यर्थः॥ ५२॥ फलान्तरमाह।

भो० वृ० का भा०—उस प्राणायाम से चित्त के प्रकाश पर जो क्लेश आवरण अर्थात् ढकना लगा हुआ है वह दूर हो जाता है॥५२॥ दूसरा फल कहते हैं।

धारणासु च योग्यता मनसः॥५३॥

सू० का पदा०—(धारणासु च) और धारणाओं में (मनसः) मन की (योग्यता) योग्यता होती है॥ ५३॥

सू० का भाषा०—और प्राणायाम से धारणाओं में मन की योग्यता होती है ॥ ५२ ॥

व्या० दे० का भा०—प्राणायामाभ्यासादेव । "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" इति वचनात् ॥ ५३ ॥ अथ कः प्रत्याहारः ?

भा० पदा०—प्राणायाम के अभ्यास से ही धारणा में मन की योग्यता होती है । क्योंकि "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" इस सूत्र में प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण से चित्त की प्रसन्नता वर्णन की गई है ॥ ५३ ॥

भा० का भाषा०—"श्वास के बहिर्गमन और धारणा से" ऐसा लिखने से तात्पर्य यह है कि प्राणायाम के अभ्यास से जब ज्ञान को आवरण करनेवाला मल क्षय हो जाता है तब प्राणायाम का दूसरा फल यह होता है कि योगी का चित्त धारणाओं में स्थिर होने के योग्य हो जाता है ॥ ५३ ॥

भो० वृ०—धारणा वक्ष्यमाणलक्षणास्तासु प्राणायामैः क्षीणदोषं मनो यत्र यत्र धार्यते तत्र तत्र स्थिरीभवति न विक्षेपं भजते ॥ ५३ ॥ प्रत्याहारस्य लक्षणमाह—

भो० वृ० का भा०—जिन धारणाओं का लक्षण आगे कहा जायगा उनमें प्राणायामों से मन के सब दोष दूर होकर जहाँ २ मन को लगाया जाता है वहीं २ वह स्थिर हो जाता है अर्थात् फिर मन पूर्वोक्त विक्षेपों में नहीं फँसता है ॥ ५३ ॥ आगे प्रत्याहार का लक्षण करते हैं—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

सू० का पदा०—(स्वविषयासम्प्रयोगे) अपने विषय का जो असम्प्रयोग अर्थात् ग्रहण को न करना (चित्तस्य स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणाम्) चित्त के स्वरूप को अनुकरण करने के समान इन्द्रियों का भाव जिसमें हो जाय (प्रत्याहारः) वह प्रत्याहार कहाता है ॥ ५४ ॥

सू० का भावा०—जिसमें चित्त इन्द्रियों के सहित अपने विषय को त्याग कर केवल ध्यानावस्थित हो जाय उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥

व्या० दे० का भा०—स्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति, चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते । यथा–मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनुत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

भा० का पदा०—अपने विषय का योग न होने से चित्त स्वरूप के समान इन्द्रियाँ भी हो जाती हैं चित्त के समान जिसमे इन्द्रियों का निरोध हो जाय इतर इन्द्रियों के जीतने में जब दूसरे उपायों की अपेक्षा न रहे जैसे रानी मक्खी के पीछे जब वह उड़ती है तब सब मक्खियाँ उडती हैं जब वह छाते में प्रविष्ट होती है तब सब मक्खियाँ भी बैठ जाती हैं इस ही प्रकार से इन्द्रियाँ भी चित्त के निरोध होने से निरुद्ध हो जाती हैं यह प्रत्याहार है ॥ ५४ ॥

सु० का भावा०—जब चित्त विषयों के चिन्तन से उपरत हो कर स्वस्थ हो जाता है तब इन्द्रियाँ भी चञ्चलता रहित हो जाती हैं । उस शान्त अवस्था को प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥

सू० का भाषा०—और प्राणायाम से धारणाओं में मन की योग्यता होती है ॥ ५२ ॥

व्या० दे० का भा०—प्राणायामाभ्यासादेव । "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" इति वचनात् ॥ ५३ ॥ अथ कः प्रत्याहारः ?

भा० पदा०—प्राणायाम के अभ्यास से ही धारणा में मन की योग्यता होती है । क्योंकि "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" इस सूत्र में प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण से चित्त की प्रसन्नता वर्णन की गई है ॥ ५३ ॥

भा० का भाषा०—"श्वास के बहिर्गमन और धारणा से" ऐसा लिखने से तात्पर्य यह है कि प्राणायाम के अभ्यास से जब ज्ञान को आवरण करनेवाला मल क्षय हो जाता है तब प्राणायाम का दूसरा फल यह होता है कि योगी का चित्त धारणाओं में स्थिर होने के योग्य हो जाता है ॥ ५३ ॥

भा० वृ०—धारणा वक्ष्यमाणलक्षणास्तासु प्राणायामैः क्षीणदोषं मनो यत्र यत्र धार्यते तत्र तत्र स्थिरीभवति न विक्षेपं भजते ॥५३

प्रत्याहारस्य लक्षणमाह—

भा० वृ० का भा०—जिन धारणाओं का लक्षण आगे कहा जायगा उनमें प्राणायामों से मन के सब दोष दूर होकर जहाँ २ मन को लगाया जाता है वहीं २ वह स्थिर हो जाता है अर्थात् फिर मन पूर्वोक्त विक्षेपों में नहीं फँसता है ॥ ५३ ॥ आगे प्रत्याहार का लक्षण कहते हैं—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

सू० का पदा०—(स्वविषयासम्प्रयोगे) अपने विषय का जो असम्प्रयोग अर्थात् ग्रहण को न करना (चित्तस्य स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणाम्) चित्त के स्वरूप को अनुकरण करने के समान इन्द्रियों का भाव जिसमें हो जाय (प्रत्याहारः) वह प्रत्याहार कहाता है ॥ ५४ ॥

सू० का भावा०—जिसमे चित्त इन्द्रियों के सहित अपने विषय को त्याग कर केवल ध्यानावस्थित हो जाय उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥

व्या० दे० का भा०—स्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति, चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते । यथा—मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनुपतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

भा० का पदा०—अपने विषय का योग न होने से चित्त स्वरूप के समान इन्द्रियाँ भी हो जाती हैं चित्त के समान जिसमें इन्द्रियों का निरोध हो जाय इतर इन्द्रियों के जीतने में जब दूसरे उपायों की अपेक्षा न रहे जैसे रानी मक्खी के पीछे जब वह उड़ती है तब सब मक्खियाँ उडती हैं जब वह छाते में प्रविष्ट होती है तब सब मक्खियाँ भी बैठ जाती हैं इस ही प्रकार से इन्द्रियाँ भी चित्त के निरोध होने से निरुद्ध हो जाती हैं यह प्रत्याहार है ॥ ५४ ॥

सू० का भावा०—जब चित्त विषयों के चिन्तन से उपरत हो कर स्वस्थ हो जाता है तब इन्द्रियाँ भी चञ्चलता रहित हो जाती हैं । उस शान्त अवस्था को प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥

भो० वृ०—इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाह्रियन्तेऽस्मिन् इति प्रत्याहारः । स च कथं निष्पद्यत इत्याह । चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां स्वविषयोरूपादिस्तेन सम्प्रयोगस्तदाभिमुख्येन वर्तनं तदभावस्तदाभिमुख्यं परित्यज्य। स्वरूपमात्रेऽवस्थानं, तस्मिन् सति चित्तस्वरूप मात्रानुकारीणीन्द्रियाणि भवन्ति । यतश्चित्तमनुवर्तमानानि मधुकरराजमिव मक्षिकाः सर्वाणीन्द्रियाणि प्रतीयन्ते अतश्चित्तनिरोधे तानि प्रत्याहृतानि भवन्ति । तेषां तत्स्वरूपानुकारः प्रत्याहार उक्तः ॥ ५४ ॥

प्रत्याहारफलमाह—

भा० वृ० का भा०—प्रत्याहार का अर्थ यह है कि इन्द्रियाँ विषयों के चिन्हमात्र संस्कार को लेकर जिसमें आ छिपें वह प्रत्याहार है। प्रत्याहार किस प्रकार से प्राप्त होता है इसका वर्णन करते हैं, मन आदि इन्द्रियाँ अपने रूपादि विषयों में जो मुख्य भाव से लगी हुई हैं उन विषयों को परित्याग कर अपने स्वरूपमात्र से जो स्थिर रहना है वह इन्द्रियों का स्थिरभाव है उसके पश्चात् इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण करने लगेंगी क्योंकि सब इन्द्रियाँ चित्त के पीछे चलनेवाली वा आधीन रहती हैं । जैसे रानी मक्खी के आधीन सब मधुमक्खी होती हैं इस कारण चित्त के निरुद्ध होने से सब इन्द्रियाँ विषयों को त्याग कर चित्त के साथ निरुद्ध हो जाती हैं। इन्द्रियों की इस निरुद्धावस्था को प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥

आगे प्रत्याहार के फल को कहते हैं—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

सू० का पदा०—(ततः) उस प्रत्याहार से (परमा वश्यता) अत्यन्त वश में हो जाना (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का ॥ ५५ ॥

सू० का भावा०-प्रत्याहार से इन्द्रियाँ अत्यन्त वश होती हैं।५५

व्या० का भा०—शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति के चित्सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति। अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या। शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये। रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्। चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः। ततश्च परमात्त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियजयवत्प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥ ५५ ॥

भा० का पदा०—शब्दादि विषयों मे आसक्ति का होना ही इन्द्रियों का जीतना कहाता है ऐसा कोई २ भाष्यकार कहते हैं। आसक्ति को ही व्यसन कहते हैं क्योकि वह योगी को कल्याण से दूर फेंकता है। कोई २ शास्त्र के अविरुद्ध आसक्ति को अनुचित नहीं बतलाते। शब्दादि विषयों का अनुष्ठान स्वाभाविक ही होता है यह भी किसी २ मन्तव्य है। राग द्वेष के अभाव में सुख और दुःख से शून्यका शब्दादि ज्ञान इन्द्रियजय है ऐसा कोई २ कहते हैं। चित्त की एकाग्रता से विषयों का ध्यान न करना ऐसा जैगीषव्य ऋषि का मत है तब यह परम वश्यता होती है। जो चित्त के निरोध में सब इन्द्रियाँ निरुद्ध होती हैं और इन्द्रियजय के समान प्रयत्न से किये हुए उपायान्तर की अपेक्षा करता है॥

भा० का भा०—शब्दादि विषयों में विरक्ति होना ही इन्द्रियों का जीतना कहाता है ऐसा कोई मुनि कहते हैं, इन्द्रियों की विषयों मे आसक्ति व्यसन कहाती है क्योंकि वह योगी को कल्याण से दूर फेंकती है। शब्दादि विषयों का अनुष्ठान स्वाभाविक होता है यह किसी का मत है। पूर्वोक्त राग द्वेष के अभाव में सुख दुःख शून्य

होता यह किसी का मत है। चित्त की एकाग्रता से शब्दादि बाह्य विषयों का ग्रहण न करना ही इन्द्रियजय है यह जैगीषव्य महर्षि का मत है। जिस इन्द्रियजय से वा चित्त के निरोध में इन्द्रिय निरोध होता है उससे अन्य योगी योग यत्न नहीं ढूँढते अर्थात् इस ही से योग सिद्ध होता है ॥ ५५ ॥

भो० वृ०—अभ्यस्यमाने हि प्रत्याहारे तथा वश्यानि आयत्तानीन्द्रियाणि सम्पद्यन्ते यथा बाह्यविषयाभिमुखतां नीयमानान्यपि न यान्तीत्यर्थः।

तदेवं प्रथमपादोक्तलक्षणस्य योगस्याङ्गभूतक्लेशतनूकरणफलं क्रियायोगमभिधाय क्लेशानामुद्देशं स्वरूपं कारणं क्षेत्रं फलं चोक्त्वा कर्मणामपि भेदं कारणं स्वरूपं फलं चाभिधाय विपाकस्य कारणं स्वरूपमभिहितम्। ततस्त्याज्यत्वात् क्लेशादीनां ज्ञानव्यतिरेकेण त्यागस्याशक्यत्वात् ज्ञानस्य च शास्त्रायत्तत्वाच्छास्त्रस्य च हेयहान-कारणोपादेयोपादानकारणबोधकत्वेन चतुर्व्यूहत्वात् हेयस्य च हानव्यतिरेकेणस्वरूपानिष्पत्तेर्हानसहितं चतुर्व्यूहं स्वस्वकारणसहितमभिधायोपादेयकारणभूताया विवेकख्यातेः कारणभूतानाम-न्तरङ्गबहिरङ्गभावेन स्थितानां योगाङ्गानां यमादीनां स्वरूपं फलसहितं व्याख्यायासनादीनां धारणापर्यन्तानां परस्परमुपकार्योपकारकभावेनावस्थितानामुद्देशमभिधाय प्रत्येकं लक्षणकरणपूर्वकं फल-मभिहितम्। तदयं योगी यमनियमाभ्यां प्राप्तबीजभावः आसनप्राणायामाभ्यामङ्कुरितः प्रत्याहारेण पुष्पितः ध्यानधारणासमाधिभिः फलिष्य-तीति व्याख्यातः साधनपादः।

भो० वृ० का भा०—प्रत्याहार का अभ्यास करने से इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, फिर उनको यदि बाह्य विषयों में लगाया भी जाय तो भी वह विषयों को ग्रहण नहीं करती हैं अर्थात् स्वरूप ध्यान में प्रीतिमती हो जाती हैं ॥ ५५ ॥

उपसंहार।

प्रथम पाद मे जिस योग का वर्णन किया था उसके ही अंग क्लेश नाशक क्रियायोग का इस द्वितीय पाद में वर्णन किया है। क्लेशो के उद्देश, क्लेशो के स्वरूप, क्लेशों के कारण, क्लेशो के उत्पत्तिस्थान और क्लेशों के फल का भी विधिवत वर्णन किया है पश्चात् कर्मों के भेद, कारण, स्वरूप और फल का भी वर्णन कर चुके, फिर कर्मविपाक (फल वासना) का कारण और स्वरूप भी कहा इसके अनन्तर क्लेशों का हेयत्व (त्याग) और क्लेश विना ज्ञान के नहीं छूटते हैं और ज्ञान शास्त्र से प्राप्त होता है और शास्त्र इन चारों बातों का बोधक है। (त्यागने योग्य) हेयहेतु, उपादेय और उपादान कारण जिससे उपादेय का का ज्ञान होता है इन्हीं चारों बातों का योगशास्त्र मे वर्णन है इस कारण शास्त्र भी चतुर्व्यूह कहाता है, हेय का स्वरूप हानि के अतिरिक्त सिद्ध नहीं हो सकता है इसलिये हान के सहित उक्त चारों बातो का कारणों के सहित वर्णन करके उपादेय का कारण जो विवेकख्याति है उसके कारण अर्थात् योग के अंतरंग और वहिरंग साधन स्वरूप यम आदि के लक्षण और फल का भी वर्णन किया, फिर आसन और धारणादि के परस्पर उपकार्योपकारक (जो एक दूसरे के उपकार को करते हैं अर्थात् परस्पर सहायकारी हैं) भाव कह कर उनमें से प्रत्येक के लक्षण, कारण और फल का वर्णन आदि इस ही पाद में किया गया है। इससे सिद्ध है कि यह नियमादिसे योगी के चित्त में योग का बीज बोया जाता है, आसन और प्राणायाम से उस बीज में अंकुर उत्पन्न होता है। प्रत्याहार से उसपर पुष्प आता है और ध्यान, धारणा तथा समाधि से उस वृक्ष पर फल लगता है यही इस साधनपाद का संक्षिप्त फलितार्थ है।

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे
द्वितीयः पादः समाप्तः ।

अथ विभूतिपाद. ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

सू० का पदा०—(देशबन्धः) देशबन्ध (चित्तस्य) चित्त की (धारणा) धारणा कहलाती है ॥ १ ॥

सू० का भाषा०—चित्त का नाभि स्थानों में स्थिर करने को धारणा कहते हैं ॥ १ ॥

व्या० दे० का भा०—नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥ १ ॥

भा० का पदा०—नाभिचक्रमें, हृदय कमलमें नासिका के अग्रभागमें, जिह्वा के अग्रभाग में इत्यादि स्थानों में अथवा बाह्य विषयों में चित्त का वृत्तियों के द्वारा स्थिर होना धारणा कहलाती है ।

भा० का भा०—नाभि आदि अन्तर्देशों वा बाह्य देशों में वृत्ति के द्वारा जो चित्त को स्थिर किया जाता है वह धारणा कहलाती है ॥ १ ॥

१ सू० वि०—बाह्य विषय का अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों के जो रूपादि स्थूल अर्थात् तन्मात्र हैं उनमें चित्त को लगाना भी

धारणा शब्द का वाच्य है, आजकल जो हठयोग वाले षट्चक्र भेदन का अभ्यास किया करते हैं वह भी इस ही सूत्र के आभास से करते हैं और थियोसोफिष्ट लोग इस ही सूत्र से बाह्य विषय अर्थात् किसी बिन्दु विशेष वा वस्तु विशेष मे चित्त को लगाने का अभ्यास किया करते हैं परन्तु ये सब क्रियायें योगी को हानि पहुँचाती हैं ॥ १ ॥

भो० वृ०—तदेवं पूर्वोद्दिष्टं धारणाद्यङ्गत्रय निर्णेतुं संयमसंज्ञाभिधानपूर्वकं बाह्याभ्यन्तरादिसिद्धिप्रतिपादनाय लक्षयितुमुपक्रमते। तत्र धारणायाः स्वरूपमाह-देशेनाभिचक्रनासाग्रादौ चित्तस्यबन्धो, विषयान्तरपरिहारेण यत् स्थिरीकरणं सा चित्तस्य धारणोच्यते, अयमर्थः। मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मवासितान्तःकरणेन यमनियमवता जितासनेन परिहृतप्राणविक्षेपेण प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामेण निर्बाधे प्रदेश ऋजुकायेन जितद्वन्द्वेन योगिना नासाग्रादौ संप्रज्ञातस्य समाधेरभ्यासाय चित्तस्य स्थिरीकरणं कर्त्तव्यमिति ॥ १ ॥ धारणामभिधाय ध्यानमभिधातुमाह—

भो० वृ० का भा०—इस रीति से पूर्वपाद मे कहे धारणादि योग के तीन अङ्गों के निर्णय के निमित्त सयम सज्ञा का वर्णन पूर्वक बाह्यसिद्धि और आभ्यान्तरसिद्धि को वर्णन करने का उद्योग करते हैं। उन तीनों में से प्रथम धारणा का स्वरूप कहते हैं—

देश अर्थात् नाभिचक्र और नासिका के अग्रभाग आदि में जो चित्त का बन्ध अर्थात् विषयों को त्यागकर स्थिर करना है वह धारणा कहाती है। अभिप्राय यह है कि मुदिता और मैत्री आदि जिस योगी के अन्तःकरण में पूरित हो गये हैं, यमं नियम को जिसने धारण किया है, आसन को जिसने जीता है जिसके चित्त के मल, विक्षेप दूर होगये हैं प्राणों के विक्षेप जिसके दूर हो

गये हैं, इन्द्रियाँ जिसकी वश होगई हैं, विघ्नरहित स्थान में योग सेवन से जिसके द्वन्द्व दूर हो गये हैं उस योगी को नासिका के अग्रभाग या नाभि चक्रादि में संप्रज्ञात समाधि का अभ्यास करने के निमित्त अपने चित्त को स्थिर करना चाहिये ॥ १ ॥ धारणा कहकर ध्यान का वर्णन करते हैं ।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

सू० का पदा०—(तत्र) नाभि आदि स्थानों में (प्रत्ययैकतानता) ज्ञान की स्थिरता (ध्यानम्) ध्यान कहाती है ॥ २ ॥

सू० का भा०—नाभि आदि देशों में जो ध्येय का ज्ञान होता है उसे ध्यान कहते हैं ॥ २ ॥

व्या० भा०—तस्मिन् देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥ २ ॥

भा० का पदार्थ—उन नाभि आदि स्थानों में ध्येयावलम्बन रूप ज्ञान की स्थिरता अर्थात् सदृश ज्ञान का प्रवाह और ज्ञानों से जो सम्बन्ध न रखता हो उसे ध्यान कहते हैं ॥ २ ॥

भा० का भा०—नाभि आदि स्थानों में ध्येय के ज्ञान में चित्त का लय हो जाना और उसमें दूसरे ज्ञान का अभाव हो जाना ध्यान कहाता है ॥ २ ॥

भा० वृ०—तत्र तस्मिन् प्रदेशे यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य या एकतानता विसदृशपरिहारद्वारेण यदेव धारणायामालम्बनीकृतं तदालम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिः सा ध्यानमुच्यते ॥ २ ॥ चरम योगांगं समाधिमाह—

भो० वृ० भा०—जिस स्थान में चित्तको धारण किया था उसमें जो ज्ञान की एकतानता अर्थात् विसदृश परिणाम त्याग द्वारा जो धारणा में आलम्बन होता है उसे ध्यान कहते हैं ॥ २ ॥

अब अन्तिम योग के अङ्ग समाधि को कहते हैं:

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३

सू० का पदा०—(तदेव) वही ध्यान (अर्थमात्रनिर्भासम्) अर्थमात्र संस्कारमात्र रह जाय (स्वरूपशून्यमिव) स्वरूपशून्य सा प्रतीत हो (समाधिः) उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

सू० का भा०—जिसमे ध्यान का संस्कार मात्र रह जाय और स्वरूप शून्य के समान हो जाय उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

व्या० भा०—इदमत्रबोध्यम्—ध्यातृध्येयध्यानकलनावत् ध्यानं तद्रहितं समाधिरिति । ध्यानसमाध्योर्विभागः। अस्य च समाधिरूपस्यांगस्यांगिनियोगः सम्प्रज्ञातयोगादयं भेदो यदत्र चिन्तारूपतया निःशेषतो ध्येयस्वरूपं न भासते अङ्गिनि तु संप्रज्ञाते साक्षात्कारोदये समाध्यविषया अपि विषया भासन्त इति। तथा च साक्षात्कारयुक्तैकाग्रकाले सम्प्रज्ञातयोगः। अन्यदा तु समाधिमात्रमिति विभागः समाधिः। ध्यानमेव ध्येयाकार निर्भासं प्रत्ययाऽऽत्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥ ३ ॥

भा० का प०—यहाँ ऐसा जानना चाहिये ध्याता-ध्यान करने-

होनेसे संयम कहलाता है। एक विषय वाले तीन साधनोंको संयम कहते हैं सो इस शास्त्र में इन तीनों की संयम संज्ञा है॥ ४॥

भा० का भा०—किसी एक ही ध्येय में धारणा, ध्यान और समाधि का करना संयम कहाता है॥ ४॥

भो० वृ०—एकस्मिन् विषये धारणाध्यानसमाधित्रयं प्रवर्तमानं संयमसंज्ञया शास्त्रे व्यवह्रियते॥ ४॥ तस्य फलमाह—

भो० वृ० का भा०—एक ही विषय में जो धारणा ध्यान समाधि की जाती है उसका नाम संयम है॥ ४॥ आगे संयम का फल कहते हैं—

तज्जयात् प्रज्ञालोकः॥ ५॥

सू० का प०—(तज्जयात्) उस संयम के जय से (प्रज्ञालोकः) बुद्धि का प्रकाश होता है॥ ५॥

सू० का भा०—संयम के जय से बुद्धि का प्रकाश होता है॥५॥

भा०—तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्या-लोको यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति॥ ५॥

भा० का प०—उस संयम के जीतने से समाधिविषयिणी बुद्धि का प्रकाश होता है जैसे २ संयम स्थिर होता है। वैसे २ ईश्वर कृपा से समाधि विषयिणी बुद्धि निपुण होती जाती है॥ ५॥

भा० का भा०—जैसे २ संयम स्थिर होता है वैसे २ समाधि विषयिणी बुद्धि निर्मल होती जाती है॥ ५॥

५ सू०—अर्थात् जो पदार्थ बुद्धि द्वारा जानने योग्य हैं उनका प्रकाश होता है। यहाँ पर यह शंका होती है कि योग के जो पूर्व पाद में आठ अंग हैं उन सबका एक स्थान में वर्णन करके फिर

भिन्न-भिन्न स्थलों मे वर्णन क्यों किया ? इसका उत्तर अगले सूत्र मे लिखते हैं ॥ ५ ॥

भो० वृ०—तस्य संयमस्य जयादभ्यासेन सात्म्योत्पादनात् प्रज्ञाया विवेकख्यातेरालोकः प्रसवो भवति । प्रज्ञा ज्ञेयं सम्यगवभासतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ तस्योपयोगमाह—

भो० वृ० का भा०—संयम के जय अर्थात् अभ्यास से प्रज्ञा अर्थात् विवेकख्याति का प्रकाश होता है अर्थात् बुद्धि से जानने योग्य जो पदार्थ वा विषय हैं वे अच्छी भाँति प्रकाशित होजाते हैं ॥ ५ ॥ संयम का उपयोग (लाभ) कहते हैं—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

सू० का प०—(तस्य) उस संयम को (भूमिषु विनियोगः) योगकी भूमियोंमें स्थिर किया जाता है ॥६॥

सू० का भा०—संयम की स्थिरता योग की भूमियो में क्रम से करनी चाहिये ॥ ६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः। न ह्यजिताधरभूमिनन्तरभूमिं विलंघ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः। ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः कस्मात्—तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात् भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः। कथम् एवं युक्तम्—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्त्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरमिति ॥ ६ ॥

वाला ध्येय—जिसका ध्यान किया जाय तथा ध्यान इन तीनों का अभेद जिसमें प्रतीत हो वह ध्यान कहाता है। इस भेद से रहित को समाधि कहते हैं। यही ध्यान और समाधि में भेद है। इस समाधि रूप योगाङ्ग अंगी सम्प्रज्ञातयोग से यही भेद है कि समाधि में चिन्ता विनष्ट होजाने के कारण ध्येय का स्वरूप प्रकाशित नहीं होता सम्प्रज्ञात में साक्षात्कार के उदय होने से समाधि के अगम्य विषय भी प्रतीत होते हैं तथा साक्षात्कार से युक्त एकाग्र अवस्था में सम्प्रज्ञातयोग होता है यही विभाग है। ध्यान ही ध्येय के आकार में परिणत होकर जब ज्ञान स्वरूप से शून्य के समान होजाता है अर्थात् ध्याता में जब ध्येय के स्वभाव का आवेश हो जाता है तब समाधि होती है ॥ ३ ॥

भा० का भा०—पूर्व लिखे लक्षणों में सन्देह होता है कि ध्यान और समाधि में क्या भेद है? इसका उत्तर यह है कि ध्यान में ध्यातृ ध्येय ध्यान की त्रिपुटि का ज्ञान बना रहता है किन्तु समाधि में वह नहीं रहता। अब यह सन्देह हुआ कि पूर्वलिखित सम्प्रज्ञात योग और समाधि में क्या अभेद है? इसका उत्तर यह है कि समाधि में योगी निर्विकल्प हो जाता है इससे ध्येय का स्वरूप भान नहीं होता किन्तु सम्प्रज्ञात योग में साक्षात्कार के उदय होने से समाधि में जो विषय ज्ञात नहीं होते वे विषय भी प्रकाशित होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि साक्षात्कारयुक्त एकाग्र अवस्था में सम्प्रज्ञात योग और अन्य समय में समाधि योग होता है अर्थात् समाधि का लक्षण यही है कि ध्यान में ध्येय के स्वभाव का आवेश होजाने को समाधि सिद्धि कहते हैं ॥ ३ ॥

३ सू०—'सम्यगाधीयत एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र सः समाधिः"। विघ्नों को निवारण करके जिसमें मनको एकाग्र किया जाय उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

भो० वृ०—तदेवोक्तलक्षणं ध्यानं यत्रार्थमात्रनिर्भासमर्थाकार समावेशादुद्भूतार्थरूपं न्यग्भूतज्ञानस्वरूपत्वेन स्वरूपशून्यतामिवा-पद्यते समाधिरित्युच्यते। सम्यगाधीयत एकाग्रीक्रियते विक्षेपान परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः॥ ३॥

उक्तलक्षणस्य योगाङ्गत्रयस्य व्यवहाराय स्वशास्त्रे तान्त्रिकीं संज्ञा कर्त्तुमाह—

भो० वृ० का भा०—जिस ध्यान का लक्षण पूर्व कह आये हैं वहीं ध्यान अर्थाकार अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से अर्थों का ज्ञान जिसमे हो और ध्यान का स्वरूप जिसमें शून्य के समान हो जाय उसे समाधि कहते हैं। इसमें ध्याता, ध्यान, ध्येय की त्रिपुटि का ज्ञान नहीं रहता है। समाधि का शब्दार्थ यह है कि भली भाति धारण किया जाय मनको जिसमें अर्थात् मन विक्षेपोंको त्याग कर जिसमें एकाग्र होजाता है उसे समाधि कहते हैं॥३॥ योग के जो यह तीन अङ्ग ध्यान, धारणा और समाधि हैं इन तीनों का एक शब्द से व्यवहार करने के लिये योगशास्त्र की तान्त्रिकी संज्ञा कहते हैं:—

त्रयमेकत्र संयमः॥ ४॥

सू० का प०—(त्रयम्) तीनों का (एकत्र) एक जगह में होना (संयमः) संयम कहाता है॥ ४॥

सू० का भा०—ध्यान, धारणा, समाधि इन तीनों के एकत्र होने को संयम कहते हैं॥ ४॥

व्या० भा०—तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः। एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्यत्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति॥ ४॥

भा० का प०—सो यह ध्यान, धारणा, समाधि तीनों एकत्र

होनेसे संयम कहलाता है। एक विषय वाले तीन साधनोंको संयम कहते हैं सो इस शास्त्र में इन तीनों की संयम संज्ञा है ॥ ४ ॥

भा० का भा०—किसी एक ही ध्येय में धारणा, ध्यान और समाधि का करना संयम कहाता है ॥ ४ ॥

भो० वृ०—एकस्मिन् विषये धारणाध्यानसमाधित्रयं प्रवर्तमानं संयमसंज्ञया शास्त्रे व्यवह्रियते ॥ ४ ॥ तस्य फलमाह—

भो० वृ० का भा०—एक ही विषय में जो धारणा ध्यान समाधि की जाती है उसका नाम संयम है ॥ ४ ॥ आगे संयम का फल कहते हैं—

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

सू० का प०—(तज्जयात्) उस संयम के जय से (प्रज्ञालोकः) बुद्धि का प्रकाश होता है ॥ ५ ॥

सू० का भा०—संयम के जय से बुद्धि का प्रकाश होता है ॥५॥

व्या०—तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोको यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति ॥ ५ ॥

व्या० का प०—उस संयम के जीतने से समाधिविषयिणी बुद्धि का प्रकाश होता है जैसे २ संयम स्थिर होता है। वैसे २ ईश्वर कृपा से समाधि विषयिणी बुद्धि निपुण होती जाती है ॥ ५ ॥

भा० का भा०—जैसे २ संयम स्थिर होता है वैसे २ समाधि-विषयिणी बुद्धि निर्मल होती जाती है ॥ ५ ॥

५ सु —अर्थात् जो पदार्थ बुद्धि द्वारा जानने योग्य हैं उनका प्रकाश होता है। यहाँ पर यह शंका होती है कि योग के जो पूर्व पाद में आठ अंग हैं उन सबका एक स्थान में वर्णन करके फिर

भिन्न-भिन्न स्थलों में वर्णन क्यों किया ? इसका उत्तर अगले सूत्र में लिखते हैं ॥ ५ ॥

भो० वृ०—तस्य संयमस्य जयादभ्यासेन सात्म्योत्पादनात् प्रज्ञाया विवेकख्यातेरालोकः प्रसवो भवति । प्रज्ञा ज्ञेयं सम्यगवभासतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ तस्योपयोगमाह—

भो० वृ० का भा०—संयम के जय अर्थात् अभ्यास से प्रज्ञा अर्थात् विवेकख्याति का प्रकाश होता है अर्थात् बुद्धि से जानने योग्य जो पदार्थ वा विषय हैं वे अच्छी भाँति प्रकाशित होजाते हैं ॥ ५ ॥ संयम का उपयोग (लाभ) कहते हैं—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

सू० का प०—(तस्य) उस संयम को (भूमिषु विनियोगः) योगकी भूमियोंमें स्थिर किया जाता है ॥६॥

सू० का भा०—संयम की स्थिरता योग की भूमियों में क्रम से करनी चाहिये ॥ ६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः । न ह्यजिताधरभूमिनन्तरभूमिं विलंघ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः । ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः कस्मात्—तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात् भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः । कथम् एवं युक्तम्—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्त्तते ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरमिति ॥ ६ ॥

भा० का प०—पूर्वोक्त संयम की बीती हुई भूमि के अनन्तर जो भूमि है उसमें विनियोग किया जाता है नीचे की सीढ़ियों को क्रम से विना उल्लंघन किये प्रान्तभूमि में संयम प्राप्त नहीं होता बिना प्रान्तभूमि में संयम किये बुद्धि का प्रकाश कहाँ? और जिस योगी ने ईश्वर की कृपा से उत्तरभूमि को जीता है उसको नीची भूमि और परीक्षित ज्ञान में संयम करना युक्त नहीं है क्योंकि इस सीढ़ी के पश्चात् यह सीढ़ी है इसका बतानेवाला उन विषयों का योगी स्वयं ही जानता है योग ही उपाध्याय है। जैसा कि कहा है—योग को योग से जानना चाहिये, योग से योग प्राप्त होता है, जो योग में अप्रमत्त है वही योग से चिरकाल तक रमण करता है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—संयम का योग की भूमियों के द्वारा सिद्ध कर अर्थात् क्रमशः उसमें अभ्यास बढ़ाता जाय, इन सीढ़ियों को योगभूमि कहते हैं बिना प्रथमभूमि के सिद्ध किये द्वितीय में कोई नहीं जा सकता। ईश्वर की कृपा से जिनको उत्तरभूमियों में संयम प्राप्त हुआ है उन्हें अधोभूमि में संयम करने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनको भूमियों का परिज्ञान हो जाता है। योग से योग प्रवृत्त होता है, जो योग में सावधान रहता है वही योग में चिरकाल तक आनन्द भोगता है। तात्पर्य यह है कि योग की जो ४ कार्यविमुक्ति और ३ चित्तविमुक्ति सप्तभूमिका कही हैं उन्हीं में योगी को क्रमसे संयम करना चाहिये ॥ ६ ॥

भा० वृ०—तस्य संयमस्य भूमिषु स्थूलसूक्ष्मालम्बनभेदेन स्थितासु चित्तवृत्तिषु विनियोगः कर्तव्यः, अधरामधरां चित्तभूमिं जितां जितां ज्ञात्वोत्तरस्यां भूमौ संयमः कार्यः। न ह्यनात्मीकृताधरभूमिरुत्तरस्यां भूमौ संयमं कुर्वाणः फलभाग्भवति ॥ ६ ॥

साधनपादे योगाङ्गानि अष्टौ उद्दिश्य पञ्चानां लक्षणं विधाय

त्रयाणां कथं न कृतमित्याशंक्याह—

भो० वृ० का भा०—संयम का पूर्व कही भूमिकाओं मे अभ्यास करने से, स्थिर हुई जो चित्त की वृत्ति है उसमें विनियोग अर्थात् अनुष्ठान करना चाहिये अभिप्राय यह है कि प्रथम योग सम्बन्धिनी नीची चित्तभूमि मे पूरा अधिकार जमा के उससे ऊँची भूमि में संयम करना चाहिये। क्योंकि नीची भूमि में विना पूरा अधिकार प्राप्त किये जो ऊँची भूमि मे संयम करता है वह योग के फल को प्राप्त नहीं होता है ॥ ६ ॥

साधनपाद में योग के आठ अंकों का वर्णन करके पाँच के लक्षण कहे और तीन को क्यों छोड़ दिया? इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

सू० का प०—(त्रयम्) ध्यान, धारणा और समाधि (अन्तरंगम्) अन्तरंग हैं (पूर्वेभ्यः) पहिले यमादिकों से ॥ ७ ॥

सू० का भा०—यमादिकों की अपेक्षा ध्यान, धारणा और समाधि अन्तरंग हैं ॥ ७ ॥

व्या० दे० का भा०—तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरंगं सम्प्रज्ञातस्य समाधेःपूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति ॥ ७ ॥

भा० का प०—सो यह धारणा, ध्यान, समाधि तीनों अन्तरंग साधन हैं। सम्प्रज्ञात समाधि के पूर्वोक्त यमादिक पाँच साधनों से ॥ ७ ॥

भा० का भा०—धारणा, ध्यान समाधि, यह तीनों पूर्व कहे

सम्प्रज्ञात योग के यमादि पाँच साधनों से अन्तरंग साधन हैं, अर्थात् इनसे प्रत्यक्ष संप्रज्ञात योग की सिद्धि होती है ॥ ७ ॥

७ सू०—तात्पर्य यह है यमादि ५ अंग सम्प्रज्ञात योग के बहिरंग साधन हैं और धारणा, यह तीनों सम्प्रज्ञात योग के अन्तरंग साधन हैं ॥ ७ ॥

भो० वृ०—पूर्वेभ्यो यमादिभ्यो योगाङ्गेभ्यः पारम्पर्येण समाधेरुपकारकेभ्यो धारणादियोगाङ्गत्रयं संप्रज्ञातस्य समाधेरन्तरङ्गं समाधिस्वरूपनिष्पादकत्वात् ॥ ७ ॥

तस्यापि समाध्यन्तरापेक्षया बहिरङ्गत्वमाह—

भो० वृ० का भा०—पूर्व कहे यम आदि योग के अंग परम्परा अर्थात् हिंसादिवितर्कों को नाश करने से योग के सहायक हैं परन्तु धारणा आदिक तीन सम्प्रज्ञात समाधि में साक्षात् सहायक हैं इस कारण ये योगके अन्तरंग साधन हैं और यमादिक बहिरंग हैं ॥ ७ ॥

निर्बीज समाधि के ये भी बहिरंग हैं इस बात को अगले सूत्र में कहते हैं।

तदपि बहिरंग निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

सू० का प०—(तदपि) यह धारणादिक तीन भी (बहिरङ्गम्) बहिरंग साधन हैं (निर्बीजस्य) निर्बीज समाधि के ॥ ८ ॥

सू० का भा०—निर्बीज समाधि के ध्यानादिक भी बहिरंग साधन हैं ॥ ८ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तदप्यन्तरंगं साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरंगंभवति कस्मात्तदभावे भावादिति ॥८॥

अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणामः?

भा० का प०—पूर्वोक्त तीनों अन्तरंग साधन निर्बीज योग के बहिरंग होते हैं क्योंकि उनके बिना भी निर्बीज योग होता है ॥८॥

भा० का भा०—ध्यानादि असम्प्रज्ञात योग के बहिरंग साधन हैं, अन्तरंग नहीं ॥८॥

भो० वृ०—निर्वीजस्य निरालम्बनस्य शून्यभावनापरपर्यायस्य समाधेरेतदपि योगागत्रय बहिरंगं पारंपर्येणोपकारकत्वात्॥८॥

इदानी योगसिद्धिराख्यातुकामः संयमस्य विषयविशुद्धिं कर्त्तुं क्रमेण परिणामत्रयमाह—

भो० वृ० का भा०—जो समाधि शून्य के समान निरालम्ब वा निर्वीज (असम्प्रज्ञात) होती है उसके धारणादि तीनो बहिरंग साधन हैं क्योंकि ये भी परम्परासे उसके सहायक हैं ॥८॥

योग से जो सिद्धि प्राप्त होती हैं उनका वर्णन करनेके अभिप्राय से संयम के विषय को स्पष्ट करनेके निमित्त तीन प्रकार के परिणाद कहते हैं।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥९॥

सू० का पदा०—(व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः) चंचलता और एकाग्रता के संस्कारों का (अभिभवप्रादुर्भावौ) जो गुप्त और प्रकट होना (निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोध-

परिणामः) निरोधक्षण में जो चित्त का अन्वय उसे निरोधपरिणाम कहते हैं ॥९॥

सू० का भा०—व्युत्थानादिक चित्त की अवस्था और निरोध वृत्तियों के जो संस्कार उन संस्कारों का जो प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है उस क्षण में निरोध के अनुसार जो चित्त का परिणाम होता है उसे निरोधपरिणाम कहते हैं ॥९॥

व्या० दे० कृ० भा०—व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धा निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्मास्तयोरभिभवप्रादुर्भावौ व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते निरोधसंस्कारा आधीयन्ते । निरोधक्षणं चित्तमन्वेति तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

भा० का प०—व्युत्थानादिसंस्कार जो चित्तके धर्म हैं वे ज्ञानात्मक नहीं होते ज्ञान के निरोध में नहीं रुकते हैं अर्थात् परिणामी हैं निरोधसंस्कार भी चित्त के धर्म हैं व जब गुप्त वा प्रकट होते हैं तब व्युत्थान संस्कार नष्ट हो जाते हैं और निरोधसंस्कार धारण किये जाते हैं निरोध का अनुयायी चित्त को मान कर उस एक चित्तका प्रतिक्षण संस्कार विपर्यय निरोध का परिणाम है यह निरोधसमाधि में चित्तका व्याख्यान किया गया है ॥ ९ ॥

भा० का भा०—व्युत्थान संस्कार और निरोध संस्कार यह दोनों चित्त के धर्म हैं । व्युत्थान संस्कार अज्ञानरूप होता है जिस समय निरोध संस्कारों का उदय होता है उस समय व्युत्थान संस्कार अस्त हो जाता है निरोध क्षण में जो चित्त का परिणाम

होता है उसी संस्कारशेष चित्त को निरोधसंस्कृत चित्त कहते हैं ६

६ सू०—इस सूत्र का भावार्थ यह है कि यद्यपि चित्त का धर्म स्वाभाविक ही व्युत्थान अर्थात् चंचलता है तो भी जिस क्षण में व्युत्थान के धर्म्मों का तिरोभाव और निरोध के धर्म्मों का प्रादुप्रादुर्भाव होता है उस ही अवस्था को निरुद्धावस्था कहते हैं ॥६॥

भो० वृ०—व्युत्थानं क्षिप्तमूढं विक्षिप्ताख्यं भूमित्रयम्। निरोधः प्रकृष्टसत्वस्याङ्गितया चेतसः परिणामः। ताभ्यां व्युत्थाननिरोधाभ्यां यौ जनितौ संस्कारौ तयोर्यथाक्रममभिभवप्रादुर्भावौ यदा भवतः। अभिभवो न्यग्भुततया कार्य्यकरणासामर्थ्येनावस्थानम्। प्रादुर्भावो वर्त्तमानेऽध्वनि अभिव्यक्तरूपतया आविर्भावः। तदा निरोधक्षणे चित्तस्योभयलक्षणवृत्तित्वादन्वयो यः स निरोधपरिणाम उच्यते। अयमर्थः—यदा व्युत्थानसंस्काररूपो धर्म्मस्तिरोभूतो भवति, निरोध संस्काररूपश्च आविर्भवति, धर्म्मीरूपतया च चित्तमुभयान्वयित्वेऽपि निरोधात्मनावस्थितं प्रतीयते, तदा स निरोधपरिणामशब्देन व्यवह्रियते। चलत्वाद्गुणवृत्तस्य यद्यपि चेतसो निश्चलत्वं नास्ति तथापि एवंभूतः परिणामः स्थैर्य्यमुच्यते ॥ ६ ॥

तस्यैव फलमाह—

भो० वृ० का भा०—व्युत्थान शब्द से क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त इन तीन अवस्थाओं का ग्रहण होता है, निरोध शब्द से बुद्धि और चित्त के उत्तम परिणाम का ग्रहण होता है। इन दोनों व्युत्थान और निरोध से उत्पन्न हुए जो संस्कार उनके क्रम से अभिभव और प्रादुर्भाव जब होते हैं, अभिभव का अर्थ शिथिल होनेसे कार्य करनेमें असमर्थ होना है और प्रादुर्भाव का अर्थ यह है कि वर्त्तमान मार्ग में स्पष्ट रूप से प्रकाशित हो जाना, जब निरोध के लक्षण प्रकट होते हैं तब जो व्युत्थान से सम्बन्ध रहता है उसे निरोध परिणाम कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जब व्युत्थान के

संस्कार छिपते हैं और निरोध के संस्कार प्रकट होते हैं तब चित्त दोनों संस्कारों से युक्त होने पर भी निरोध स्वरूप भान पड़ता है चित्त की इस दशा का निरोधपरिणाम कहते हैं। यद्यपि चित्त गुणों के प्रभाव से कभी अचल नहीं होता तो भी निरोधपरिणाम चित्त का स्थिर भाव कहलाता है ॥ ९ ॥ निरोध परिणाम के फल को कहते हैं—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

सू०—का प०—(संस्कारात्) उत्तम संस्कारों से (तस्य) चित्त का (प्रशान्तवाहिता) शान्त प्रवाह होता है ॥ १० ॥

सू० का भा०—उत्तम संस्कारों से चित्त का शान्त प्रवाह होता है ॥ १० ॥

व्या० दे० कृ० भा०—निरोधसंस्कारान्निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति। तत् संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मसंस्कारोऽभिभूयत इति ॥ १० ॥

भा० का प०—निरोध संस्कार से निरोध संस्कारों के अभ्यास की पटुता की अपेक्षा चित्त की प्रशान्तवाहिता होती है निरोध संस्कार के मन्द होने पर व्युत्थान संस्कारों के द्वारा निरोधधर्म वाला संस्कार तिरोभूत अर्थात् दबा हुआ रहता है ॥ १० ॥

भा० का भा०—चित्त की वृत्तियों को निरोध करने वाले संस्कार के अभ्यास से चित्त की प्रशान्तवाहिता अर्थात् निर्मल-स्थिरता होती है और उसके पूर्व चित्तमें चञ्चलता रहती है ॥१०॥

भो० वृ०—तस्य चेतसो निरुक्तान्निरोधसंस्कारात् प्रशान्तवाहिता भवति । परिहृतविक्षेपतया । सदृशप्रवाहपरिणामि चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

निरोधपरिणाममभिधाय समाधिपरिणाममाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त की उक्त निरोधसंस्कार से प्रशान्तवाहिता अर्थात् विघ्न वा चञ्चलतारहित स्थिति होती है फलितार्थ यह है कि चित्त के विक्षेप दूर होजाने के कारण सदृश परिणाम प्रवाह वाला चित्त होजाता है ॥ १० ॥ निरोधपरिणाम का वर्णन करके समाधिपरिणाम का वर्णन करते हैं—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सू० का प०—(सर्वार्थतैकाग्रतयोः) सर्वार्थता अर्थात् अनेक विषयों के विचार से चंचल रहना और एकाग्रता का जो (क्षयोदयौ) क्षय और उदय होता है (चित्तस्य समाधिपरिणामः) वह चित्त की समाधि का परिणाम है ॥ ११ ॥

सू० का भा०—चित्त की सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का जो उदय है वह चित्त की समाधि का परिणाम है । फलितार्थ यह हुआ कि क्षिप्त अवस्था का त्याग देना और एकाग्रता का उदय होना यही समाधि का फल है ॥ ११ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—सर्वार्थता चित्तधर्मः । एकाग्रतापि चित्तधर्मः । सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः ।

एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः । तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तं, तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥११॥

भा० का प०—सर्वार्थता चित्त का गुण है और एकाग्रता भी चित्त का धर्म है। सर्वार्थता का अर्थात् विलीन होजाना और एकाग्रता का उदय अर्थात् प्रकट होना इन धर्मों से युक्त चित्त है पूर्वोक्त चित्त अपाय अर्थात् पुनः उत्पन्न होना तद्रूप दो धर्मों में प्राप्त हुआ स्थिर होता है यह चित्त की समाधि का परिणाम है ११

भा० का भा०—सर्वार्थता और एकाग्रता दोनों चित्त के धर्म हैं जब चित्त क्षिप्त और विक्षिप्त अवस्थाओं का त्याग कर एकाग्र अवस्था में स्थिर होता है तब यही समाधि का परिणाम है ॥११॥

भो० वृ०—सर्वार्थता चलत्वान्नानाविधार्थग्रहणं चित्तस्य विक्षेपो धर्म्मः एकस्मिन्नेवाऽऽलम्बने सदृशपरिणामितैकाग्रता सापि चित्तस्य धर्म्मः । तयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौ सर्वार्थतालक्षणस्य धर्मस्य प्रादुर्भावोऽभिव्यक्तिश्चित्तस्योद्रिक्ततयाऽन्वयितयाऽवस्थानं समाधिपरिणाम इत्युच्यते। पूर्वस्मात्परिणामादस्यायं विशेषः । तत्र संस्कारलक्षणयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ पूर्वस्य व्युत्थानसंस्काररूपस्य न्यग्भावः । उत्तरस्य निरोधसंस्काररूपस्योद्भवोऽनभिभूतत्वेनावस्थानम् । इह तु क्षयोदयाविति सर्वार्थतारूपस्य विक्षेपस्यात्यन्ततिरस्कारादनुत्पत्तिरतीतेऽध्वनि प्रवेशः क्षय एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्योद्भवो वर्तमानेऽध्वनि प्रकटत्वम् ॥ ११ ॥

तृतीयमेकाग्रतापरिणाममाह—

भा० पु० का भा०—चित्त के चंचल होने से अनेक विषयों को एक साथ ग्रहण करना सर्वार्थता कहलाती है और यही विक्षेप कहलाता है इससे विक्षेप चित्त का स्वभाव है एक ही विषय के

आलम्बन में रहना अर्थात् सदृशपरिणाम एकाग्रता वह भी चित्त का धर्म है इन दोनों धर्मों का क्रम से क्षय और उदय अर्थात् सर्वार्थता रूप धर्म का क्षय अत्यन्त तिरस्कार और एकाग्रता रूप धर्म का प्रादुर्भाव अर्थात् प्रकाशित होना चित्त के साथ स्थिर भाव से रहना समाधिपरिणाम कहाता है। पूर्वोक्त परिणाम से इस परिणाम में यही भेद है कि उसमें संस्कार और लक्षणा का तिरोभाव और प्रादुर्भाव होता है अर्थात् पहले व्युत्थान रूप संस्कार का तिरोभाव होता है पुनः निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव। और इस समाधि परिणाम में सर्वार्थता के अत्यन्त तिरस्कार से फिर उसका उत्पन्न न होना अर्थात् अतीत मार्ग मे प्रविष्ट होना और एकाग्रता रूप धर्म का उद्भव अर्थात् वर्त्तमान मार्ग मे वर्त्तना सिद्ध है ॥११॥

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ॥ १२ ॥

सू० का प०—(शान्तोदितौ) शान्त और उदित (तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्य) चित्त के समान ज्ञान हैं (एकाग्रतापरिणामः) यह एकाग्रता का परिणाम है ॥ १२ ॥

सू० का भा०—शान्त प्रत्यय और उदित प्रत्यय चित्त के समान ज्ञान हैं यही एकाग्रता का परिणाम है ॥ १२ ॥

व्या० भा०—समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शांत उत्तरस्तु सदृश उदितः समाधिचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैवसमाधि भ्रंशादिति स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

भा० प०—जिस योगीका चित्त सावधान होगया है उसका जो

प्रथम ज्ञान है उसे शान्त प्रत्यय कहते हैं। ऐसे ही उत्तर ज्ञान को उदित प्रत्यय कहते हैं। समाधिस्थ चित्त जब दोनों प्रत्ययोंसे युक्त होता है और समाधिके छूटन तक फिर वैसा ही हो जाता है उस उभ धर्म वाले चित्त की जो एकाग्रता है उसे एकाग्रता का परिणाम कहते हैं ॥ १२ ॥

भा० का भा०—चित्त के दो गुण हैं एक शान्तप्रत्यय और दूसरा उदित प्रत्यय। जब मनुष्य इन दोनों गुणों से संयुक्त होता है तब इसके चित्त की एकाग्रता होती है और यही एकाग्रता का परिणाम है ॥ १२ ॥

भो० वृ०—समाहितस्यैव चित्तस्यैकप्रत्ययो वृत्तिविशेषः। शान्तोऽतीतमध्वानं प्रविष्टः, अपरस्तूदितो वर्तमानेऽध्वनि स्फुरितः। द्वावपि समाहितचित्तत्वेन तुल्यावेकरूपालम्बनत्वेन सदृशौ प्रत्ययावुभयत्रापि समाहितस्यैव चित्तस्यान्वयित्वमावस्थानं, स एकाग्रतापरिणाम इत्युच्यते ॥ १२ ॥

चित्तपरिणामोक्त रूपमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—

भो० वृ० का भा०—सावधान चित्त की ही एकाग्र वृत्ति होती है, शान्त पूर्व बीते हुये मार्ग में प्रविष्ट होता है उदित वर्तमान मार्ग में लगा हुआ है परन्तु यह दोनों समान चित्त के होते हैं इस कारण दोनों समान हैं क्यों कि इन दोनों का आश्रय एक है इन दोनों में जो चित्तकी स्थिति होती है वह एकाग्रता परिणाम कहाता है ॥ १२ ॥

चित्त का परिणाम कहकर ऐसा ही परिणाम औरों में भी होता है। यही अगले सूत्र में कहेंगे—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

सू० का प०—(एतेन) पूर्वसूत्रोक्त उपाय से (भूतेन्द्रियेषु) इन्द्रियों में (धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः) धर्म्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम कहे गये हैं॥ १३ ॥

सू० का भा०—पूर्वोक्त चित्तपरिणाम के कथन से इन्द्रियो के जो धर्म्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम होते हैं उनका कथन भी समझना योग्य है॥ १३ ॥

व्या० कृ० भा०—एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्म्मलक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्म्मपरिणामो लक्षण-परिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः। तत्र व्युथान-निरोधयोर्धर्म्म योरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्म्मपरिणामः। लक्षणपरिणामश्च निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः। स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्म्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानलक्षणं प्रतिपन्नः। यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः। एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा। न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः।

तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तं वर्तमान-लक्षणं हित्वा धर्म्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम्। एषोऽस्य तृतीयोऽध्वा। न चानागतवर्तमानाभ्यां लक्षणा-भ्यां वियुक्तः। एवं पुनर्व्युत्थानमुपसंपद्यमानमनागतलक्षणं हित्वा धर्म्मत्वमनतिक्रान्तं वर्तमानलक्षणं प्रतिपन्नम्।

यश्चास्य स्वरूपाभिव्यक्तौ यस्यां व्यापारः। यतोऽस्य द्वितीयोऽध्वा यातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्त-मित्येवं पुनर्निरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति।

तथाऽवस्थापरिणामः। तत्र निरोधक्षणेषु निरोध-संस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इत्येष धर्माणामवस्थापरिणामः। तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां त्र्यध्वनां लक्षणैः परिणामो लक्षणानामप्यवस्था-भिः परिणाम इति एवं धर्म्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते चलञ्च गुणवृत्तम्। गुणस्वा-भाव्य तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति। एतेन भूतेन्द्रि-येषु धर्म्मधर्म्मिभेदात् त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः।

परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः धर्म्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो धर्मिविक्रियैवैषा धर्म्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति। तत्र धर्म्मस्य धर्मिणि वर्त्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागतवर्त्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति नतु द्रव्यान्यथात्वम्। यथा सुवर्णभा-जनस्य भित्त्वान्यथाक्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति अपर आह—धर्मानभ्यधिको धर्मी पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्। पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्ये-नैव परिवर्त्तेत, यद्यन्वयी स्यादित्ययमदोषः। कस्मात्? एकान्ततानभ्युपगमात् तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्व-प्रतिषेधात् अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य

सौक्ष्म्यं, सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति ।

लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः । तथाऽनागतोऽनागतलक्षणयुक्तो वर्त्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तस्तथा वर्त्तमानो वर्त्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त इति । यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवतीति । अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसंकरः प्राप्नोति परैर्दोषश्चोद्यत इति । तस्य परिहारधर्माणां धर्मत्वमसाध्यम् । सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यो न वर्त्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम् एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात् क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति ।

किञ्च त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति सम्भवः । क्रमेण तु स्वव्यञ्जकांजनस्य भावो भवेदेति । उक्तंच रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तते । तस्मादसङ्करः । यथा रागस्यैव क्वचित्समुदाचार इति न तदानीमन्यभावः, किंतु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः । तथा लक्षणस्येति । न धर्मी त्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वानस्ते लक्षिता अलक्षिताश्च तां तामवस्थां प्राप्नुवतोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्य तेऽवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः

यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चै
यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्व

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कैश्चि
कथम् अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वात् ॥ यद
स्वव्यापारं न करोति तदानागतो यदा करोति त
मानो यदा कृत्वा निवृत्तस्तदातीत इत्येवं धर्म्म
लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति
उच्यते। नासौ दोषः। कस्मात्? गुणी नित्य
गुणानां विमर्दवैचित्र्यात् ॥ यथा संस्थानमादिमद्ध
शब्दादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनामेवं लिङ्गमा
धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्य विनाशिनां त
विकारसंज्ञेति ॥

तत्रेदमुदाहरणं मृद्धर्मी पिण्डाकाराद्धर्माद्धर्मान्तर
सम्पद्यमानो धर्म्मतः परिणमते घटाकार इति ॥ घटाक
रोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्त्तमानलक्षणं प्रतिपद्यत इ
क्षणतः परिणमते। घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभव
अवस्थापरिणामं प्रतिपद्यते इति। धर्मिणोऽपि धर्मान्तर
मवस्था धर्म्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्थेत्येक एव द्रव्यपरि
णामो भेदेनोपदर्शित इति।

एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति। त एते धर्मलक्ष
णावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक ए

परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते। अथ कोऽयं परिणामः? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्म्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति॥ १२॥ तत्र—

भा० का प०—पूर्व कहे हुए चित्त के परिणाम से धर्म, लक्षण और अवस्था रूप से भूतेन्द्रिय अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियों में धर्म्म परिणाम लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम समझने योग्य हैं। इन तीनों मे से धर्मपरिणाम उसे कहते हैं जिसमें धर्म्मी अर्थात् इन्द्रियों मे व्युत्थान अर्थात् चञ्चलता और निरोध अर्थात् स्थिरता रूप दो धर्मों का तिरोभाव और प्रादुर्भाव होता है और लक्षण परिणाम वह है जिसमे इन्द्रियनिरोध तीन मार्गों से युक्त होता है वह निरोध प्रथम अनागत लक्षणवाले मार्ग को परित्याग कर गुणताको ग्रहण किये हुए वर्तमानलक्षण को प्राप्त होता है जिसमे अपने रूप का प्रकाश होता है यह चित्त का दूसरा मार्ग है जो कि अतीत और अनागत (भूत और भविष्य) के लक्षणों भिन्न नहीं है।

ऐसे ही व्युत्थान भी त्रिलक्षण अर्थात् तीन मार्गों से युक्त। वर्तमान लक्षण का त्याग कर धर्मभाव को ग्रहण किये हुए ीत अर्थात् भूत लक्षण को प्राप्त हुआ यह चित्त का तीसरा है। भविष्य और वर्त्तमानके लक्षणों से — नहीं है इसी से फिर चञ्चल [illegible] भविष्य [illegible] परित्याग

भाव [illegible] म होकर

[illegible] म चित्त के [illegible] होता

और [illegible] से

[illegible] वा

यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने ॥
यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति ।

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसंगदोषः कैश्चिदुक्तः ॥
कथम् अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वात् ॥ यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदानागतो यदा करोति तदा वर्तमानो यदा कृत्वा निवृत्तस्तदातीत इत्येवं धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते । नासौ दोषः । कस्मात् ? गुणी नित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात् ॥ यथा संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनामेवं लिङ्गमादिमद् धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्य विनाशिनां तस्मिन् विकारसंज्ञेति ॥

तत्रेदमुदाहरणं मृद्धर्मी पिण्डाकाराद्धर्माद्धर्मान्तरमुपसम्पद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति ॥ घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्तमानलक्षणं प्रतिपद्यत इति लक्षणतः परिणमते । घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यते इति । धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्थेत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति ।

एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति । त एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव

परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते । अथ कोऽयं परिणामः ? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति ॥ १३ ॥ तत्र—

भा० का प०—पूर्व कहे हुए चित्त के परिणाम से धर्म, लक्षण और अवस्था रूप से भूतेन्द्रिय अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियों में धर्म्म परिणाम लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम समझने योग्य हैं। इन तीनों मे से धर्मपरिणाम उसे कहते हैं जिसमें धर्म्मी अर्थात् इन्द्रियों मे व्युत्थान अर्थात् चञ्चलता और निरोध अर्थात् स्थिरता रूप दो धर्मों का तिरोभाव और प्रादुर्भाव होता है और लक्षण परिणाम वह है जिसमें इन्द्रियनिरोध तीन मार्गों से युक्त होता है वह निरोध प्रथम अनागत लक्षणवाले मार्ग को परित्याग कर गुणताको ग्रहण किये हुए वर्तमानलक्षण को प्राप्त होता है जिसमें अपने रूप का प्रकाश होता है यह चित्त का दूसरा मार्ग है जो कि अतीत और अनागत (भूत और भविष्य) के लक्षणो से भिन्न नहीं हैं।

ऐसे ही व्युत्थान भी त्रिलक्षण अर्थात् तीन मार्गों से युक्त हैं। वर्तमान लक्षण को त्याग कर धर्मभाव को ग्रहण किये हुए अतीत अर्थात् भूत लक्षण को प्राप्त हुआ यह चित्त का तीसरा मार्ग है। भविष्य और वर्त्तमानके लक्षणों से युक्त नहीं है इसी प्रकार से फिर चञ्चल हुआ चित्त भविष्य लक्षण को परित्याग करके धर्म भाव का ग्रहण किये हुए वर्तमान लक्षणको प्राप्त होकर जिस लक्षण मे चित्त के स्वरूप का प्रकाश होने से व्यवहृत होता है वह चित्त का दूसरा मार्ग है। जो भूत और भविष्यके लक्षणों से परित्यक्त नहीं होता है। इस रीति से चित्त की फिर एकाग्रता वा निरोध होता है (पुनः व्युत्थानमिति) और फिर चञ्चलता होती है।

इस ही रीतिसे अवस्था परिणाम है। अवस्था परिणाम में समयमें चित्तका निरोध होता है तब निरोधके संस्कार बलवान् होते हैं। व्युत्थान के संस्कार बलहीन होजाते हैं इस रीति से चित्त के धर्मों का अवस्था परिणाम है उस में धर्मी अर्थात् चित्त का इन धर्मों से परिणाम रूप तीन मार्ग के आश्रय वाले धर्म्मो का लक्षणों से परिणाम और लक्षणों का अवस्थाओं से परिणाम अर्थात् अवस्थान्तर होता है। इस रीति से धर्म, लक्षण और अवस्थारूप परिणामों से रहित क्षणमात्र भी चित्त नहीं रहता क्योंकि गुण की वृत्तियाँ स्थिर नहीं रहतीं गुणों का स्वभाव ही चित्त की प्रवृत्ति में कारण कहा है अतएव इन्द्रियों में धर्म और धर्म्मो के भेद से तीन प्रकार का परिणाम जानना चाहिये।

परमार्थ में तो एक ही परिणाम है क्योंकि धर्म्मी का स्वरूप मात्र ही धर्म है। धर्मी का विकार ही धर्म द्वारा कहा जाता अर्थात धर्मी के विकार को ही धर्म रूपसे कहते हैं धर्मस्य धर्मिणस्ये-वाध्वसु) धर्मी में वर्तमान जो धर्म है वही भूत भविष्य और वर्तमान कालों में अन्यभाव को प्राप्त होता है न कि धर्मी द्रव्य अर्थात गुणी में कुछ वैपरीत्य नहीं होता। जैसे सुवर्ण के पात्र को तोड़ कर दूसरी रीति का बनाने से केवल उसके भावको विकार होता है, नकि सुवर्ण रूप द्रव्य को।

कोई कहते हैं धर्म ही पदार्थ है क्योंकि उन्हीं से धर्मों की अभिव्यक्ति होती हैं। यदि धर्मों में मिलावट हो तो वे पूर्वापर अवस्था के भेद को प्राप्त होकर बदल जाँय ?

यह दोष नहीं है एकान्तता के न होने से। यदि चित्शक्ति के समान द्रव्य की भी नित्यता मानी जाय तो ये तीनों लोक व्यक्ति से रहित हो जाँय क्योंकि व्यक्ति में नित्यत्व नहीं है। जब व्यक्ति ही न रही तो फिर विनाश किसका ? इस दशा में यह जगत्

कारण में लीन होने से सदा सूक्ष्म और सूक्ष्म होने से अग्राह्य हो जाय। इसलिए धर्मी चिच्छक्ति के समान कूटस्थ नित्य नहीं है, किन्तु प्रवाह से नित्य परिणामी है।

लक्षणपरिणाम धर्म तीनों कालों में रहता है भूतलक्षण युक्त भविष्य और वर्तमान के लक्षणों से वियुक्त नहीं होता, भविष्य लक्षण युक्त वर्तमान और भूत के लक्षणों से वियुक्त नहीं होता। ऐसे ही वर्तमान लक्षणयुक्त भूत और भाविष्य के लक्षणों से युक्त नहीं होता है जैसे कोई पुरुष एक स्त्री में रक्त होकर औरों से विरक्त नहीं होता।

इस लक्षण परिणाम में सबमें सब लक्षणों का योग होने से तीनों मार्गों में संकरत्ता प्राप्त होती है।

दूसरे लोग दोषका उद्घाटन करते हैं उसका उत्तर यह धर्मोंका धर्म होना असाध्य है यदि धर्म का धर्म हो तो लक्षण का भेद कहना भी योग्य है वर्तमान काल में धर्मत्व नहीं होता इस रीति से चित्त रागधर्म वाला सिद्ध नहीं होगा क्योंकि क्रोध के समय मे राग समुदाय का आविर्भाव नहीं होता तीनों लक्षणों का एक समय में एक ही व्यक्ति में होना असम्भव है। क्रम से तो ये एक दूसरे के व्यंजक हो सकते हैं अन्यत्र भी लिखा है रूपातिशय और वृत्तिकी अधिकता ये परस्पर विरुद्ध हो सकते हैं और सामान्यतः अतिशयों से मिलकर रहते भी हैं इससे कहीं मार्गसंकर नहीं है जैसे राग ही का अधिकार होता है किन्तु उस राग का दूसरे स्थल में अभाव नहीं केवल सामान्य रूप से दूसरे स्थल में वह है इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय में राग का उस स्थल में सत्ता है ऐसे ही लक्षण की भी सत्ता है।

धर्मी तीन मार्गका नहीं है, किन्तु धर्मके ही तीन मार्ग हैं। व लक्षित और अलक्षित तीन अवस्थाओंको प्राप्त होवे हैं और

वही धम भिन्न २ नामों से कहे जाते हैं। किन्तु भिन्न २ अवस्थाओंसे, द्रव्यान्तरसे नहीं। जैसे एक ही रेखा शत के स्थान में शत, दश के स्थान में दश और एक स्थान में एक ही होती है। जैसे एक ही स्त्री माता पुत्री भगिनी कहलाती है। अवस्थाके परिणाममें कूटस्थता दोष आयगा यह कहा कहते हैं। मार्ग के व्यवहार से निरुद्ध होने से दोष कैसे होगा जब धर्म्म अपना कार्य्य नहीं करता तब वह अनागत है जब अपने कार्य्य को करता है तब वर्तमान है जब अपने कार्य्य को करके निवृत्त हो जाता है तब उसे अतीत कहते हैं। इस रीति से धर्म्म और धर्म्मी के लक्षण और अवस्थाओं का कूटस्थता प्राप्त होती है अन्य लोग दोष देते हैं। यह दोष नहीं आसकता। गुणोंके रहते भी गुणोंके विमर्दन अर्थात् प्रादुर्भाव और तिरोभाव की विचित्रता से जैसे संस्थान अर्थात् अपने स्वरूप से स्थिति, विनाशी और अविनाशी शब्दादि गुणों का पहिला धम है, ऐसे ही लिंग अर्थात् लक्षण विनाशी और अविनाशी सत्वादि गुणोंका पहला धर्म है उसमें ही विकार संज्ञा है।

उसमें यह उदाहरण है—मिट्टी पिण्ड के आकार से दूसरे घटादि धर्म को प्राप्त होकर मिट्टी धर्म से ही घटाकार में परिणत होती है। उसका घटाकार भविष्य लक्षण को त्याग कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त होता है। यह लक्षण का परिणाम प्रतिक्षण में नवीनता और प्राचीनता को प्राप्त होता हुआ घड़ा अवस्थारूप परिणाम को प्राप्त होता है। इसी रीति से धर्मी का धर्मान्तर अवस्था धम का भी लक्षणान्तर अवस्था है। किन्तु द्रव्य परिणाम एक ही है वो भेद से दिखलाया गया है। इस ही क्रम से अन्य पदार्थों में भी युक्त करना योग्य है। ये धम लक्षण और अवस्था के परिणाम धर्मी के स्वरूप को अतिक्रमण नहीं करते,

इसलिये एक ही परिणाम इन सब विशेषों मे प्रवाहित होता है। यह परिणाम क्या है? उपस्थित द्रव्य का पूर्वधर्म को त्यागकर अन्य धर्मको ग्रहण करना ही परिणाम है॥ १३॥

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में जो चित्त परिणाम का वर्णन किया था उससे इन्द्रियो में लक्षणपरिणाम, धर्म्म परिणाम और अवस्था परिणाम समझने योग्य हैं। उनमे से जिसमें चित्त का उत्थान और निरोध धर्मों का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है उसे धर्मपरिणाम कहते हैं। लक्षणपरिणाम तीन मार्ग युक्त होता है अर्थात् भूतलक्षण परिणाम, भविष्यलक्षणपरिणाम और वर्तमानलक्षणपरिणाम। भूतलक्षण परिणाम वह है कि जिसमे अनागत लक्षण को परित्याग करके केवल अतीत लक्षण का अनुसरण करता है। किन्तु अतीत लक्षण परिणाम अन्यपरिणामों से नितान्त भिन्न नहीं है, क्योंकि वर्तमानलक्षणपरिणाम, तथा अनागतलक्षणपरिणाम का अंश भी उसमें रहता है, इसी रीति से वर्तमानलक्षणपरिणाम और अनागतलक्षण परिणाम को भी समझना। इनका अभिप्राय यह है कि जब योगी का चित्त समाधि वा निरोध दशा को प्राप्त हो जाता है तब यदि फिर चञ्चलता को धारणकर ले तो उसकी कैसी दशा होगी? जो तीन प्रकार के परिणाम होते हैं उनमें से एक लक्षणपरिणाम भूत, भविष्य और वर्तमान लक्षणभेद से तीन प्रकार का है। वर्तमानपरिणाम का अभिप्राय यह है कि जिस दशा में योगी का चित्त परिणत हो उसी दशा में रहेगा, किन्तु अन्य दोनों परिणामों का धर्म भी उसके चित्त में बना रहेगा और लघूपाय से ही पुनः चित्त स्थिर हो जायगा। यदि फिर चित्त चञ्चलता को धारण करेगा तो अतीत लक्षणपरिणाम को प्राप्त होगा, यद्वा पुनरुत्थान में अनागतलक्षणपरिणाम को धारण करेगा। यद्वा योगाभ्यास से

जब उत्तम परिणाम को प्राप्त होगा तो प्रथम अतीतलक्षणपरिणाम को धारण करता है अर्थात् पूर्व के कुसंस्कार नष्ट हो जाते हैं। द्वितीय वर्तमान परिणाम है और इसके अनन्तर अनागतलक्षण परिणाम होता है। ऐसे ही धर्मपरिणाम तीन मार्गयुक्त होता है इसमें धर्मी में धर्म अर्थात् गुणों का परिणाम होता है इसमें धर्मी अर्थात् चित्त व्युत्थान धर्म को त्याग कर निरोध धर्म को धारण करता है। इसके अनन्तर अवस्थापरिणाम है इसमें जिस क्षण में निरोध संस्कारों का उदय होता है उसमें व्युत्थान संस्कारों का बल क्षीण हो जाता है इस रीति से धर्मी में धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम होते हैं किन्तु इन तीनों परिणामों से शून्य चित्त नहीं होता क्योंकि गुण कभी स्थायी नहीं रहते किन्तु पदार्थ में परिणाम एक ही है क्योंकि धर्म और धर्मी के भेद से यह सब प्रपञ्च होता है अर्थात् धर्म ही रूपान्तर को प्राप्त होता है जैसे सुवर्ण पात्र को तोड़ कर यदि कोई अन्य अलंकार बनाया जाय तो उस परिणाम से केवल पात्र का रूपान्तर होगा किन्तु सुवर्ण का रूपान्तर नहीं होगा। अब इसमें शंका होती है कि एकही व्यक्ति में भूत भविष्य और वर्तमान लक्षणों का होना असम्भव है। यदि सम्भव भी हो तो अध्वसंकरता दोष आयगा ?

इसका उत्तर यह है कि एक क्षण में सब परिणाम नहीं होते किन्तु यथाक्रम होने में कोई दोष नहीं है जैसे किसी व्यक्ति में राग होता है तो उससे यह नहीं कह सकते हैं कि इस मनुष्य में क्रोध नहीं है किन्तु राग और क्रोध एक समय में नहीं होते। जैसे एक मनुष्य किसी स्त्री में अनुरक्त होता है तो वह अन्य स्त्रियों में विरक्त नहीं होता किन्तु उस समय उस स्त्री में सव्यवृत्ति कहा जायगा। इससे उक्त परिणामों में संकरदोष नहीं आता। इस सब कथन का अभिप्राय यह है कि परिणाम केवल गुणी में होता है

किन्तु गुणों में नहीं। परिणाम का अर्थ है कि पूर्वगुण को परित्याग कर दूसरे गुण को धारण करना ॥ १३ ॥

भो० वृ०—एतेन त्रिविधेनोक्तेन चित्तपरिणामेन भुतेषु स्थूलसूक्ष्मेषु इन्द्रियेषु बुद्धिकर्मान्तः करणभेदेनावस्थितेषु धर्मलक्षणावस्थाभेदेन त्रिविधः परिणामो व्याख्यातोऽवगन्तव्यः। अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः धर्मपरिणामः। यथा—मृल्लक्षणस्य धर्मिणः पिण्डरूपधर्मपरित्यागेन घटरूपधर्मान्तरस्वीकारो धर्मपरिणाम इत्युच्यते। लक्षणपरिणामो यथा—तस्यैव घटस्यानागताध्वपरित्यागेन वर्तमानाध्वस्वीकारः। तत्परित्यागेन चातीताध्वपरिग्रहः। अवस्थापरिणामो यथा—तस्यैव घटस्य प्रथमद्वितीययोः सदृशयोः काललक्षयोरन्वयित्वेन। यतश्च गुणवृत्तिर्नापरिणममाना क्षणमप्यस्ति ॥ १३ ॥

ननु कोऽयं धर्मीत्याशंक्य धर्मिणो लक्षणमाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त सम्बन्धी तीन परिणामों के कहनेसे स्थूल भूत और सूक्ष्मभूत, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा अन्तः करण में धर्म, लक्षण और अवस्थाभेद से तीन प्रकार के परिणाम सिद्ध हुए समझने चाहिये। धर्मपरिणाम उसे कहते हैं जिसमें धर्मी तो यथास्थित रहे किन्तु पूर्व धर्म निवृत्त होकर उसमे दूसरे धर्म की उत्पत्ति हो जाय। जैसे मृत्तिका धर्मी है उसमें पिण्डरूप धर्म के निवृत्त होने से घट रूप धर्मान्तर की उत्पत्ति हो जाती है इसको ही धर्मपरिणाम कहते हैं। लक्षणपरिणाम का अर्थ यह है कि वही घडा जब अनागत अर्थात् भविष्य मार्ग को परित्याग करके वर्त्तमान मार्ग के ग्रहण करने को उद्यत होता है, उसे लक्षणपरिणाम कहते हैं इनके परित्याग से जो पुनः अपने पूर्वमार्ग (रूप) को ग्रहण करना है उसे अवस्थापरिणाम कहते हैं ॥ १३ ॥

अगले सुत्र में धर्मी के लक्षण कहते हैं—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥१४॥

सू० का पदा०—(शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी) शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्म से युक्त धर्मी होता है ॥ १४ ॥

सूत्र का भा०—शान्त उदित और अव्यपदेश्य धर्मों का धर्मी अनुसरण करता है ॥ १४ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः । स च फलप्रसवभेदानुमितसद्भावः । एकस्यान्योन्यश्च परिदृष्टः । तत्र वर्तमानः स्वव्यापारमनुभवन्धर्मी धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेश्येभ्यश्च भिद्यते यदा तु सामान्येन समन्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात् कोऽसौ केन भिद्येत ।

तत्र ये खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः सव्यापारा उदितास्ते चानागतस्य लक्षणस्य समनन्तरा वर्तमानस्यानन्तरा अतीताः किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः पूर्वपश्चिमताया अभावात् । यथानागतवर्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमतीतस्य । तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तरः तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्तमानस्येति ।

अथाव्यपदेश्याः के ? सर्वं सर्वात्मकमिति । यत्रोक्तम्—जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टम् ।

तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेष्वित्येवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति ।

देशकालाकारनिमित्तापबन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति । य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी । यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः । कस्मात् ? अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत्कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत् । तत्स्मृत्यभावश्च नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति। वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्मान्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते । तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति ॥ १४ ॥

भा० का प०—धर्मी की योग्यता के अनुसार जो शक्ति है उसी को धर्म कहते हैं और उस धर्म की सत्ता भिन्न २ फलों की उत्पत्ति से अनुमान की जाती है एक धर्म का सद्भाव दूसरों में दीखता है उनमें से वर्तमान धर्म अपने व्यापार का अनुभव करता हुआ अन्य शान्त और अव्यपदेश्य धर्मों से भिन्न हो जाता है और जब सामान्य भाव को प्राप्त होता है तब धर्मी स्वरूपमात्र होने से कौन और किससे भिन्न हो ?

उनमे जो धर्मी के धर्म शान्त, उदित और अव्यपदेश्य हैं इन तीनों धर्मों में से शान्त वे धर्म्म कहलाते हैं जो व्यापारों को करके निवृत्त हो गये हों और जो व्यापार से युक्त हैं वे उदित कहलाते हैं वे अनागतलक्षणपरिणाम के समीपवर्ती होते हैं और वर्तमान के सहचर अतीत होते हैं । भूत के अनन्तर वर्तमान क्यों नहीं होते ?

पूर्वता और पश्चिमता के अभाव से जैसे अनागत और वर्तमान की पूर्वपश्चिमता है वैसे अतीत को नहीं (तस्मादतीतस्यास्ति समनन्तरः) इसलिये अतीत की अनन्तरता नहीं है इससे अनागत ही वर्तमान का समनन्तर कहलाता है।

अव्यपदेश्य कितने और कौन हैं? सब सबके अन्तर्गत होते हैं जिसमें यह कहा जाता है जल और भूमि के परिणाम से उत्पन्न हुए रस आदि का विषम रूप स्थावरों में देखा गया है ऐसे ही स्थावरों का जंगमों में और जंगमों का स्थावरों में। इस रीति से जाति के अनुच्छेदसे सबका परस्पर सम्बन्ध है। देश काल और निमित्त के बन्धन से एक समय में प्रकाशित नहीं होते इन व्यस्त और प्रत्यक्ष धर्म्मों में जो अनुपतन करता है वह सामान्य और विशेष रूपसे धर्म्मी कहलाता है जिसका धर्म्म ही संबंधरहित है उसको भोग का अभाव है क्योंकि दूसरे के ज्ञान से किये कर्म्म का अन्य क्योंकर भोक्ता हो सकता है क्योंकि उसमें उसकी स्मृति का अभाव है अन्य के देखे हुए का दूसरे को स्मरण नहीं होसकता पदार्थों की प्रत्यभिज्ञा से धर्मी सिद्ध होता है जो धर्मों के परिणाम को प्राप्त होता भान होता है इस कारण से धर्म्ममात्र अन्वयरहित नहीं है ॥ १४ ॥

भा० का भा०—ये धर्म्म और धर्मी भिन्न २ फल की उत्पत्ति से जाने जाते हैं और सब धर्म अन्योन्याश्रय होते हैं जैसे वर्तमान धर्म अपने कार्य्यों को करता हुआ अव्यपदेश्य और शान्त धर्मों से परिवर्तित हो जाता है जब वर्तमान धर्म सामान्यरूप से रहता है तब उसमें धर्मी अर्थात् आत्मा अपने यथास्थित रूप रहता है। अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि जो परिवर्तित होता है उसका स्वरूप क्या है? और किससे वह परिवर्तित होता है। इसका उत्तर यह है कि शान्त धर्म वे कहलाते हैं जो अपने कार्य्योंको करके

निवृत्त हो गये हों और जिनका कार्य्य समाप्त न हुआ हो वे उदित कहलाते हैं एवं अव्यपदेश्य व्यापाररहित होते हैं अर्थात इनके व्यापार में कभी परिवर्त्तन नहीं होता। उदित धर्म अनागत के समीपवर्त्ती होते हैं क्योंकि वे अवश्यम्भावी होते हैं और वर्तमान के समनन्तर अर्थात् अवश्यम्भावी भूतधर्म होते हैं किन्तु अतीत के समनन्तर वर्तमान नहीं होते क्योंकि उनमें अवश्यम्भाविता (अर्थात् जरूर ही यह होंगे) नहीं होती। प्रश्न–अव्यपदेश्य कौन से धर्म्म हैं? उ०—जो धर्म सब चराचर मे पाये जाते हैं वे अव्यपदेश्य हैं जैसे जल और पृथिवी के पारिणामिक रसादि गुण सब स्थावर और जंगम में होते हैं और इन धर्मों में जो वर्तमान है वही सर्वान्वयी धर्मी आत्मा हैं अन्यथा अतीत धर्मों का स्मरण करना असम्भव होगा क्योंकि जिसने अपने ज्ञान से कर्म किया था वह जब कोई न होगा तब अन्य के कर्म का आश्रय एक धर्मी अवश्य ही मानना योग्य है इसमें यह भी सिद्ध हुआ कि कोई धर्म सम्बन्ध रहित नहीं है॥ १४॥

१४ सू०—इसका तात्पर्य यह है कि शान्त अर्थात् जिनका कार्य समाप्त हो गया ऐसे पीछे बीते हुए धर्म उदित अर्थात् जो इस समय वर्त्तमान हैं, अव्यपदेश्य अर्थात् जो शक्तिरूप से स्थित हैं इन तीनो प्रकार के धर्मों का जो धर्मी है उसे शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी कहते हैं॥ १४॥

भो० वृ०—शान्ता ये कृतस्वस्वव्यापारा अतीतेऽध्वनि अनुप्रविष्टाः उदिता येऽनागतमध्वानं परित्यज्यवर्त्तमानेऽध्वनि स्वव्यापारं कुर्वन्ति। अव्यपदेश्या ये शक्तिरूपेण स्थिता व्यपदेष्टु न शक्यन्ते तेषां यथास्व सर्वात्मकमित्येवमादयो नियतकार्य्य कारण रूपयोग्यतयावच्छिन्ना शक्तिरेवेह धर्मशब्देनाभिधीयते। तं त्रिविधमपि धर्मं योऽनुपतति अनुवर्त्ततेऽन्वयित्वे स्वीकरोति स

शान्तोदिताव्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मीत्युच्यते। यथा सुवर्णं रुचक-रूपधर्मपरित्यागेन स्वस्तिकरूपधर्मान्तरपरिग्रहे सुवर्णरूपतया परिवर्तमानं तेषु धर्मेषु कथञ्चिद्भिन्नेषु धर्मिरूपतया सामान्यात्मना धर्मरूपतया विशेषात्मना स्थितमन्वयित्वेनावभासते ॥ १४ ॥

एकस्य धर्मिणः कथमनेके धर्मा इत्याशङ्कामपनेतुमाह—

यो० सू० का भा०—शान्त उनको कहते हैं, जो अपने अपने कार्य्य को करके अतीत अर्थात् भूतमार्ग में प्रविष्ट हो चुके हैं न वे वर्तमान काल में कुछ करते हैं और न भविष्य में उनको कुछ कर्तव्य है। उदित उनको कहते हैं भविष्य मार्ग में अभी प्रविष्ट नहीं हुए और वर्तमान मार्ग में अपने व्यापार का कर रहे हैं। अव्यपदेश्य वे हैं जो शक्तिरूप से स्थित हैं जो व्यापार करने के योग्य नहीं हैं जैसे रक्खा हुआ धन होता है नियमित कार्य्यकारण रूप से संयुक्त शक्ति ही धर्म कहलाती है। इन तीनों धर्मों को जो ग्रहण करे शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी कहते हैं। जैसे सुवर्ण कड़े के आकार को परित्याग करके सामान्य और विशेष रूप से भी सोना ही प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

एक ही धर्मी का आधार क्योंकर हो सकता है इस शंका का उत्तर अगले सूत्र में दिया है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

पू० का पदा०—(क्रमान्यत्वम्) क्रम का परिवर्तन (परिणामान्यत्वे हेतुः) परिणाम के परिवर्तन में कारण है ॥ १५ ॥

सू० का भा०—बहुत परिणामों का हेतु क्रम का परिणाम है ॥१५॥

व्या० कृ० भाष्य—एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम

इति प्रसक्तेः क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति। तद्यथा—चूर्णमृत्पिण्डमृद्घटमृत्कपालमृत्कणमृदिति च क्रमः। यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्मपरिणामक्रमः। लक्षणपरिणामक्रमो घटस्यानागतभावाद्वर्त्तमानभावः क्रमः। तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावः क्रमः। नातीतस्यास्ति क्रमः। कस्मात्? पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वं तु नास्त्यतीतस्य। तस्मात् द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः। तथावस्थापरिणामक्रमोऽपि घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते। सा च क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेणाभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमापद्यत इति धर्मलक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽयं तृतीयपरिणाम इति। त एते क्रमा धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपाः। धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपापेक्षयेति। यदा तु परमार्थतो धर्मिण्यभेदोपचारद्वारेण स एवाभिधीयते धर्मस्तदायमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते। चित्तस्य ये धर्माः परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च। तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टा वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः। ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः।

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः॥"

अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रति-

एतये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते ॥ १५ ॥

भा० का प०—एक धर्मी का एक ही परिणाम होता है ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि धर्मों का अलग अलग परिणामों के अलग अलग का कारण है क्रमान्यत्व का अर्थ करते हैं जैसे मट्टी का पिण्ड। मट्टी का घड़ा, मट्टी का कपाल अर्थात् कपाल मट्टी का कण और मट्टी यह क्रम कहलाता है जो धर्म जिसके पश्चात् व्यव धान रहित होता है यह उसका क्रम है।

पिण्ड नष्ट होता है और घट उत्पन्न होता है यह धर्मपरिणाम का क्रम है। लक्षणपरिणाम का क्रम यह है—घट के अनागत से वर्तमानभाव का क्रम तथा पिण्ड के वर्तमानभाव से अतीत भाव का क्रम अतीत भाव का क्रम नहीं है। क्योंकि पूर्वता और परता के होने से अनन्तरत्व धर्म होता है। सो अतीत की पूर्वता और परता नहीं है। इसलिए दो ही लक्षणों का क्रम है। ऐसे ही अवस्थापरिणाम क्रम भी नवीन घट के किसी प्रान्त में पुराणता देखकर अनुमान किया जाता है, यह पुराणता क्षणिक क्रम से प्रकट होती हुई व्यक्तित्व को प्राप्त होती है। धर्मपरिणाम और लक्षणपरिणाम से भिन्न यह तीसरा परिणाम है।

ये क्रम धर्म और धर्मी का भेद होनेपर अवभासित होते हैं। अन्य धर्म की अपेक्षा से धर्म भी कहीं पर धर्मी हो जाता है। जब परमार्थ से धर्मी में भेद का उपचार नहीं होता तभी यह धर्म कह जाता है तब यह एक ही क्रम मालूम पड़ता है।

चित्त के दो धर्म हैं १—परिदृष्ट और २—अपरिदृष्ट। इनमें जो ज्ञानरूप होते हैं वे परिदृष्ट धर्म हैं और जो धर्म वस्तु मात्र ही हैं व अपरिदृष्ट धर्म कहलाते हैं। वे अपरिदृष्ट धर्म सात प्रकार के होते हैं जो अनुमान से प्राप्त हुई वस्तु के स्वभाव से जाने जाते हैं। निरोध धर्म संस्कार, परिणाम जीवन, चेष्टा, शक्ति, ये सात

ज्ञानरहित चित्त के धर्म हैं ॥ १५ ॥

इस हेतु से जिस योगी को योग के साधन प्राप्त हो गये हैं उसकी साधन भोगने की इच्छा को सिद्ध करने के वास्ते संयम का विषय कहते हैं—

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में यह शंका उत्पन्न होती है कि एक धर्मी का एक ही परिणाम होता है? अथवा सब परिणाम एक ही काल मे होते हैं? इस सूत्र में उसका समाधान करते हैं कि क्रम का अदल बदल परिणामों के परिवर्तन का हेतु है। जैसे प्रथम मिट्टी का चूर्ण होता है, उससे पिण्ड बनता है, पिण्ड से घड़ा फूट कर फिर कपाल होता है, कपाल से कणके और कणकों से फिर मिट्टी होती है। जो जिसका नियतपूर्ववर्त्ती होता है वह पूर्ववर्त्ती उत्तरवर्त्ती का क्रम कहलाता है। जैसे मिट्टी के पिण्ड अर्थात् लूंदा बेगडता है तब घड़ा बनता है। यह धर्मपरिणामक्रम और लक्षण परिणामक्रम है। घड़े का अनागतभाव से वर्तमानभाव क्रम कहलाता है और वर्तमानभाव से अतीतभाव क्रम कहा जाता है। किन्तु अतीतभाव का कोई भी क्रम नहीं है, क्योंकि क्रम को पूर्ववर्त्तिता अपेक्षित है इससे अनागत और वर्तमान का ही क्रम हो सकता है। ऐसे ही अवस्थापरिणाम समझना योग्य है अर्थात् घड़े मे जो नयापन और पुरानापन होता है वह क्षण मुहूर्त्तादि की परम्पराके क्रम से होता है यह जितने परिणाम हैं वे सब धर्म और धर्मी के भेद में ही हो सकते हैं, परन्तु अन्य धर्म का प्रतिधर्मी भी धर्म हो सकता है। वस्तुतः तो परिणाम एक ही है चित्त के दो धर्म हैं—एक परिदृष्ट और दूसरा अपरिदृष्ट। परिदृष्ट वह है जो केवल ज्ञानात्मक है और अपरिदृष्ट वस्तुमात्र ज्ञानशून्य है। वे अपरिदृष्ट सात प्रकार के हैं—निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति ये ज्ञानरहित चित्त के धर्म हैं ॥ १५ ॥

अब जिस योगी को योग के साधन प्राप्त हुए हैं उसको योग के सब साधन प्राप्ति की इच्छा से विषयों के त्याग का वर्णन करते हैं—

१५—सूत्र—इसका नाम क्रमवाद है, उक्त धर्मों जो बदल जाते हैं उसका कारण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् सूत्रकार ने इसमें दिया है कि उक्त परिणाम के बदल जाने का हेतु क्रम का परिणाम है अर्थात् जैसे मिट्टी का परिणाम मृत्पिण्ड मृत्पिण्डका परिणाम कपाल तथा कपालका परिणाम घड़ा होता है अर्थात् घड़ा मिट्टी का साक्षात् परिणाम नहीं है किन्तु उत्तर क्रिया क्रम परिणाम ही घड़े रूप महापरिणाम का हेतु है। ऐसेही प्रथम सूत्रमें कहे अतीतादि परिणाम का हेतु क्रमपरिणाम है, जगत् के जितने भाव हैं वे सब क्रम से बदलते रहते हैं। चित्त के सुख, दुःखादि जितने धर्म हैं वे भी इसी क्रम से बदलते रहते हैं ॥ १५ ॥

भो०वृ०—धर्माणामुक्तलक्षणानां यः क्रमस्तस्य यत् प्रतिक्षण-मन्यत्वं परिदृश्यमानं तत् परिणामस्योक्तलक्षणस्यान्यत्वे नाना विधत्वे हेतुर्लिङ्गं ज्ञापकं भवति। अयमर्थः। योऽयं नियतः क्रमो चूर्णमृत्पिण्डस्ततः कपालानि तेभ्यश्च घट इत्येवं क्रमरूपः परिदृश्यमानः परिणामस्यान्यत्वमावेदयति। तस्मिन्नेव धर्मिणि यो लक्षणपरिणामस्यावस्थापरिणामस्य च क्रमः सोऽपि अनेनैव न्यायेन परिणामान्यत्वे गमकोऽवगन्तव्यः। सर्व एव भावा नियते-नैव क्रमेण प्रतिक्षणं परिणममानाः परिदृश्यन्ते। अतः सिद्धं क्रमा-न्यत्वात् परिणामान्यत्वम्। सर्वेषां चित्तादीनां परिणममानानां केचिद्धर्माः प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यन्ते यथा सुखादयः संस्थानादयश्च। केचिच्चैकान्तानुमानगम्याः। यथाधर्मसंस्कारशक्तिप्रभृतयः। धर्मि-णश्चाभिन्नरूपतया सर्वत्रानुगमः ॥ १५ ॥

इदानीमुक्तस्य संयमस्य विषयप्रदर्शनद्वारेण सिद्धीः प्रतिपाद-

यितुमाह—

भो० वृ० का भा०—ऊपर जिनका वर्णन कर चुके हैं, उन धर्मों का जो क्रम है वह प्रतिक्षण बदलता दीखता है वही उस परिणाम के परिवर्त्तन का हेतु है जिसका पूर्व वर्णन कर चुके हैं अर्थात् धर्म्मपरिणाम से परिणामों का भेद जान पड़ता है। अभिप्राय यह है कि जो यह नियतक्रम है कि मट्टी के चूर्ण से पिण्ड होता है, उससे कपाल (खपरा) बनाया जाता है, कपाल से फिर घड़ा बन जाता है यह जो क्रम दीखता है यही दूसरे परिणाम का दिखाने वाला है, अर्थात् क्रम से ही मिट्टी घड़े के रूप में परिणत हो गई यह दूसरा परिणाम हुआ। जैसे यह धर्म्मपरिणाम का क्रम कहा ऐसे ही लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम का क्रम भी दूसरे परिणाम का हेतु समझना। सम्पूर्ण पदार्थ वा भाव क्रम से प्रतिक्षण परिणत होते दीखते हैं इससे सिद्ध हुआ कि क्रम से भेद होता है और वही भेद पदार्थों में अन्य परिणामों को उत्पन्न करता है समस्त चित्तादिक पदार्थ जो परिणाम को प्राप्त होते रहते हैं कोई धर्म्म प्रत्यक्ष पाये जाते हैं जैसे सुख और स्थिति प्रत्यक्ष परिणामी जान पड़ते हैं। कोई धर्म अनुमान से जाने जाते हैं। धर्म्म (गुणविशेष) संस्कार और शक्ति आदि परन्तु धर्म्मी का सर्वत्र सम्बन्ध रहता है॥ १५॥

आगे उक्त संयम के विषय (जिनमे संयम किया जाता है) और उसके फल अर्थात् सिद्धियों का वर्णन किया जायगा—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥१६॥

सू० का पदा०—(परिणामत्रयसंयमात्) उक्त ३ परिणामों के संयम से (अतीतानागतज्ञानम्) भूत और भविष्य का ज्ञान होता है॥ १६॥

सू० का भा०—३ परिणामों के संयम से भूत और भविष्य काल का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद्योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानं धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः । तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानं तेषु सम्पादयति ॥ १६ ॥

भा० का पदा०—धर्म परिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था परिणामों में संयम से योगियों को भूत और भविष्यकाल का ज्ञान होता है। संयम का लक्षण प्रथम लिख आये हैं कि ध्यान, धारणा और समाधि की एकता को संयम कहते हैं साक्षात् किये हुवे उक्त तीन परिणाम योगी में भूत और भविष्य के ज्ञान को सम्पादन करते हैं ॥ १६ ॥

भा० का भावा०—धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम और अवस्था-परिणाम के संयम से योगी को भूत और भविष्यकाल का ज्ञान होता है, संयम का अर्थ पूर्व ही लिख चुके हैं अर्थात् ध्यान, धारणा और समाधि के एक होने को संयम कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि उक्त परिणामों के संयम से भूत और भविष्य काल का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

१६ सू०—उपर्युक्त दोनों सूत्रों में लिखे परिणामों के संयम का फल अब आगे लिखते हैं—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम इन तीनों परिणामों में संयम करने से योगी का भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल का ज्ञान होता है अभिप्राय यह है कि योगी कर्मपरिणाम के तत्त्व को समझ कर जान जाता है कि अब ऐसी अवस्था मेरा की या अमुक मनुष्य की अथवा मेरी भविष्य में होनेवाली है। यदि योगी उक्त संयम से जान जाता है कि ऐसी

दशा होनेवाली है तो उसका प्रतीकार भी अर्थात् विघ्ननिवारण उचित उपायों से कर लेता है ॥

भो० वृ०–धर्मलक्षणावस्थाभेदेन यत्परिणामत्रयमुक्तं तत्र संयमात्तस्मिन विषये पूर्वोक्तसंयमस्य कारणादतीतानागतज्ञानं योगिनः समाधेराविर्भवति । इदमत्र तात्पर्य्यम् अस्मिन् धर्मिणि अयं धर्म इदं लक्षणमियमवस्था चानागतादध्वनः समेत्य वर्त्तमानेऽध्वनि स्व व्यापार विधायातीतमध्वानं प्रविशतीत्येवं परिहृतविक्षेपतया यदा संयम करोति तदा यत्किञ्चिदनुत्पन्नमतिक्रान्तं वा तत्सर्वं योगी जानाति । यतश्चित्तस्य शुद्धसत्त्वप्रकाशरूपत्वात्सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमविद्यादिभिर्विक्षेपैरपक्रियते । यदा तु तैस्तैरुपायैर्विक्षेपाः परिह्रियन्ते तदा निवृत्तमलस्येवाऽऽदर्शस्य सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमेकाग्रताबलादाविर्भवति ॥ १६ ॥

भो० वृ० का भा०–धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था परिणाम जो पूर्व कहे उनमें संयम करने से योगी को समाधि में भुत और भविष्यकाल का ज्ञान होता है इस सूत्र का तात्पर्य यह है इस धर्मी में वह धर्म रहता है इसका यह लक्षण है यह अवस्था है यह अनागत भाव को त्याग कर वर्त्तमान मार्ग में अपने कार्य को करने अपने पूर्वमार्ग अर्थात् उपादान कारण में जाने को उत्सुक है इन्हीं मार्गों में विघ्न रहित होकर सयम करने से योगी का अनुत्पन्न हुए और व्यतीत हुए सबका ज्ञान हो जाता है क्योंकि शुद्धचित्त हा जाने से सब विषयों को ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है और और अविद्यादि मल दूर हो जाते हैं तब मलरहित दर्पण के समान सब विषयों को ग्रहण करने की शक्ति चित्त में उत्पन्न हो जाती है ॥ १६ ॥

दूसरी सिद्धि का वर्णन करते हैं—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्र-विभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

सू० का पदा०—(शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरः) शब्द, अर्थ और ज्ञान के एक दूसरे में मिले रहने से संकर अर्थात् घनिष्ठ मेल है (तत्प्रविभाग संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्) उसके विभाग में संयम करने से सब प्राणियों की भाषों का ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

सू० का भाषा०—शब्द अर्थ और ज्ञान में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होने से शब्दसंकरता है और उनके विभाग में संयम करने से प्राणीमात्र की भाषा का ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तत्र वाग्वर्णेष्वेवार्थवती श्रोत्रञ्च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम् पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति वर्णा एकसमयासम्भवित्वात् परस्परनिरनुग्रहात्मानस्ते पदमसंस्पृश्यानुपस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकपदस्वरूपा उच्यन्ते वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यमिवापन्नः पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इत्येवं बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसंकेतेनावच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति तदेतेषामर्थसंकेतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं

वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते। तदेकं पदमेकबुद्धिविषय एकप्रयत्नाक्षिप्तमभागमक्रमवर्णं बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्सम्प्रतिपत्त्य प्रतीयते तस्य संकेतबुद्धितः प्रविभाग एतावतामेवं जातीयकोऽनुपसंहार एकस्यार्थस्य वाचक इति। संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको योऽयं शब्दः सोऽयमर्थो योऽयमर्थः स सोऽयं शब्द इति। एवमितरेतराध्यासस्वरूपः संकेतो भवतीति एवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात्सङ्कीर्णा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरितिज्ञानम् य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित्। सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिर्वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते। नसत्तापदार्थो व्यभिचरतीति तथा नह्यसाधना क्रियास्तीति तथाच पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपो नियमार्थोऽनुवादः कर्तृकरणकर्मणां चैत्राग्नितण्डुलानामिति दृष्टञ्च वाक्यार्थे पदरचनं श्रोत्रियश्छन्दोधीते, जीवति प्राणान् धारयति। तत्र वाक्येपदपदार्थाभिव्यक्तिस्ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं क्रियावाचकं कारकवाचकं वा अन्यथा भवत्यश्वोऽजापय इत्येवमादिषु नामाख्यातसारूप्यादनिर्ज्ञातं कथं क्रियायां कारके वा व्याक्रियेतेति तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः। तद्यथा—श्वेतते प्रासाद इति क्रियार्थः श्वेतः प्रासाद इति

कारकार्थः शब्दः क्रियाकारकात्मा तदर्थः
सोऽयमित्यभिसम्बन्धादेकाकार एव प्रत्य
यस्तु ख्वेतोऽर्थः शब्दप्रत्ययोरालम्बनीभू
मिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्दसहगतो न
एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इत्य
न्यथार्थोऽन्यथाप्रत्य इति विभागः । एवं
यमात्तु योगिनः सर्वभूतरुतज्ञानं सम्पद्यत इति

भा० का पदा०—शब्द, अर्थ और प्रत्यय के
अक्षरों में ही अर्थ युक्त होती है । कान तो केवल
नाम को ही ग्रहण करने वाले होते हैं नाद
विनाश होने से जो बुद्धि से ग्रहण किया जाता
है । अक्षरों का एक समय में उच्चारण होना
आपस में एक दूसरे के सहायक नहीं हैं और पदा
को स्पर्श कर स्थिर नहीं रहते अतएव वर्ण कभी
और कभी लुप्त हो जाते हैं । इसी कारण से एक २
सक्षा नहीं है । फिर एक २ वर्ण ही पद स्वरूप हैं ।
के प्रकाश करने की शक्ति से युक्त हैं क्योंकि अपन
अक्षर के समान धर्म्म से युक्त हैं । पूर्व वर्ण अगले स
अक्षर पिछले से विशेष अर्थ में स्थापित करता है
अक्षर के अर्थ का आभास अगले पर पड़ता है और
का आभास पिछले अक्षर के अर्थ को प्रकाशित कर
प्रकार से अनेक अक्षर क्रम के अनुसार अर्थ के सं
जाते हैं । गौः इस पद में ग् औ और और विसर्ग
से भरे अर्थात् स्वर वर्ण समुदाय के अर्थ को बोध

शक्ति से पूर्ण हैं। गौ के गले में जो मास लटकता है उसे सास्ना कहते हैं। ग्, औ और विसर्ग सास्ना युक्त अर्थ को प्रकाश करते हैं। अर्थ से युक्त अक्षरों का उपसंहार की ध्वनि के क्रम से जो बुद्धि का निर्भास अर्थात् प्रकाश है वही पद वाचक है और वाच्य का संकेत करता है। अब यह शङ्का होती है कि एक पद एक ही बुद्धि का विषय है, उससे सबको ज्ञान क्यों कर हो? वह संकेत भी एक ही के प्रयत्न से हुआ है दूसरे को बोध कराने की इच्छा से, कहे हुये अक्षरों से, सुने हुये अक्षरों से सुनने वालों के द्वारा वचन के व्यवहार की वासना से युक्त सासारिक बुद्धि के द्वारा सिद्ध के समान प्रतीत होता है। उसका संकेत बुद्धि से विभाग होता है। इतने शब्दों का अनु संहार एक अर्थ का बोधक है। यह सङ्केत पद और अर्थ के परस्पर अभ्यास से होता है। स्मृति रूप है अर्थात् शब्द का अर्थ जो प्रथम स्मृतिवृत्ति में आरूढ़ हो चुका है वही फिर वाणी के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। यह जो शब्द है वही अर्थ है, जो अर्थ है, वही शब्द है। इस रीति से शब्द और अर्थ दोनों परस्पर अध्यस्त-अर्थात् एक दूसरे से मिले हैं यही सङ्केत कहाता है। यह शब्द, अर्थ और ज्ञान एक दूसरे में भान होने से सङ्कीर्ण हैं। गौः यह शब्द गौ यह अर्थ, गौ यह ज्ञान (य एषां प्रविभागज्ञः) जो इनके विभाग को जाननेवाला है वह सबका जानने वाला है। सब पदों मे वाक्य शक्ति विद्यमान है, "वृक्षः" ऐसा कहने पर उसकी सत्ता का बोध होता है। कोई पदार्थ सत्ता अर्थात् भाव को त्याग नहीं करता है। ऐसे ही साधनहीन कोई क्रिया नहीं होती है जैसे "पकाता है।" ऐसा कहने पर सम्पूर्ण कारकों का अर्थात् कर्त्ता, करण और कर्म (चैत्र, अग्नि और तण्डुल) इन सब का अध्याहार हो जाता है। वाक्यार्थ मे पदों की रचना देखी जाती है "श्रोत्रियश्छन्दोऽधीयते" "जीवति प्राणान्धारयति" इन दोनों

कारकार्थः शब्दः क्रियाकारकात्मा तदर्थः प्रत्ययश्च कस्मात् सोऽयमित्यभिसम्बन्धादेकाकार एव प्रत्ययः संकेत इति यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्दसहगतो न बुद्धिसहगतः। एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इत्यन्यथा शब्दोऽन्यथाऽर्थोऽन्यथाप्रत्यय इति विभागः। एवं तत्प्रविभागसंयमाद् योगिनः सर्वभूतरुतज्ञानं सम्पद्यत इति ॥ १७ ॥

भा० का पदा०—शब्द, अर्थ और प्रत्यय के विचार में वाणी अक्षरों में ही अर्थ युक्त होती है। श्रवण तो केवल ध्वनि के परिणाम को ही ग्रहण करने वाला होते हैं मात्र अर्थात् ध्वनि के विनाश होने से जो बुद्धि से ग्रहण किया जाता है उसे पद कहते हैं। अक्षरों का एक समय में उच्चारण होना असम्भव है, वे आपस में एक दूसरे के सहायक नहीं हैं और परस्पर के सम्बन्ध को त्याग कर स्थिर नहीं रहते अर्थात् वर्ण कभी प्रकट होते हैं और कभी लुप्त हो जाते हैं। इसी कारण से एक २ वर्ण की पद संज्ञा नहीं है। फिर एक २ वर्ण ही पद स्वरूप हैं। सम्पूर्ण अर्थ के प्रकाश करने की शक्ति से युक्त हैं क्योंकि अपने समीप दूसरे अक्षर के समान धर्म से युक्त हैं। पूर्व वर्ण अगले से और अगला अक्षर पिछले से विशेष अर्थ में स्थापित करता है अर्थात् पिछले अक्षर के अर्थ का आभास अगले पर पड़ता है और अगले अक्षर का आभास पिछले अक्षर के अर्थ का प्रकाशित करता है। इस प्रकार से अनेक अक्षर क्रम के अनुसार अर्थ के संकेत से युक्त होते हैं। गौः इस पद में ग् औ और और विसर्ग सांकेतिक अर्थ से भरे अर्थात् उत्तर पद समुदाय के अर्थ का बोध कराने वाली

शक्ति से पूर्ण हैं। गौ के गले में जो मास लटकता है उसे सास्ना कहते हैं। ग्, औ और विसर्ग सास्ना युक्त अर्थ को प्रकाश करते हैं। अर्थ से युक्त अक्षरों का उपसंहार की ध्वनि के क्रम से जो बुद्धि का निर्भास अर्थात् प्रकाश है वही पद वाचक है और वाच्य का सकेत करता है। अब यह शङ्का होती है कि एक पद एक ही बुद्धि का विषय है, उससे सबको ज्ञान क्यों कर हो? वह संकेत भी एक ही के प्रयत्न से हुआ है दूसरे को बोध कराने की इच्छा से, कहे हुये अक्षरों से, सुने हुये अक्षरों से सुनने वालों के द्वारा वचन के व्यवहार की वासना से युक्त सासारिक बुद्धि के द्वारा सिद्ध के समान प्रतीत होता है। उसका सकेत बुद्धि से विभाग होता है। इतने शब्दों का अनु संहार एक अर्थ का बोधक है। यह सङ्केत पद और अर्थ के परस्पर अभ्यास से होता है। स्मृति रूप है अर्थात् शब्द का अर्थ जो प्रथम स्मृतिवृत्ति में आरूढ़ हो चुका है वही फिर वाणी के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। यह जो शब्द है वही अर्थ है, जो अर्थ है, वही शब्द है। इस रीति से शब्द और अर्थ दोनों परस्पर अध्यस्त-अर्थात् एक दूसरे से मिले हैं यही सङ्केत कहाता है। यह शब्द, अर्थ और ज्ञान एक दूसरे में भान होने से सङ्कीर्ण हैं। गौः यह शब्द गौ यह अर्थ, गौ यह ज्ञान (य एषा प्रविभागज्ञः) जो इनके बिभाग को जाननेवाला है वह सबका जानने वाला है। सब पदों मे वाक्य शक्ति विद्यमान है, "वृक्षः" ऐसा कहने पर उसकी सत्ता का बोध होता है। कोई पदार्थ सत्ता अर्थात् भाव को त्याग नहीं करता है। ऐसे ही साधनहीन कोई क्रिया नहीं होती है जैसे "पकाता है।" ऐसा कहने पर सम्पूर्ण कारकों का अर्थात कर्त्ता, करण और कर्म (चैत्र, अग्नि और तण्डुल) इन सब का अध्याहार हो जाता है। वाक्यार्थ में पदों की रचना देखी जाती है "श्रोत्रियश्छन्दोऽधीयते" "जीवति प्राणान्धारयति" इन दोनों

वाक्यों में जैसे पहिले वाक्य में "कुण्डोऽधीते" पद से बोध होता है वैसा ही केवल श्रोत्रिय पद से भी ज्ञान होता है। दूसरे वाक्य में "प्राणान् धारयति" इस वाक्य के स्थान में 'जीवति' पद का प्रयोग होता है, अतएव वाक्य में पद और पद के अर्थों का प्रकाश है अर्थात् वाक्य में कर्त्ता, कर्म्म और क्रिया आदि जुदे २ दीखते हैं उससे पद का विभाग करके प्रकट करना चाहिये कि यह पद क्रिया वाचक है वा कारकवाचक है। यदि ऐसा न होगा तो (भवति) शब्द के प्रयोग में यह ज्ञान न होगा कि यह क्रिया है वा स्त्री प्रत्ययान्त 'भवती' शब्द का सम्बोधन में ह्रस्वागत रूप है। इसी प्रकार 'अश्वः" घोड़ावाचक पुल्लिङ्ग प्रथमा विभक्ति के एक वचन का रूप है वा 'श्वस्' अव्ययका नञ् समासान्त रूप है। ऐसे ही "अजापयः" पद का अर्थ कारक मान के बकरी का दूध होता है और क्रिया मान के तू पहुँचा दे, वा जीत अर्थ होता है इत्यादि पदों में सुबन्त और तिङन्त का एक ही रूप होने से ठीक ज्ञान नहीं होता है। क्रिया में वा कारक में जैसे इनका निरूपण होगा उन शब्दार्थ प्रत्ययों का विभाग होना चाहिये जैसे अटारी सफेद हो रही है यह क्रियार्थक है रंग से सफेद अटारी है यह कारकार्थ पद है। शब्द क्रिया और कारक रूप है और प्रत्यय उसका अर्थ है। क्योंकि यह वही है इस सम्बन्ध से प्रत्यय सदा-कार ही प्रतीत होता है। जिसका स्वतत्त्व है वह शब्द और प्रत्यय के अधीन है क्योंकि वह अवस्थाओं के द्वारा विकार को प्राप्त हुआ न शब्द के साथ है, न बुद्धि के। शब्द भिन्न है, अर्थ भिन्न है प्रत्यय भिन्न है। यह विभाग है इस विभाग में संयम करने से वाणी को सब प्राणियों की ध्वनि का ज्ञान होता है॥ १७॥

भा० का भावा०—वाणी अक्षरों में ही अर्थयुक्त रहती है क्योंकि बिना अक्षर की योजना के किसी शब्द का अर्थ नहीं होता

है, कान केवल ध्वनि गुञ्जार को ग्रहण करते हैं और बुद्धि वर्णों के क्रम को ग्रहण करती है क्योंकि शब्द के अक्षर एक समय मे उत्पन्न नहीं हो सकते हैं वरन जब पहिला अक्षर अपने बोध को उत्पन्न करके नष्ट होजाता तब दूसरा अक्षर उत्पन्न होता है इसही प्रकार से प्रत्येक अक्षर का आविर्भाव होता है परन्तु अपने सहकारी अक्षर के धर्म से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे गोः शब्द में गकार, औकार और विसर्ग क्रम से उच्चारित होकर सास्नावाली व्यक्ति का बोध कराते हैं, इसमे वर्णों का उपसंहार, ध्वनि, क्रम और सङ्केत ही कारण है। जो शब्द दूसरे को ज्ञान उत्पन्न कराने की इच्छा से बोला जाता है उसके बोध में सङ्केत अनादिकाल से चला आता है। तात्पर्य यह है कि गौ शब्द, गौ अर्थ और गौ ज्ञान एक ही जान पड़ते हैं। हर एक शब्द में बोधक शक्ति होती है, साधनहीन कोई क्रिया नहीं होती है, जैसे पकाता है कहने से चैत्र कर्त्ता, अग्नि करण और चावल कर्म का अध्याहार होता है। कहीं वाक्य के स्थान मे एक पद का प्रयोग भी देखा जाता है, जैसे वेद पढता है इस वाक्यार्थ मे श्रोत्रिय पद का, प्राणों को धारण करता है, इस वाक्य के स्थान में जीवति पद का प्रयोग होता है। कहीं पर नाम और क्रिया में भी एकता जान पड़ती है। जैसे 'भवति' क्रिया भी है और 'भवती' शब्द का सम्बोधन में 'भवति' रूप होता है इत्यादि शब्दों के सकेत में जो संयम करता है वह सब प्राणियों के शब्दो को समझता है ॥ १७ ॥

१७ सू०—शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है और उसके वर्ण तथा अर्थों का क्रम भी नियत है, यदि स्फोटवाद की रीति से वर्णादि क्रमको न माना जाय तो यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि अमुक शब्द को अमुक अर्थ के बोध करने में शक्ति है। यद्यपि स्फोटवाद में अर्थ, जाति, गुण आदि शब्दार्थ ज्ञान में एक शब्द

का दूसरे शब्द में अध्यास रहता है इससे शब्द ज्ञान में संकर दोष आता है। जैसे किसी ने कहा कि गौ को लाओ, इस वाक्य को सुन के खुर और सींग युक्त पशु विशेष को ले आता है। परन्तु गौ का लाने वाले से यदि पूछा जाय कि गौ शब्द के ध्वन से क्या था अथवा न कहूं द्वारा तुम्हारे हृदय में प्रवेश करके तुम्हारे गौ विषयक ज्ञान को चैतन्य किया तो वह कुछ भी उत्तर नहीं दे सकता है इससे ही जाना जाता है कि शब्द के भागों का तथा उनके अर्थों का ज्ञान संसारी लोगों को नहीं है। अतएव योगी जब शब्द के भागों में संयम करता है तब उसे ज्ञान पड़ता है कि अमुक प्राणी ने अमुक शब्द का उच्चारण किया और उन शब्दों के अर्थों को भी योगी समझने लगता है।

भो० वृ०—शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो नियतक्रमवर्णात्मा नियत कार्थप्रतिपत्त्यवच्छिन्नः। यदि वा क्रमरहितः स्फोटात्मा शास्त्र संस्कृतबुद्धिग्राह्यः। उभयथापि पदरूपो वाक्यरूपश्च तयोरेकार्थ प्रतिपत्तौ सामर्थ्यात्। अर्थो जातिगुणक्रियादिः। प्रत्ययो ज्ञानं विषयाकारा बुद्धिवृत्तिः। एषां शब्दार्थज्ञानानां व्यवहारे इतरेतराध्या सात् भिन्नानामपि बुद्ध्येकरूपतासम्पादनात्संकीर्णत्वम्। तथा हि—गामानयेत्युक्ते कश्चित् गोलक्षणमर्थं गोत्वजात्यवच्छिन्नं सा- स्नादि मत्पिण्डरूपं शब्दञ्च तद्वाचकं ज्ञानञ्च तद्ग्राहकमभेदेनै वाध्यवस्यति। न त्वस्य गोशब्दो वाचकोऽयं गोशब्दस्य वाच्य स्तयोरिदं ग्राहकं ज्ञानमिति भेदेन व्यवहरति। तथाहि—कोऽयमर्थं कोऽयं शब्दः किमिदं ज्ञानमिति पृष्टः सर्वत्रैकरूपमेवोत्तरं ददाति गौरिति। स यद्येकरूपतां न प्रतिपद्येत। कथमेकरूपमुत्तरं प्रय च्छति ? एतस्मिन् स्थिते योऽयं प्रविभाग इदं शब्दस्य तत्त्वं यद्वा वाचकत्वं नाम। इदमर्थस्य यद्वाच्यत्वमिदं ज्ञानस्य यत् प्रकाशकत्व- मिति प्रविभागं विधाय तस्मिन् प्रविभागे यः संयमं करोति तस्य

सर्वेषा भूतानां मृगपक्षिसरीसृपादीना यद्रुतं यः शब्दस्तत्र ज्ञानमुत्पद्यतेऽनेनैवाभिप्रायेणैतेन प्राणिनाऽयं शब्दः समुच्चारित इति सर्वं जानाति ॥ १७ ॥

भो० वृ० का भा०—शब्द कर्ण इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य है और उसका क्रम तथा वर्ण नियत है और अर्थ ज्ञान भी उसका नियत है, यदि क्रम रहित स्फोटरूप शब्द को माना जाय और संस्कृत बुद्धि द्वारा उसका ग्रहण माना जाय तो भी (अर्थात् दोनों प्रकार से) पदरूप और वाक्यरूप दोनों को ही अर्थ बोधक शक्ति युक्त मानना होगा। अर्थ, जाति, गुण और क्रिया इनके ज्ञान में जो विषयरूपबुद्धि है वह एक ही है। इस कारण अर्थादिकों के भिन्न होने पर भी वह अर्थादिक सब एक रूप प्रतीत होते हैं। जैसे किसी ने कहा कि गौ को लाओ इस कहने से सुनने वाला गोत्वजातिविशिष्ट सास्ना वाली व्यक्ति जो गो शब्द का वाच्य है, उसका वाचक ज्ञान और उसकी ग्राहक वृत्ति इन सब को भिन्न २ ग्रहण नहीं करता है, अर्थात् सुनने वाला यह नहीं समझता है कि गौ शब्द वाचक है, यह व्यक्ति उसका वाच्य है और यह उसका ग्राहक ज्ञान है। यदि उससे पूछा जाय गो शब्द जो तुमने सुना उसका वाचक क्या है, वाच्य क्या है और ज्ञान क्या है तो वह गौ के अतिरिक्त और कुछ भी उत्तर नहीं दे सकता है। यदि शब्दादि तीनों एक रूप न होते तो एक ही उत्तर क्योंकर होता ? इस ही अभेद भाव में अर्थादि को भिन्न २ समझ कर अर्थात् शब्द मे जो वाचक शक्ति है, अर्थ में जो वाच्य शक्ति है और ज्ञान मे जो प्रकाशक शक्ति है इनमें भेद जान के जो भेद में संयम करता है उसको मृग, पक्षी और सरीसृप आदि प्राणियों की ध्वनि का ज्ञान होता है अर्थात् वह जान जाता है कि इस प्राणी ने इस अभिप्राय से यह ध्वनि की ॥ १७ ॥

आगे दूसरी सिद्धि का वर्णन करेंगे—

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

सू० का प०—(संस्कारसाक्षात्करणात्) संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से (पूर्वजातिज्ञानम्) पूर्वजन्म का ज्ञान होता है ॥ १८ ॥

सू० का भा०—संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है ॥ १८ ॥

व्या० भा०—द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपा विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः । ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः । तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः । न च देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम् । तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः । परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात् परजातिसंवेदनम् ।

अत्रेदमाख्यानं श्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद्दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभूत् । अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति । भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वा-

दनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनःपुनरुत्पद्यमानेन यत्किंचिदनुभूतं तत् सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि । भगवानावट्य उवाच—यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निःक्षिप्तमिति । भगवान्जैगीषव्य उवाच—विषयसुखापेक्षयै-वेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तम्कैवल्यसुखापेक्षया दुःखमेव । बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणः त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति दुःखरूपस्तृष्णातन्तुः । तृष्णा दुःखसन्तापापगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ।

भा० का प०—संस्कार दो प्रकार के होते हैं स्मृति और पंच क्लेशों के कारण एक वासनारूप संस्कार होते हैं और दूसरे संस्कार वे हैं जिनका कारण विपाक अर्थात् फल है और वे धर्माधर्म रूप होते हैं। ये संस्कार पूर्व जन्म के कर्मों के होते हैं। परिणाम, चेष्टा, शक्ति, जीवन, गुणों के समान चित्त के अप्रत्यक्ष धर्म हैं। उनमें संयम करने से योगी संस्कारों के प्रत्यक्ष करने मे समर्थ होता है। देश, काल, निमित्त और अनुभव के विना उनका साक्षात् नहीं होता। इस रीति से संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से योगी को पूर्व जन्म का ज्ञान होता है ऐसे ही पर जन्म का भी संस्कारों के प्रत्यक्ष अर्थात् स्मरण होने से परजन्म अर्थात् भविष्य जन्म का ज्ञान होता है।

इस विषय में यह इतिहास सुनते हैं भगवान् जैगीषव्य ऋषि को संस्कारों के प्रत्यक्ष करने से दश सृष्टियों में जन्म के परिणाम औ क्रम भली भाति प्रत्यक्ष करने से विवेक ज्ञान उत्पन्न हुआ

जिसमें कहा हुआ था ऐसे [illegible] के [illegible]
देखने में [illegible] किया, [illegible] जन्मों को [illegible]
उत्पन्न हुआ उसका मुझको [illegible] होता है [illegible]
जैगीषव्य ऋषि ने कहा कि मैंने [illegible] में [illegible]
धारण किये उन सब में मुझे दुःख ही दुःख [illegible]
हुआ. फिर आवट्य ऋषि ने प्रश्न किया कि सन्तोषवाले जो सुख
सुख कहे जाते हैं उनको आपने दुःख किस रीति से कहा है? जैगी-
षव्य ऋषिने इसका उत्तर दिया कि सन्तोषवाले जो सुख कहलाते हैं
वे केवल सांसारिक दुःख की अपेक्षा ही सुख हैं, किन्तु कैवल्य
सुख की अपेक्षा वे भी दुःख ही है। [illegible]
और सांसारिक विषयों में त्रिगुणात्मक ज्ञान भी होता है तृष्णा
दुःख रूप है। जब कि दुःख रूप तृष्णा योगी के चित्त से दूर हो
जाती है तब उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है तब योगी को परि-
चित का ज्ञान भी हो जाता है ॥ १८ ॥

भो० वृ०—द्विविधाश्चित्तस्य वासनारूपाः संस्काराः। केचित् स्मृतिमात्रोत्पादनफलाः केचित् जात्यायुर्भोगलक्षणविपाकहेतवः, यथा धर्माधर्माख्याः तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति, एवं मया सोऽर्थोऽनुभूत एवं मया सा क्रिया निष्पादितेति पूर्ववृत्तमनुसन्दधानो भावयन्नेव प्रबोधकमन्तरेण उद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं स्मरति। क्रमेण साक्षात् कृतेषु उद्बुद्धेषु संस्कारेषु पूर्वजन्मानुभूतान[illegible] [illegible] प्रत्यक्षेण पश्यति ॥ १८ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त [illegible] प्रकार
के होते हैं, कोई स्मृतिमात्र [illegible] भाग
और [illegible] हैं [illegible]
मे योगी

था । इसके अनन्तर भगवान् आवट्य ऋषिने जैगीषव्य से प्रश्न किया कि आप इन दश सृष्टियों में योग बल से बुद्धि और बल की स्थिर दशा में नरक, स्वर्ग और तिर्य्यक् आदि योनियों में देवता और मनुष्यादि शरीरों में भ्रमण करते रहे उन सब में आपने कौन से विशेष सुख और दुःख सहे उनका वर्णन कीजिये। उन आवट्य ऋषि से जैगीषव्य बोले कि दश सृष्टियों में बारबार जन्म लेकर योग बलसे अव्याहत ज्ञान और बुद्धि के द्वारा नरक स्वर्ग, देव और मनुष्यादि शरीरों में कुछ भोगा उस सबका मैं दुःख ही समझता हूँ। फिर आवट्य ऋषि बोले जो मनुष्य इन्द्रियों का निरोध करना और सन्तोष रूपी महोत्तम सुख है उसको भी आपने दुःख की श्रेणी में ही प्रविष्ट किया ? भगवान् जैगीषव्य ऋषि बोले सन्तोष को विषय सुख की अपेक्षा अनुत्तम सुख कहा जाता है, किन्तु कैवल्य सुख की अपेक्षा तो वह दुःख ही है। बुद्धि का धर्म तीन गुणयुक्त होता है और ज्ञान भी त्रिगुणात्मक होता है जो कि हेय अर्थात् सांसारिक विषय के पक्ष में नियुक्त है तृष्णा दुःख रूप है योगी को तृष्णा रूप दुःख प्रसन्नता युक्त होने से छोड़ देता है और सब के अनुकूल जो सुख है वह प्राप्त होता है।

भा० का भा०—पूर्व कर्म्म के दो प्रकार के संस्कार होते हैं—एक वासना रूप, दूसरे विपाक रूप। वासना रूप वे संस्कार कहलाते हैं जो पूर्व कर्मों के फल धर्म व अधर्म हैं। योगी को समाधि द्वारा जब वह संस्कार प्रत्यक्ष होते हैं तब उसे पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। जब योगी को पर संस्कारों का परिज्ञान होता है तब उसे पर जन्म का भी परिज्ञान होता है। इसमें एक दृष्टान्त है कि जैगीषव्य ऋषि को योगाभ्यास करते हुए दश कल्पों के जन्मों का स्मरण हुआ था उनसे एक समय आवट्य ऋषि ने यह प्रश्न किया था कि योग के प्रताप से आपकी बुद्धि और ज्ञान

विनष्ट नहीं हुआ था ऐसी ज्ञानमयी अवस्था में आपने अनेक योनियों मे गमनागमन किया, इनमें आपको जो सुख वा दुःख प्राप्त हुआ उसका मुझसे वर्णन कीजिये ? इस प्रश्न के उत्तर में जैगीषव्य ऋषि ने कहा कि मैंने इन दश कल्पों में जितने जन्म धारण किये उन सब में मुझे दुःख मिले सुख का लेश भी प्राप्त न हुआ, फिर आवट्य ऋषि ने प्रश्न किया कि सन्तोषादि जो पूर्ण सुख कहे जाते हैं उनको आपने दु.ख किस रीति से कहा ? जैगीषव्य ऋषिने इसका उत्तर दिया कि सन्तोषादि जो सुख कहलाते हैं वे केवल सांसारिक दुःख की अपेक्षा ही सुख हैं, किन्तु कैवल्य सुख की अपेक्षा वे भी दुःख ही हैं। जीव के धर्म त्रिगुणात्मक हैं और सासारिक विषयों में त्रिगुणात्मक ज्ञान भी होता है तृष्णा दुःख रूप है। जब कि दुःख रूप तृष्णा योगी के चित्त से दूर हो जाती है तब उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है तब योगी को परिचित का ज्ञान भी हो जाता है ॥ १८ ॥

भो० वृ०—द्विविधाश्चित्तस्य वासनारूपाः संस्काराः। केचित् स्मृतिमात्रोत्पादनफलाः केचित् जात्यायुर्भोगलक्षणविपाकहेतवः, यथाधर्मा धर्माख्याः तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति, एवं मया सोऽर्थोऽनुभूत एवं मया सा क्रिया निष्पादितेति पूर्ववृत्तमनुसन्दधानो भावयन्नेव प्रबोधकमन्तरेण उद्बुद्धसंस्कार' सर्वमतीतं स्मरति। क्रमेण साक्षात् कृतेषु उद्बुद्धेषु संस्कारेषु पूर्वजन्मानुभूतानपि जात्यादीन् प्रत्यक्षेण पश्यति ॥ १८ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त के वासना रूप संस्कार दो प्रकार के होते हैं, कोई स्मृतिमात्र से फल देते हैं और कोई जन्म, आयु और भोगरूप फल के हेतु हैं जैसे धर्म और अधर्म, इन सस्कारो मे योगी जब संयम करता है अर्थात् मैंने इस प्रकार से यह अनुभव

किया था वह कार्य किया था ऐसे पूर्व कार्यों को समाधि में विचारने से उसके ज्ञान का उदय होता है तब उसे मृत क्रियाओं का स्मरण होता है और क्रम से वह स्मरण बढ़ता बढ़ता है कि वह पूर्वजन्म के आत्मादि सब विषयों को जान जाता है।

अब और सिद्धि कहते हैं ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय में संयम करने से (पर चित्तज्ञानम्) दूसरों के मन की बात जानी जाती है ॥१९

सू० का प०—ज्ञान का संयम करने से दूसरों के मन की बात जानी जाती है ॥ १९ ॥

व्या० भा०—प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणा ततः परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

भा० का प०—प्रत्यय में संयम करने से अर्थात् ज्ञान का साक्षात्कार होने से परचित्त ज्ञान होता है ॥ १९ ॥

भा० का भा०—ज्ञान का साक्षात्कार होने से योगी दूसरों के मन की बात जान लेते हैं ॥ १९ ॥

भो० वृ०—प्रत्ययस्य परचित्तस्य केनचिन्मुखरागादिना लिंगेन गृहीतस्य यदा संयमं करोति तदा परकीयचित्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते सरागमस्य चित्तं विरागं वेति। परचित्तगतानपि धर्मान् जानातीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भो० वृ० का भा०—जब योगी मुखरागादि बाह्य चिह्नों के द्वारा दूसरों के भाव को जानने का अभ्यास करता है तब दूसरे का सराग व विराग परचित्त का ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् दूसरों के हृद्गत भावों को भी वह जान लेता है ॥ १९ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२०॥

सू० का पदार्थ—(तत्-सालम्बनम्) यह अवलम्बन सहित नहीं है (तस्य, अविषयीभूतत्वात्) उसके विषयीभूत न होने से ॥ २० ॥

सू० का भा०—वह परिचित ज्ञान अवलम्बन सहित नहीं है, क्योंकि योगी के चित्त में उसका केवल ज्ञान होता है, आलम्बन नहीं ॥ २० ॥

व्या० भा०—रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति । परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन नालम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्यालम्बनीभूतमिति ॥ २० ॥

भा० का प०—राग का ज्ञान होता है, पर किस आलम्बन मे राग है यह नहीं जानता । केवल परचित्त के भाव का ज्ञान उसको होता है, उसका आलम्बन क्या है, इससे उसे कुछ प्रयोजन नहीं ।

भो० वृ०—तस्य परस्य यच्चित्तं तत्सालम्बनं स्वकीयेनालम्बनेन सहितं न शक्यते ज्ञातु मालम्बनस्य केनचिल्लिङ्गेनाविषयीकृतत्वात् । लिङ्गाद्धि चित्तमात्रं परस्यावगतं न तु नीलविषयमस्य चित्तं पीतविषयमिति वा यच्च न गृहीतं तत्र संयमस्य कर्त्तुमशक्यत्वान्न भवति परचित्तस्य यो विषयस्तत्र ज्ञानम् । तस्मात्परकीयचित्तं नालम्बनसहितं गृह्यते, तस्यालम्बनस्यागृहीतत्वात् । चित्तधर्माः पुनर्गृह्यन्त एव । यदा तु किमनेनालम्बितमिति प्रणिधानं करोति तदा तत्संयमात्तद्विषयमपि ज्ञानमुत्पद्यत एव ॥ २० ॥

भो० वृ० का भा०—पर का जो चित्त है उसके आलम्बन को

किया या यह कार्य किया था ऐसे पूर्व कार्यों को समाधि में विचारने से उसके ज्ञान का उदय होता है तब उसे भूत क्रियाओं का स्मरण होता है और क्रम से वह स्मरण इतना बढ़ता है कि वह पूर्वजन्म के जात्यादि सब विषयों का ज्ञान आता है।

अब और सिद्धि कहते हैं ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय में संयम करने से (पर चित्तज्ञानम्) दूसरों के मन की बात जानी जाती है ॥१९

सू० का प०—ज्ञान का संयम करने से दूसरों के मन की बात जानी जाती है ॥ १९ ॥

व्या० भा०—प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणा त्ततः परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

भा० का प०—प्रत्यय में संयम करने से अर्थात् ज्ञान का साक्षात्कार होने से परचित्त ज्ञान होता है ॥ १९ ॥

भा० का भा०—ज्ञान का साक्षात्कार होने से योगी दूसरों के मन की बात जान लेते हैं ॥ १९ ॥

भो० वृ०—प्रत्ययस्य परचित्तस्य केनचिन्मुखरागादिना लिंगेन गृहीतस्य यदा संयमं करोति तदा परकीयचित्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते सरागमस्य चित्तविरागं वेत्ति। परचित्तगतानपि धर्मान् जानाती-त्यर्थः ॥ १९ ॥

भो० वृ० का भा०—जब योगी मुखरागादि बाह्य चिह्नों के द्वारा दूसरों के भाव को जानने का अभ्यास करता है, तब इसको सराग व विराग परचित्त का ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् दूसरों के हृद्गत भावों को भी यह जान लेता है ॥ १९ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२०॥

सू० का पदार्थ—(तत्-सालम्बनम्) यह अवलम्बन सहित नहीं है (तस्य, अविषयीभूतत्वात्) उसके विषयी-भूत न होने से ॥ २० ॥

सू० का भा०—वह परिचित ज्ञान अवलम्बन सहित नहीं है, क्योंकि योगी के चित्त में उसका केवल ज्ञान होता है, आलम्बन नहीं ॥ २० ॥

व्या० भा०—रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति । परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगि-चित्तेन नालम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्यालम्ब-नीभूतमिति ॥ २० ॥

भा० का प०—राग का ज्ञान होता है, पर किस आलम्बन में राग है यह नहीं जानता । केवल परचित्त के भाव का ज्ञान उसको होता है, उसका आलम्बन क्या है, इससे उसे कुछ प्रयोजन नहीं ।

भो० वृ०—तस्य परस्य यच्चित्तं तत्सालम्बनं स्वकीयेनालम्बनेन सहितं न शक्यते ज्ञातुमालम्बनस्य केनचिल्लिङ्गेनाविषयीकृतत्वात् । लिङ्गाद्धि चित्तमात्रं परस्यावगतं न तु नीलविषयमस्य चित्तं पीतविषयमिति वा यच्च न गृहीतं तत्र संयमस्य कर्त्तुमशक्यत्वान्न भवति परचित्तस्य यो विषयस्तत्र ज्ञानम् । तस्मात्परकीयचित्तं नालम्बनसहितं गृह्यते, तस्यालम्बनस्यागृहीतत्वात् । चित्तधर्माः पुनर्गृह्यन्त एव । यदा तु किमनेनालम्बितमिति प्रणिधानं करोति तदा तत्संयमात्तद्विषयमपि ज्ञानमुत्पद्यत एव ॥ २० ॥

भो० वृ० का भा०—पर का जो चित्त है उसके आलम्बन को

योगी प्रत्यक्ष नहीं करता। लिङ्ग से चित्त का ज्ञान मात्र होता है न कि उसके विषय का नील है या पीत है। जो प्रत्यक्ष ही नहीं होता उसमें संयम नहीं हो सकता। इस लिए परकीय चित्त निरालम्ब ही ग्रहण किया जाता है। अब यह इसका ध्यान करता है कि इसने किस विषय का आलम्बन किया है, तब आलम्बन के संयम से विषय का भी ज्ञान उसको होता है॥ २०॥

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्॥ २१॥

सू० का प०—(कायरूपसंयमात्) कायगत रूप के संयमसे (तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे) उसकी ग्राह्यशक्ति का स्तम्भ होने पर (चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगे) नेत्रके प्रकाश का संयोग न होने पर (अन्तर्धानम्) अन्तर्धान होता है॥

सू० का भा०—कायगत रूप में संयम करने से उसकी शक्ति का स्तम्भ होता है और शक्तिस्तम्भ होने से नेत्र के प्रकाश का संयोग नहीं होता और उससे योगी को अन्तर्धान सिद्ध होता है।२१

व्या० दे० का भा०—कायस्य रूपे संयमाद्रूपस्य या ग्राह्यशक्तिस्तां प्रतिष्टम्नाति ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः। एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम्॥ २१॥

भा० का पा०—काया के रूप में संयम करने से रूप की जो ग्राह्यशक्ति है उसका निरोध होता है। ग्राह्यशक्ति के स्तम्भ होनेपर नेत्रों में जो देखने का प्रकाश है उसके संयोग न होने से अन्तर्धान

अर्थात् दूसरे को न दिखाई देना उत्पन्न होता है। योगी का इससे शब्दान्तर्धान आदि पाँच प्रकार का अन्तर्धान समझना योग्य है।

भा० का भा०—जब योगी शरीर के रूप में संयम करता है तब उसके शरीर के रूप की ग्राह्यशक्ति स्तम्भित हो जाती है तब किसी के नेत्रों का प्रकाश उसके शरीर को स्पर्श नहीं कर सकता, इस कारण से योगी का शरीर अन्तर्हित हो जाता है॥ २१॥

विशेष—यह एक स्वाभाविक बात है कि नेत्र इन्द्रिय की शक्ति जब किसी कारण से प्रतिबद्ध हो जाती है तब उसको सम्मुख रक्खा पदार्थ भी नहीं दीखता। जैसे इन्द्रजाल का खेल करनेवाले लोग अनेक पदार्थों के संयोग और क्रियाकौशल से दर्शकों के नेत्रों को स्तम्भित कर देते हैं, ऐसे ही ऐन्द्रजालिक लोगों के परम गुरु योगियों का अन्तर्धान होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं है॥ २१॥

भो० वृ०—कायः शरीरं तस्य रूपं चक्षुर्ग्राह्यो गुणस्तस्मिन्न-स्त्यस्मिन्कायेरूपमिति संयमात्तस्य रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपा या शक्तिस्तस्याः स्तम्भे भावनावशात् प्रतिबन्धे चक्षुःप्रकाशासंयोगे चक्षुषःप्रकाशः सत्त्वधर्मस्तस्यासंयोगे तद्ग्रहणव्यापाराभावे योगि-नोऽन्तर्धानं भवति। न केनचिदसौ दृश्यत इत्यर्थः। एतेनरूपाद्य-न्तर्धानोपायप्रदर्शनेन शब्दादीनां श्रोत्रादिग्राह्याणामन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम्॥ २१॥

भो० वृ० का भा०—काया उस शरीर को कहते हैं, उसका रूप नेत्रों से ग्रहण करने योग्य एक गुण है। उस काया के रूप ज्ञान में जो संयम किया जाता है उससे नेत्रों की ग्रहण करनेवाली शक्ति का स्तम्भ हो जाता है अर्थात् नेत्र का प्रकाश रुक जाता है क्योंकि देखना मन का और बुद्धि का गुण है और उसके अभाव से योगी अन्तर्धान हो जाता है तब कोई भी योगी को नहीं देख सकता।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

सू० का प०—(सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म) सोपक्रम और निरुपक्रम जो दो प्रकार के कर्म (तत् संयमात्) उनमें संयम करने से (अपरान्तज्ञानम्) मृत्यु का ज्ञान होता है (वा अरिष्टेभ्यः) अथवा दुःखों से मृत्यु का ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

सू० का भा०—सोपक्रम और निरुपक्रम कर्मों में संयम कर से दुःखों से योगी को मृत्यु का ज्ञान होता ॥ २२ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं—सोपक्रमं निरुपक्रमं च । तत्र यथार्द्रं वस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम् । यथा च तदेव सम्पिण्डितम् । चिरेण संशुष्येद् एवं निरुपक्रमम् । यथा वाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम् । यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम् तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च । तत् संयमादपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानमरिष्टेभ्यो वेति । त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं चेति तत्राध्यात्मिकं घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति ।

तथाधिदैविकं स्वर्गमकस्मात् सिद्धान्वापश्यति विपरीतं वा सर्वमिति। अनेन वा जानात्यपरान्तं मरणमुपस्थितमिति ॥ २२ ॥

भा० का प०—आयु अर्थात् जीवन जिसका फल है वह कर्म दो प्रकार का है—सोपक्रम और निरुपक्रम। उन दोनों में जैसे जल जल से भीगे वस्त्र को निचोड कर फैलाने से बहुत ही थोडे काल में वस्त्र सूख जाता है ऐसे ही सोपक्रम कर्म बहुत शीघ्र फलजनक होता है और जैसे वही वस्त्र तह करके रख देने से अधिक समय में सूखता है ऐसे ही निरुपक्रम कर्म विलम्ब से अधिक समय मे फल देता है अथवा जैसे अग्नि सूखे तृण समूह में डालने और वायु की सहायता से शीघ्र दाहक हो जाता है ऐसे ही सोपक्रम शीघ्र फलदायक होता है। वही अग्नि तृण समूह के किसी भाग मे थोड़ी२ डालने से विलम्ब से जलावेगी ऐसे ही निरुपक्रम कर्म फल देता है। इस रीति से एक जन्म के दो प्रकार के कर्म होते हैं—एक सोपक्रम और दूसरे निरुपक्रम। उन कर्मों में संयम करने से अथवा अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान होता है। अरिष्ट तीन प्रकार का है—१ आध्यात्मिक, २—आधिभौतिक और ३—आधिदैविक। उनमे से आध्यात्मिक अरिष्ट उसे कहते हैं जिसमें कान बन्द करने से शरीर के भीतर शब्द सुनाई नहीं देता, नेत्रों के रुक जाने से शरीर के भीतर प्रकाश को नहीं देखता, आधिभौतिक अरिष्ट का लक्षण यह है कि यमके दूतों को और पितरोंको देखता है आधिदैविक अरिष्ट वह है कि जिसमे अचानक अधिक सुखवाले लोकों को सिद्धों को देखता है अथवा विपरीत सब पदार्थों को देखता है इससे जानता है कि मृत्युकाल समीप है ॥ २२ ॥

भा० का भा०—पहिले जन्मों में किये वह कर्म जिनसे वर्त्त-

साथ जन्म की आयु बनी है दो प्रकार के हैं—एक सोपक्रम दूसरे निरुपक्रम। सोपक्रम कर्म वे हैं जिनका फल वर्तमान समय में मनुष्य भोगता है। जैसे घाम में गीले वस्त्र पसारने से शीघ्र सूखते हैं और वही छाया में तह करके रखने से बहुत विलम्ब में सूखते हैं, इन्हीं दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करने से अर्थात् दृढ़ता के साथ यह चिन्तन करने से कि मेरे कर्म शीघ्र फल देने वाले हैं वा विलम्ब में फल देंगे ऐसा संयम करने से योगी को अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है। अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों से योगी को अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाता ॥ २२ ॥

भो० वृ०—आयुर्विपाकं यत्पूर्वकृतं कर्म तद्द्विप्रकारं सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च। तत्र सोपक्रमं यत् फलजननायोपक्रमेण कार्यकरणाभिमुख्येन सह वर्त्तते। यथोष्णप्रदेशे प्रसारितमार्द्रं वासः शीघ्रमेव शुष्यति। तद्विपरीतं निरुपक्रमं यथा तदेवार्द्रं वासः संवर्तितमनुष्णदेशे चिरेण शुष्यति। तस्मिन् द्विविधे कर्मणि यः संयमं करोति किं ममकर्म शीघ्रविपाकं चिरविपाकं वा एवं ध्यानदार्ढ्यादपरान्तज्ञानमस्योत्पद्यते। अपरान्तः शरीरवियोगस्तस्मिन् ज्ञानममुष्मिन् कालेऽमुष्मिन् देशे मम शरीरवियोगो भविष्यतीति निःसंशयं जानाति। अरिष्टेभ्यो वा। अरिष्टानि त्रिविधानि आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानि। तत्राऽऽध्यात्मिकानि पिहितकर्णः कोष्ठ्यस्य वायोर्घोषं न शृणोतीत्येवमादीनि। आधिभौतिकानि अकस्माद्विकृतपुरुषदर्शनादीनि। आधिदैविकानि अकाण्ड एव द्रष्टुमशक्यस्वर्गादिपदार्थदर्शनादीनि। तेभ्यः शरीरवियोगं जानाति। यद्यपि अयोगिनामप्यरिष्टेभ्यः प्रायश उत्पद्यते तथाऽपि तेषां सामान्याकारेण तत्संशयरूपं, योगिनां पुनर्नियतदेशकालतया प्रत्यक्षवदव्यभिचारि ॥ २२ ॥

परिकर्मनिष्पादिताः सिद्धीः प्रतिपादयितुमाह—

भो० वृ० का भा०—आयुका विपाक जो पूर्व किया हुआ कर्म है वह दो प्रकार का है एक सोपक्रम और दूसरा निरुपक्रम। सोपक्रम। सोपक्रम कर्म उन्हें कहते हैं जो वर्तमान कालमे फल देनेके वास्ते उद्यत हैं जैसे गर्मी भरे स्थानमे गीले (भीगे) वस्त्र को पसारने से शीघ्र सूखता है इससे विपरीत अर्थात् जो उल्टा है उसे निरुपक्रम कर्म्म कहते हैं। जैसे शीत प्रधान देश में रक्खा हुआ वस्त्र विलम्ब से सूखता है। इन दो प्रकार के कर्म्मों मे जो संयम करता है अर्थात् विचारता है कि मेरे कर्म शीघ्र फल देने वाले हैं वा विलम्ब से फल देने वाले हैं इस दृढ़ ध्यान से अपरान्त ज्ञान उत्पन्न होता है। अपरान्त मरने को कहते हैं अर्थात् योगी निश्चय पूर्वक जान जाता है कि अमुक समय में और अमुक देश में मेरा मरण होगा अथवा तीन प्रकार के दुःखों से जो ज्ञान छिपा हुआ है वह प्रकाशित हो जाता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक यही तीन प्रकार के दुःख हैं, इन में से आध्यात्मिक दुःख द्वारा अन्तःकरण घिरा रहता है इस कारण अन्तर्गत वायु का शब्द सुनाई नहीं देता है उस दुःख के दूर होने से वह शब्द सुन पड़ता है। आधिदैविक दुःख से भयङ्कर पुरुष का दर्शन होता है। आधिभौतिक दुःख से अकाल में स्वर्गादि का दर्शन होता है उससे अपनी मृत्यु का समय जाना जाता है यद्यपि यह बात अयोगी को भी होती है किंतु अयोगी को नियत ज्ञान नहीं होता अर्थात् उस ज्ञान मे संशय बना रहता है और योगी को निश्चय पूर्वक देश, काल का प्रत्यक्ष के समान ज्ञान हो जाता ॥ २२ ॥ कर्मों का वर्णन किया, आगे सिद्धियों का वर्णन करेंगे।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

सू० का प०—(मैत्र्यादिषु) मैत्री आदि में संयम करने से (बलानि) बल प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

सू० का भा०—मैत्री, मुदिता और करुणा में संयम करने से बल की वृद्धि होती है ॥ २३ ॥

व्या० भा०—मैत्री करुणा मुदितेति तिस्रो भावनास्तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते। दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते। पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते। भावनातः समाधिर्यः स संयमस्ततो बलान्यवन्ध्यवीर्याणि जायन्ते। पापशीलेषूपेक्षा नतु भावना। ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरिति अतो न बलमुपेक्षातस्तत्र संयमाभावादिति ॥ २३ ॥

भा० का प०—मैत्री, मुदिता और करुणा यह ३ प्रकार की भावना हैं इनमें से सुखी प्राणियों में मित्रता की भावना करके मित्रता के बल को पाता है दुःखी प्राणियों में करुणा अर्थात् दया की भावना करने से दया बल को पाता है धर्मात्माओं में प्रसन्नता की भावना करने से मुदिता बल को पाता है भावना से समाधि होती है समाधि से संयम बल प्राप्त होता है अनिवार्य्य बल होते हैं अर्थात् इन शक्तियों का कोई प्रतिबन्ध नहीं कर सकता पाप करने का स्वभाव है जिनका उनमें त्याग होता है इससे उनमें भावना नहीं होती इस हेतु से उपेक्षा में समाधि भी नहीं होती इस ही कारण से उपेक्षा का बल भी नहीं होता क्योंकि उसमें संयम होना असम्भव है ॥ २३ ॥

भा० का भा०—पूर्व कही हुई मैत्री, मुदिता और करुणा, भावनाओं में संयम करने से मैत्रीबल, करुणाबल और मुदिता बल की वृद्धि होती है अर्थात् जब योगी सब सुखी प्राणियों को अपना मित्र समझता है तब उसको भी सब अपना मित्र समझने लगते है, जब योगी दुःखी प्राणियों पर कृपा करता है तब उस पर भी सब कृपालु होते हैं और जब योगी मुदिता में संयम करता है अर्थात् पुण्यशीलो को देखकर प्रसन्न होता है तब उसको भी देख कर सब प्रसन्न होते हैं। अब यहाँ पर शंका होती है कि पूर्वपाद में ४ प्रकार की भावना कही थीं किन्तु इस सूत्र मे उपेक्षा का परित्याग क्यों किया इसका उत्तर भाष्यकार यह देते हैं कि पापी लोगों की जो उपेक्षा अर्थात् त्याग किया जाता है इससे उपेक्षा भावना नहीं कहला सकती इससे उसमें समाधि ही नहीं हो सकती और समाधि के अभाव से उसमें संयम भी नहीं हो सकता और जब सयम ही न हुआ तो उसका बल कैसे हो सकता है॥ २३॥

भो० वृ०—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षासु यो विहितः संयमस्तस्य बलानि मैत्र्यादीना सम्बन्धीनि प्रादुर्भवन्ति। मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षास्तथाऽस्य प्रकर्षं गच्छन्ति यथा सर्वस्य मित्रत्वादिकमर्थं प्रतिपद्यते॥ २३॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—मैत्री, करुणा मुदिता और उपेक्षा मे जो संयम किया जाता है उससे मैत्री आदि का बल प्राप्त होता है अर्थात् योगी की मैत्री आदि वृद्धि को प्राप्त होती हैं जिससे योगी सबका मित्र बन जाता है॥ २३॥

आगे दूसरी सिद्धि कहते हैं—

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

सू० का पदा०—(बलेषु) बलों में संयम करने से (हस्तिबलादीनि) हस्तिबलादि प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

सू० का भा०—योगी जिसके बल में संयम करता है उसी के समान योगी को बल प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—हस्तिबले संयमाद्धस्तिबलो भवति । वैनतेयबले संयमाद्वैनतेयबलो भवति । वायुबले संयमाद्वायुबलो भवतीत्येवमादि ॥ २४ ॥

भा० का भावा०—हस्ती के बल में संयम करने से हस्ती के समान बलवाला होता है, बलवान् पक्षियों के बल में संयम करने से उनके समान बलवान होता है वायु के बल में संयम करने से वायु के समान बलवान होता है इत्यादि अन्य बल भी ऐसे ही समझने ॥ २४ ॥

भा० का भावा०—योगी समाधि समय में जिसके बल में संयम करेगा उसके समान ही बलवान हो जायगा ॥ २४ ॥

२४सू०—योगी का या बल वृद्धि आदि सिद्धि प्राप्त होती है इसमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दिया जा सकता है क्योंकि चिकित्सा शास्त्र ज्योतिष और योगविषय ऐसे नहीं है जिनमें शास्त्रप्रमाण पर विश्वास करके श्रद्धा कर ली जाय परन्तु यह सब विषय ऐसे हैं कि जिन पर बिना प्रत्यक्ष देखे कदापि विश्वास न करना चाहिये क्योंकि यदि किसी मूर्ख वैद्य के वचन पर विश्वास करके कोई अहितकारी औषधि खाले तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है । ऐसे ही किसी कपट योगी के कहने से यदि अयुक्ति के प्राणों का निरोध कर बैठे तो मनुष्य के प्राण नाश में कोई सन्देह नहीं रहता

है। इससे जो योगी योग क्रिया में व्युत्पन्न और सुचतुर हो उसही की बात पर विश्वास करके योग की सिद्धियों को प्रत्यक्ष करके देखना चाहिये। तब ही इन सिद्धियों का मनुष्य पूरा पता पा सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २४ ॥

भो० वृ०—हस्त्यादिसम्बन्धिषु बलेषु कृतसंयमस्य तद्बलानि हस्त्यादिबलानि आविर्भवन्ति । तदयमर्थः—यस्मिन् हस्तिबले वायुवेगे सिंहवीर्य्ये वा तन्मयीभावेनायं संयमं करोति तत्तत्सामर्थ्ययुक्तं सत्वमस्य प्रादुर्भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—हस्ती आदि के बल मे संयम करने से हस्ती आदि का बल प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि हाथी के बल, वायु वेग वा सिंहवीर्य्य में तन्मयभाव से जब योगी संयम करता है तब योगी के प्राण भी वैसे ही बल युक्त हो जाते हैं ॥२४॥

और सिद्धि कहते हैं—

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

सू० का पदा०—(प्रवृत्त्यालोकन्यासात्) प्रवृत्तिका जो आलोक अर्थात् प्रकाश उसके न्यास अर्थात् ज्ञान के संयोग करने से (सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्) सूक्ष्म, गुप्त और उत्तम अर्थों का ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

सू० का भा०—पूर्वोक्त ज्योतिष्मती प्रवृत्ति को प्रकाश संयुक्त करने से योगी सूक्ष्म, व्यवहित और उत्तमोत्तम अर्थों को जान सकता है ॥ २५ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता

मनसस्तस्यापमालोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्र कृष्टे वार्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥ २५ ॥

भा० का पदा०—पूर्वपाद में जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति मन की कही थी उसका जो प्रकाश उसको योगी सूक्ष्म, गुप्त वा व्यवधायक अर्थ में लगा कर उस अर्थ को जान लेता है ॥ २५ ॥

भा० का भावा०—पूर्वपाद में मन की जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कही है उसको ज्योति के अर्थों के साथ सम्बन्ध करने से योगी सब प्रकार के अर्थों को जान लेता है ॥ २५ ॥

भो० वृ०—प्रवृत्तिर्विषयवती ज्योतिष्मती च प्रागुक्ता तस्या योऽसावालोकः सात्त्विकप्रकाशप्रसरस्तस्य निखिलेषु विषयेषु न्यासात् तद्वासितानां विषयाणां भावनातोऽन्तःकरणेषु इन्द्रियेषु च प्रकृष्टशक्तिमापन्न षु सूक्ष्मस्य परमाण्वादेर्व्यवहितस्य भूम्यन्तर्गत स्यनिधानादेर्विप्रकृष्टस्य मेरुपरपार्श्ववर्तिनोरसायनादेर्ज्ञानमुत्पद्यते।२५।

एतत् समानवृत्तान्तं सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—ज्योतिष्मती और विषयवती जो प्रवृत्ति पहिले कहीं थीं उनसे जो सात्त्विक प्रकाश फैलता है उस प्रकाश से जो सम्पूर्ण विषय प्रकाशित होते हैं उनमें संयम करने से योगी की इन्द्रियाँ शुद्ध और बलवान् हो जाती हैं इस कारण अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु आदि भूमि के भीतर जो छिपे हुए पदार्थ हैं और बड़े पदार्थ मेरु पर्वत से परलीपार जो रसायन आदि देश हैं इन सबका ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

और भी सिद्धि कहते हैं—

भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सू० का पदा०—(सूर्य्ये संयमात्) सूर्य्य में संयम

करने से (भुवनज्ञानम्) जगत् का यथार्थ ज्ञान होता ॥ २६ ॥

सू० का भा०—सूर्य्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तत् प्रस्तारः सप्त लोकाः। तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोकः। मेरुपृष्ठादारभ्यआध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः। ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः। चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः। त्रिविधो ब्राह्मः। तद्यथा—जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः ॥इति॥

संग्रह श्लोकः। तत्रावीचेरुपर्य्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमः प्रतिष्ठाः महाकालाम्बरीषरौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः। यत्र स्वकर्म्मोपार्ज्जित दुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते ततो महातलरसातलातलसुतलवितलातलपातालाख्यानि सप्तपातालानि भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः। तस्य राजतवैदूर्य्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि। तत्र वैदूर्य्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः श्वेतः पूर्वः स्वच्छः

मनसस्तस्यायमालोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वार्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥ २५ ॥

भा० का पदा०—पूर्वपाद में जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति मन की कही थी उसका जो प्रकाश उसको योगी सूक्ष्म, गुप्त वा व्यवधानस्थ अर्थ में लगा कर उस अर्थ को जान लेता है ॥ २५ ॥

भा० का भावा०—पूर्वपाद में मन की जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कही है उसको ज्योति के अर्थों के साथ सम्बन्ध करने से योगी सब प्रकार के अर्थों को जान लेता है ॥ २५ ॥

भो० वृ०—प्रवृत्तिर्विषयवती ज्योतिष्मती च प्रागुक्ता तस्या योऽसावालोकः सात्त्विकप्रकाशप्रसरस्तस्य निखिलेषु विषयेषु न्यासात् तद्वासितानां विषयाणां भावनातोऽन्तःकरणेषु इन्द्रियेषु च प्रकृष्टशक्तिमापन्नेषु सूक्ष्मस्य परमाण्वादेर्व्यवहितस्य भूम्यन्तर्गतस्य निधानादेर्विप्रकृष्टस्य मेरुपरपार्श्ववर्त्तिनो रसायनादेर्ज्ञानमुत्पद्यते।२५।

एतत् समानजातीयं सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—ज्योतिष्मती और विषयवती जो प्रवृत्ति पहिले कही थी उनसे जो सात्त्विक प्रकाश फैलता है उस प्रकाश से जो सम्पूर्ण विषय प्रकाशित होते हैं उनमें संयम करने से योगी की इन्द्रियाँ शुद्ध और बलवान् हो जाती हैं इस कारण अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु आदि भूमि के भीतर जो छिपे हुए पदार्थ हैं और बड़े पदार्थ मेरु पर्वत से परलीपार जो रसायन आदि देश हैं उन सबका ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

और भी सिद्धि कहते हैं—

भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सू० का पदा०—(सूर्य्ये संयमात्) सूर्य्य में संयम

करने से (भुवनज्ञानम्) जगत् का यथार्थ ज्ञान होता ॥ २६ ॥

सू० का भा०—सूर्य्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तत् प्रस्तारः सप्त लोकाः । तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोकः । मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः । ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः । चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः । त्रिविधो ब्राह्मः । तद्यथा—जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति ।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् ।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः ॥इति॥

संग्रह श्लोकः । तत्रावीचेरुपर्य्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमः प्रतिष्ठाः महाकालाम्बरीषरौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः । यत्र स्वकर्म्मोपार्ज्जित दुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते ततो महातलरसातलातलसुतलवितलातलपातालाख्यानि सप्तपातालानि भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः । तस्य राजतवैदूर्य्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि । तत्र वैदूर्य्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः श्वेतः पूर्वः स्वच्छः

पश्चिमः स्फटिकाभ उत्तरः । दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बू-
र्यतोऽयं जम्बूद्वीपः । तस्य सूर्यप्रचाराद्रात्रिन्दिवं लग्नमिव
वर्तते । तस्य नीलश्वेतशृङ्गवन्तउदीचीनास्त्रयः पर्वताः द्वि-
सहस्रायामाः । तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनव योजनसाह-
स्राणि रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति । निषधहेमकूट-
हिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रायामाः । तदन्तरेषुत्रीणि
वर्षाणि नव नव योजनसहस्राणि हरिवर्षं किम्पुरुषं भारत
मिति सुमेरोः प्राचीना भद्राश्वमाल्यवत् सीमानः प्रतीचीनाः
केतुमालागन्धमादनसीमानः । मध्येवर्षमिलावृतम् । तदेत-
द्योजनशतसहस्रं सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम् ।

स खल्वयंशतसाहस्रायामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन
लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः । ततश्च द्विगुणा
द्विगुणाः शाककुशक्रौञ्चशाल्मलगोमेध (प्लक्ष) पुष्करद्वीपाः
समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरा
सर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकाः सप्त समुद्र परिवेष्टिता वलया
कृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरि
संख्याताः तदेतत् सर्वं सुप्रतिष्ठित संस्थानमण्डमध्ये व्यू-
ढम् । अण्डञ्च प्रधानस्याणुरवयवो यथाकाशे खद्योत इति ।

तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुरग-
न्धर्वकिन्नरकिम्पुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरो-
ब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति । सर्वेषु द्वीपेषु

पुण्यात्मानो देवमनुष्याः।

सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः। तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि। सुधर्मा देवसभा। सुदर्शनं पुरम्। वैजयन्तः प्रासादः। ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि सन्निविष्टादिवि विपरिवर्त्तन्ते।

माहेन्द्रनिवासिनः षट्देवनिकायाः त्रिदशा अग्निष्वात्ता याम्यास्तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्त्तिनश्चेति। सर्वे सङ्कल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्य्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिचाराः।

महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः—कुमुदा ऋभवः प्रतर्दना अञ्जनाभाः प्रचिताभा इति। एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति। ते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः।

द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः आभास्वरा महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा इति। ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः। तृतीये

ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया अकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत् सर्गायुषः।

तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः, शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः, संज्ञासञ्ज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः। तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्ति। त एते सप्तलोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः। विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्त इति न लोकमध्ये न्यस्ता इति। एतद्योगिना साक्षात्कर्तव्यं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा ततोऽन्यत्रापि एवं तावदभ्यसेद्यावदिदं सर्वं दृष्टमिति ॥२६॥

भा० का प०—भुवन का प्रस्तार अर्थात् विस्तार यों है सात लोक हैं इनमें से भू व से लेकर मेरुपृष्ठ पर्यन्त भूर्लोक कहलाता है मेरुपृष्ठ से ध्रुवपर्यन्त सूर्य्यादि ग्रह अश्विनी आदि नक्षत्र और अरुन्धती आदि तारा से पूर्ण जो लोक है उसे अन्तरिक्ष लोक कहते हैं इसके परे पांच प्रकार का स्वर्लोक है तीसरा लोक महेन्द्र कहलाता है चौथा प्राजापत्य महर्लोक है तदनन्तर तीन प्रकार का ब्रह्मलोक है जनलोक तपोलोक और सत्यलोक। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—तीन प्रकार का ब्रह्मलोक है प्राजापत्य महर्लोक है माहेन्द्र स्वर्लोक है, अन्तरिक्ष में तारा और पृथ्वी में प्रजा रहती है, इत्यादि ॥ २६ ॥

भा० का भा०—महर्षि व्यासदेव के भाष्य का अभिप्राय यह है कि सूर्य्य में संयम करने से ब्रह्मलोकादि ऊर्ध्वलोक और रसातल आदि अधःस्थित लोकों का योगी को ज्ञान होता है। इस भाष्य में संपद् श्लोक के पूर्व जो इति शब्द है वहीं तक भाष्य

की समाप्ति प्रतीत होती है और उससे आगे का भाष्य प्रक्षिप्त जान पडता है क्योंकि इस भाष्य में जो द्वीप तथा समुद्रों का विस्तार लिखा है वह ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तग्रन्थों से विरुद्ध है इसके अतिरिक्त दो दो और तीन तीन सहस्र वर्षों की अवस्था भी इसमें लिखी है और वेदों में सबकी अवस्था का प्रमाण १०० वर्ष लिखा है यद्यपि योग से अवस्था की वृद्धि हो सकती है परन्तु वह इतनी अधिक नहीं हो सकती है। वेद विरुद्ध होने से इति के पश्चात् का भाष्य माननीय नहीं हो सकता है इसी कारण भाष्य के पदार्थ में इति पर्यन्त भाष्य का ही ग्रहण किया है।

विशेष—सूर्य चन्द्र इन शब्दों से योगशास्त्र मे बाहर के सूर्यादि का ग्रहण नहीं है किंतु शरीरस्थ ही सूर्यादि का ग्रहण होता है क्योंकि बाह्य सूर्यादिकों में संयम करने का कोई नियम नहीं लिखा तब विभुतिपाद् में उसके द्वारा सिद्धि की प्राप्ति कैसे कह सकते हैं, इसलिये शरीरस्थ इड़ा नाडी जो दक्षिण भाग से चलती है उसे सूर्य और वाम ओर से पिंगला नाड़ी बहती है उसे चन्द्र एवम् मध्यस्थ सुषुम्णा नाड़ी को ध्रुव कहते हैं और जो सूत्र के भाष्य मे सप्तलोक कहे हैं वे योग की सप्तभूमिका हैं। महाराज भोज विरचित वृत्तियों से जान पडता है कि वह पूर्व सूत्रमे आन्तरिक प्रकाश और इस सूत्र में बाह्य प्रकाश का ग्रहण मानते हैं तो इस से यह भी सिद्ध होता है कि बाह्य विषय अर्थात् प्रत्यक्ष लौकिक सूर्यादि में संयम करने का ही उनका अभिप्राय है परन्तु भगवान् भाष्यकार ने सूर्य शब्द से शरीर की उस नाड़ी का ग्रहण किया है जो पीठ के मेरुदण्ड की दाहिनी ओर से चलती है और उसमे सयम होना भी सम्भव है ऐसे ही चन्द्रमा के और ध्रुव के संयम को भी जानना भृकुटि के मध्य मे जो तारे के समान एक प्रकाश है उसे तारा कहते हैं ॥ २६ ॥

भा० वृ०—सूर्यप्रकाशमये यः संयमं करोति तस्य सप्तसु भूसु भूर्भुवःस्वरादिषु लोकेषु यानि भुवनानि तत्तत्सन्निवेशभाञ्जि स्थानानि तेषु यथावदस्य ज्ञानमुत्पद्यते। पूर्वस्मिन् सूत्रे सात्त्विक प्रकाश आलम्बनतयोक्त इह तु भौतिक इति विशेषः ॥ २६ ॥

भौतिकप्रकाशालम्बनद्वारेणैव सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—प्रकाश के निमित्त जो सूर्य में संयम करता है उसको भूर्लोक भुवर्लोक और स्वर्लोक में जितने भुवन हैं और उनमें सन्निवेश रखने वाले जो स्थान हैं उन सबके विषय में संयमी को यथार्थ ज्ञान होता है। पहिले सूत्र में सात्त्विक प्रकाश का वर्णन किया था और इस सूत्र में भौतिक प्रकाश का वर्णन किया है यही इन दोनों सूत्रों में भेद है ॥ २६ ॥

भौतिक प्रकाश में संयम करने से सिद्धि का वर्णन करते हैं—

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २८ ॥

सू० का पदा०—(चन्द्रे) चन्द्रमा में संयम करने से (ताराव्यूहज्ञानम्) नक्षत्रों के समूह का ज्ञान होता है ॥ २७ ॥

व्यास०भा०—चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराव्यूहं विजानीयात्

भा० का प०—चन्द्रमा में चित्तवृत्ति को लगा कर ताराओं की राशि का ज्ञान ॥ २७ ॥

भा० का भा०—स्पष्ट है ॥ २७ ॥

भा०वृ०—ताराणां ज्योतिषां यो व्यूहः विशिष्टः सन्निवेशस्तस्य चन्द्रे कृतसंयमस्य ज्ञानमुत्पद्यते। सूर्यप्रकाशेन हृततेजस्कत्वात्ताराणां सूर्यसंयमात्तज्ज्ञानं न भवितुमर्हतीति पृथगुपायोऽभिहितः॥२

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—तारागण का जो समूह उसका विशेष ज्ञान चन्द्रमा में सयम करने से उत्पन्न होता है। तारागण का तेज सूर्य्य के प्रकाश से विनष्ट हो जाता है इसलिये सूर्य्य मे संयम करने से उनका ज्ञान नहीं हो सकता है इस कारण यह दूसरा उपाय उनके ज्ञान का कहा है॥ २५॥

दूसरी सिद्धि कहते हैं—

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्॥ २८॥

सू० का प०—(ध्रुवं) ध्रुव नामक नक्षत्र में संयम करने से (तद्गतिज्ञानम्) तारागण की गति का ज्ञान होता है॥ २८॥

सू० का भा०—ध्रुव में संयम करने से तारों की गति का ज्ञान होता है॥ २८॥

व्या० दे० कृ० भा०—ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं विजानीयात्। उर्द्ध्वविमानेषु कृतसंयमस्तानि विजानीयात्॥ २८॥

भा० का प०—इसके पश्चात् ध्रुव नामक तारे में संयम करके नक्षत्रों की चाल को जाने उर्द्ध्व गमन करने वाले जो विमान हैं उनमे संयम करके विमानो को जाने॥ २८॥

भा० का भा०—योगी को उचित है कि ध्रुव मे सयम करके तारों की गति को जाने और ऊर्द्ध्वगामी विमानों में संयम करके विमानों को भी जानले॥ २८॥

भो० वृ०—ध्रुवे निश्चले ज्योतिषां प्रधाने कृतसंयमस्य तासां ताराणां या गतिः प्रत्येकं नियतकालानियतदेशा च तस्या ज्ञानमुत्पद्यते। इय ताराऽयं मह इयता कालेनामुंराशिमिदं नक्षत्रं यास्यतीति

सर्वं जानाति । इदं कालज्ञानमस्य फलमित्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

बाह्या सिद्धीः प्रतिपाद्यान्तरा सिद्धीः प्रतिपादयितुमुपक्रमते—

भो० वृ० का भा०—तारागण में जो प्रधान और निश्चल ध्रुव है उसमें संयम करने से तारों की जो गति है अर्थात् किस ध्रुव के आश्रय से किस तारा की कितने समय में गति होती है यह ज्ञान होता है। फलितार्थ यह है कि योगी निश्चय पूर्वक जान जाता है कि यह तारा और यह ग्रह इतने कालमें अमुक राशि वा अमुक नक्षत्र पर पहुँचेगा, यह योगी को काल ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

बाह्य सिद्धियों का वर्णन करके आगे आन्तरिक सिद्धियों का वर्णन करेंगे—

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

सू० का प०—(नाभिचक्रे) चक्राकार नाभि में (कायव्यूहज्ञानम्) शरीर के समुदाय का ज्ञान होता है २९

सू० का भा०—नाभिचक्र में संयम करने से शरीरस्थ सब पदार्थों का ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात् । वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः । धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्येष विन्यासः ॥ २९ ॥

भा० का प०—नाभिचक्र में चित्त की वृत्ति को स्थिर करने से काया के समूह को जाने। वात पित्त और कफ यह ३ दोष शरीर में रहते हैं और सात धातु चर्म रुधिर, मांस, नस, हड्डी चर्बी और वीर्य इनमें जो २ पूर्व हैं वह क्रमशः बाह्य हैं यह इनकी स्थिति का क्रम है।

भा० का भा०—नाभि मे शरीर के व्यूह का ज्ञान होता है शरीर मे वातादि ३ दोष और त्वगादि सात धातु हैं। धातुओं की स्थिति का नियम यह है कि उत्तरोत्तर अन्तरंग हैं इन्हीं से सबका शरीर स्थिर रहता है ॥ २६ ॥

भो० वृ०—शरीरमध्यवर्त्ति नाभिसंज्ञकं यत् षोडशाकारं चक्रं तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः कायगतोयोऽसौ व्यूहो विशिष्टरसमल धातुनाड्यादीनामवस्थानं तत्र ज्ञानमुत्पद्यते। इदमुक्तं भवति-नाभि चक्रं शरीरमध्यवर्त्ति सर्वतः प्रसृताना नाड्यादीवा मूलभूतमतस्तत्र कृतावधानस्य समग्रसन्निवेशो यथावदाभाति ॥ २९ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह-

भो० वृ० का भा०—शरीर के भीतर जो नाभिचक्र १६ आकार का है उसमें जो योगी संयम करता है उसको कायव्यूह अर्थात् विशेष रस, मल, धातु होर नाडी आदियों के स्थान का ज्ञान उत्पन्न होता है, अभिप्राय यह है कि नाभिचक्र शरीर के मध्य मे है और शरीर में जितनी नाड़ियाँ फैली हुई हैं उन सबका मूल नाभिचक्र है अतएव उसमें जो संयम करता है उसे सब नाडियो का यथार्थ ज्ञान हो जाता है ॥ २६ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

सू० का पदार्थ—(कण्ठकूपे) कण्ठ के नीचे (क्षुत्पि-पासानिवृत्तिः) क्षुधा और प्यास को निवृत्ति हो जाती है ॥ ३० ॥

सू० का भा०—कण्ठ के नीचे कूप मे संयम करने से भूख और प्यास निवृत्ति हो जाती है ॥ ३० ॥

व्या० दे० कृ० भा०—जिह्वाया अधस्तात् तन्तुस्त-

न्तोरधस्तात्कण्ठस्तदोऽधस्तात् कूपस्तत्र संयमात् क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥ ३० ॥

भा० का प०—जिह्वा के नीचे सूत्र के समान एक नस है उस तन्तु के अधोभाग में कण्ठस्थान है कण्ठ के अधोभाग में कूप अर्थात् गम्भीर छिद्र है उस कूप में संयम से क्षुधा और तृषा दुःख नहीं देती है ॥ ३० ॥

भा० का भा०—जिह्वा के अधोभाग में तन्तु तन्तु के अधोभाग में कण्ठ और कण्ठ के नीचे कूप है उस कूप में जब योगी संयम करता है तब उसे क्षुधा और पिपासा नहीं सताती ॥ ३० ॥

भो० वृ०—कण्ठे गले कूपः कण्ठकूपः, जिह्वामूले जिह्वातन्तोर-धस्तात् कूप इव कूपो गर्ताकारः प्रदेशः प्राणादेर्यत्सम्पर्कात्क्षुत्पि-पासादयः प्रादुर्भवन्ति तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः क्षुत्पिपासा-दयो निवर्तन्ते । घण्टिकाधस्तात् स्रोतसा धार्यमाणे तस्मिन् भावित भवत्येवंविधा सिद्धिः ॥ ३० ॥ सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—कण्ठ में जिह्वा की जड़ में जिह्वा तन्तु के नीचे जो गड्ढे के आकार का कण्ठकूप है इसी में प्राणों के सम्पर्क में भूख और प्यास लगती है; उसमें संयम करने से योगी को भूख प्यास का दुःख प्रतीत नहीं होगा । यह सिद्धि जिह्वा के मूल में घांटी भागक संयम करने से होती है ॥ ३० ॥ और सिद्धि कहते हैं—

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

सू० का प०—(कूर्मनाड्याम्) कूर्मनाडी में (स्थैर्यम्) स्थिरता होती है ॥ ३१ ॥

सू० का भा०—कूर्मनाडी में संयम करने से योगी के चित्त की स्थिरता होती है ३१ ॥

व्या० दे० भा०—कूपादध उरसि कूर्माकारा नाड़ी तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते। यथा सर्पो गोधा चेति ॥ ३१ ॥

भा० का प०—कूप के नीचे वक्षःस्थल में कच्छप के शरीराकार के समान एक नाडी है उसमें संयम करने से अचल पद की प्राप्ति होती है जैसे सर्प अथवा गोह ॥ ३१ ॥

भा० का भा०—पूर्व सूत्रमें कहे कूप से नीचे वक्षःस्थल में कछुए के शरीर के समान एक नाडी है जिसे कूर्मनाडी कहते हैं उसमें सयम करने से योगी को स्थिरपद की प्राप्ति होती है जैसे सर्प वा गोह अपने घर में जाकर चञ्चलता वा क्रूरता को त्याग देते हैं ऐसे ही योगी का चित्त इस नाड़ी में आकर स्थिर हो हो जाता है ॥ ३१ ॥

भो० वृ०—कण्ठकूपस्याधस्ताद्या कूर्माख्या नाडी तस्या कृतसंयमस्य चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते। तत्स्थानमनुप्रविष्टस्य चञ्चलता न भवतीत्यर्थः यदि वा कायस्य स्थैर्यमुत्पद्यते न केनचित्स्पन्दयितुं शक्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—कण्ठकूप के नीचे जो कूर्मनाड़ी है उसमें संयम करने से चित्त की स्थिरता होती है अर्थात् उस स्थान में जब चित्त जाता है तब चंचलता को त्याग देता है यदि काया में स्थिरता प्राप्त हो जाय तो कोई भी चल फिर नहीं सकता। दूसरी सिद्धि फिर कहते हैं—

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

सू० का प०—(मूर्धज्योतिषि) कपाल की ज्योति में (सिद्धदर्शनम्) सिद्धों का दर्शन होता ॥ ३२ ॥

सू० का भावार्थ—कपालस्थ ज्योति में संयम करने से सिद्धों का दर्शन होता है ॥ ३२ ॥

व्या० भाष्य—शिरःकपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिस्तत्र संयमात्सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनं भवति ॥ ३२ ॥

भा० का प०—शिर के कपाल के भीतर एक छिद्र होता है उसमें अत्यन्त प्रकाशमान एक ज्योति है उसमें संयम करने से जो सिद्ध पृथिवी और अन्तरिक्ष के मध्य में विचरा करते हैं उनके दर्शन होते हैं ॥ ३२ ॥

भा० का भा०—कपाल के मध्य में एक छिद्र है उसमें अत्यन्त प्रकाश युक्त जो ज्योति है उसमें संयम करने से अन्तरिक्ष में विचरने वाले महात्माओं के दर्शन होते हैं ॥ ३२ ॥

३२ सू०—सिर अर्थात् मस्तक में प्रकाश का आधार है जैसे अन्तरिक्ष स्थित सूर्यादि ग्रहों का भूमि में प्रकाश फैलता है ऐसे ही मूर्धा की ज्योति का प्रकाश हृदय में फैलता है। यहां हृदय का सात्त्विक प्रकाश सिर में आके पुष्ट होता है उस प्रकाश में संयम करने से पृथिवी में घूमने वाले सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है। यह सिद्धगण और लोगों को नहीं दीखते हैं ॥ ३२ ॥

भा० वृ०—शिरःकपाले ब्रह्मरन्ध्राख्यं छिद्रं प्रकाशाधारत्वात् ज्योतिः। यथा गृहाभ्यन्तरस्थस्य मणेः प्रसरन्ती प्रभा कुञ्चिका-कारेव सर्वदेशे संघटते तथा हृदयस्थः सात्त्विकः प्रकाशः प्रसृत स्तत्र संपिण्डितत्वमभजत। तत्र कृतसंयमस्य ये द्यावापृथिव्या रन्तरालवर्तिन सिद्धा दिव्याः पुरुषास्तयामितरप्राणिभिरदृश्यानां तस्य दर्शनम्भवति। ताम्पश्यति तैश्च स सम्भाषत इत्यर्थः ॥३२॥

सर्वज्ञत्व उपायमाह—

भोजवृत्ति का भा०—सिर के कपाल में जो ब्रह्मरन्ध नामक छिद्र है उसमें प्रकाश रूप ज्योति है जैसे घर के भीतर रक्खी मणि का प्रकाश सब घर मे फैलता है ऐसे ही हृदय के भीतर सात्विक प्रकाश जो सब शरीर मे फैला है वह ब्रह्मरन्ध में इकट्ठा रहता है उस प्रकाश मे जो संयम करता है उसे पृथिवी और अन्तरिक्ष के मध्य मे रहने वाले सिद्ध अर्थात् दिव्य पुरुष जो दूसरे प्राणियों को नहीं दीखते हैं वे योगी को दीखते हैं और योगी से उनका वार्त्तालाप भी होता है ॥ ३२ ॥

सर्वज्ञत्व का उपाय कहते हैं—

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

सू० का प०—(प्रातिभाद्वा) अथवा प्रातिभ नामक तारा जो हृदय में है उसके ज्ञान से (सर्वम्) सम्पूर्ण ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

सूत्र का भा०—प्रातिभ के ज्ञान से योगी को सब ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

व्यास भा०—प्रातिभं नाम तारकं तद्विवेचकस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपम्। यथोदये प्रभा भाकरस्य। तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति ॥३३॥

भा० का पदार्थ—प्रातिभ नामक एक तारा है उसका ज्ञान विवेक द्वारा उत्पन्न हुए सत्य ज्ञान का पूर्वरूप अर्थात् लक्षण है। जैसे अरुणोदय सूर्योदय का लक्षण है इस प्रातिभ ज्ञान से योगी को सम्पूर्ण ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

भा० का भा०—पूर्वोक्त कपालस्थ ज्योति के अन्तर्गत एक प्रातिभ नामक तारा है इस तारे का नाम प्रातिभ इसलिये है कि

यह समस्त प्रतिभाओं (बुद्धियों) का मूल है, उसमें संयम करने से ज्ञान होता है यह प्रातिभ ज्ञान कहलाता है। यह प्रातिभज्ञान होने से योगी को सम्पूर्ण ज्ञानों का उदय होता है क्योंकि यही ज्ञान प्रभावरूप ज्ञान का पूर्वरूप है॥ ३३॥

३३ सू०—इस सूत्र के भाष्य में भगवान् व्यासदेव ने मूर्द्धा में स्थित एक विलक्षण प्रातिभ नामक तारा माना है (इस तारे का स्थान दोनों भौंहों के बीच में लिखा है) और उसमें संयम करने से सब सिद्धि मिलती हैं, किन्तु महाराज भोज न किसी निमित्तकी अपेक्षा न करके जो स्वाभाविक ज्ञान मन में उत्पन्न होता है उसको प्रतिभा माना है उस प्रतिभा में संयम करने से सब सिद्धि प्राप्त होती हैं, भाष्य में लिखी प्रभा का अर्थ यथार्थज्ञान है। सूत्र में सर्व शब्द है उससे कितने ही पंडित अनुमान करते हैं कि महर्षि पतञ्जलि ने इसी सूत्र तक योग सिद्धि वर्णन की है व लोग सब शब्द में "सामान्य नपुंसकम्" इस निर्देश से सिद्धि अर्थ लेने पर भी नपुंसकता को शुद्ध समझते हैं परन्तु दूसरे लोग "सर्वम्" से विशेष ज्ञान का मानते हैं किन्तु प्रातिभ का अर्थ भी ज्ञान ही है तब तात्पर्य यह होगा कि ज्ञान में संयम करने से सब ज्ञानों की प्राप्ति होती है॥ ३३॥

भा० वृ०—निमित्तानपेक्षं मनोमात्रजन्यमविसंवादकं द्रागुत्पद्यमानं ज्ञानं प्रतिभा। तस्यां संयमे क्रियमाणे प्रातिभं विवेकख्यातेः पूर्वं भावि तारकं ज्ञानमुदेति। यथाऽभ्युदिते सवितरि पूर्वं प्रभा प्रादुर्भवति तद्विवेकख्यातेः पूर्वभावि तारकं सर्वविषयं ज्ञानमुत्पद्यते तस्मिन् सति संयमान्तरानपेक्षः सर्वं जानातीत्यर्थः॥ ३३॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भा० वृ० का भा०—किसी कारण की अपेक्षा न रखने वाला केवल मन से उत्पन्न हुआ बिना झगड़े का ज्ञान प्रतिभा कहलाता

है, उस प्रतिभा में संयम करने से प्रातिभ ज्ञान जो विवेकख्याति का पूर्वरूप है उत्पन्न होता है जैसे सूर्य्य के उदय होने से पूर्व प्रभा फैल जाती है ऐसी ही विवेकख्याति के पूर्व सब विषयों का ज्ञान योगी को उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होने से योगी को और संयमों की आवश्यकता नहीं रहती॥ ३३॥

दूसरी सिद्धि कहते हैं।

हृदये चित्तसंवित्॥ ३४॥

सू० का पदा०—(हृदये) हृदय में (चित्तसंवित्) चित्तका ज्ञान होता है।

सू० का भा०—हृदय में संयम करने से योगी को चित्त का ज्ञान होता है।

व्या० भा०—यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित्॥ ३४॥

भा० का पदा०—यह जा ब्रह्मपुर अर्थात् हृदयस्थल मे दहर अर्थात् जो तड़ाग के समान स्थल है उसमें कमल स्थानापन्न ज्ञान रहता है उसमे संयम करने चित्त का ज्ञान होता है॥ ३४॥

भा० का भावा०—हृदय का मध्यस्थान १ तड़ाग के तुल्य है उसमें संयम करने से चित्त ज्ञान होता है॥ ३४॥

३२ सू०—हृदय शरीर का एक अङ्ग है उसमें नीचे को मुखवाला एक कमल है उस ही मे चारों अन्तःकरण हैं अन्तःकरण मे संयम करने से योगी को अपने और पराये चित्त का ज्ञान होता है अर्थात् अपने चित्त की सम्पूर्ण वासनाओं को और पराये चित्त के रागादिकों को योगी जान लेता है॥ ३४॥

भो० वृ०—हृदये शरीरस्य प्रदेशविशेषस्तस्मिन्नधोमुख

स्मरन्न पुण्डरीकमभ्यन्तरेऽन्तः करणस्यस्य स्थानं तत्र कृतसंयम स्य स्वपरचित्तज्ञानमुत्पद्यते । स्वचित्तगताः सर्वावासनाः परचित्त गतांश्च रागादीन् जानातीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० सू० का भा०—शरीर का विशेष स्थान हृदय है उसमें अधोमुख कमल के भीतर अन्तःकरण का स्थान है उसमें संयम करने से अपने और दूसरे के चित्त का ज्ञान योगी को होता है अर्थात् अपने चित्त के सम्पूर्ण विषयों को और दूसरे के चित्त के रागादि को योगी जान जाता है ॥ ३४ ॥

आगे और सिद्धि कहेंगे ।

सत्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयो प्रत्ययविशेषो भोग. परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्॥३५॥

सू० का पदा०—(सत्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः) बुद्धि और पुरुष जो अत्यन्त भिन्न है (प्रत्ययविशेषो भोगः) उनकी एकता का ज्ञान भोग कहा है (परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्) परार्थ के विचार से और स्वार्थ के संयम से पुरुष का ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

सू० का भा०—बुद्धि वा पुरुष से अत्यन्त भिन्न है, किन्तु अज्ञान से जो उनकी एकता मानी जाती है उसे भोग कहते हैं अतएव स्वार्थ संयम से योगी को पुरुषज्ञान अर्थात् जीव का ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—बुद्धिसत्वं प्रख्याशीलं समान सत्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्वपुरुषान्यतामत्य

येन परिणतम्। तस्माच्च सत्वात् परिणामिनोऽत्यन्तवि-धर्म्मा विशुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः। तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः पुरुषस्य दर्शितविषयत्वात्। भोगप्रत्ययः सत्वस्य परार्थत्वाद्दृश्यः।

यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चितिमात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र संयमात् पुरुषविषया प्रज्ञा जायते। न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्वात्मना पुरुषो दृश्यते। पुरुष एव तं प्रत्ययं स्वात्मावलम्बनं पश्यति। तथा ह्युक्तम् 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृ० २।४।१४) इति॥ ३५॥

भा० का पदा०—बुद्धि विचाररूप ज्ञान है जीव में अज्ञान से उसका आरोप करने से बुद्धि जीवरूप से प्रतीत होती है उस परिणामिनी बुद्धि से भिन्न ज्ञानस्वरूप जीव है उक्त दोनों जो अत्यन्त भिन्न हैं अभेद ज्ञानको भोग कहते हैं जो उस भोग से युक्त है और भोग्य तथा साधन से भिन्न ज्ञान स्वरूप है उस पुरुष मे संयम करने से पुरुषविषयिणी बुद्धि उत्पन्न होती है किन्तु यह ज्ञान जीव ही को होता है न कि बुद्धि को, जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् मे कहा है—"जानने वाले को किससे जाने?" ॥ ३५॥

भो० वृ०—सत्वं प्रकाशसुखात्मकं प्राधानिकः परिणामविशेषः। पुरुषो भोक्ताऽधिष्ठातृरूपः तयोरत्यन्तासंकीर्णयोर्भोग्यभोक्तृरूपत्वात् चेतनाचेतनत्वाच्च भिन्नयोयः प्रत्ययस्याविशेषो भेदेनाप्रतिभासन तस्मात् सत्वस्येव कर्तृताप्रत्ययेन या सुखदुःखसंवित् स भोग. सत्वस्य स्वार्थनैरपेक्ष्येण परार्थः पुरुपार्थनिमित्तस्तस्मादन्यो यः स्वार्थः पुरुषस्वरूपमात्रालम्बनः परित्यक्ताहङ्कारसत्वे या

चिच्छायासंक्रान्तिस्तत्र फलभूतस्य पुरुषविषयं ज्ञानमुत्पद्यते। तत्र तदेव रूपं स्वालम्बनं ज्ञानं सत्त्वनिष्ठं पुरुषो जानातीत्यर्थः। न पुनः पुरुषो ज्ञाता ज्ञानस्य विषयभावमापद्यते। ज्ञेयतापत्तेर्ज्ञातृज्ञेययोरत्यन्तविरोधात् ॥ ३५ ॥

अस्यैव संयमस्य फलमाह—

भो० वृ० का भा०—प्रकाश और सुखात्मक प्रधान परिणाम को सत्त्व कहते हैं, भोग के अधिष्ठाता को पुरुष कहते हैं, भोग्य और भोक्ता भाव से यह दोनों अत्यन्त भिन्न हैं तथा सत्त्व जड़ और पुरुष चेतन है, जड़ और चेतन भाव से भी इन दोनों में अत्यन्त भेद है तो भी दोनों की जो एकता ज्ञान है अर्थात् सत्त्व में ही उभयात्मक बोध होता है और उससे जो सुख दुःख का ज्ञान होता है उसे भोग कहते हैं। परन्तु सत्त्व जड़ है इस कारण उसमें स्वार्थ नहीं हो सकता है अतएव भोग्य पदार्थ पुरुष के निमित्त है इस सूक्ष्म भाव में अहङ्कार त्याग कर जो संयम करता है उसको पुरुष का यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है, अभिप्राय यह है कि सत्त्व स्थित ज्ञान को सावयव माना जाता है किन्तु पुरुष ज्ञाता ज्ञान भाव में परिवर्तित नहीं हो जाता क्योंकि ऐसा होने से ज्ञाता ही ज्ञेय हो जायगा परन्तु ज्ञाता और ज्ञेय में बड़ा भेद है ॥ ३५ ॥

इस संयम के फल को आगे कहते हैं—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

सू० का पदार्थ—(ततः) इसके अनन्तर (प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ताः) प्रातिभ अर्थात् बुद्धि वर्द्धक, श्रावण दिव्यश्रवण, दिव्यस्पर्श, दिव्यदृष्टि, दिव्यरसज्ञान

(जायन्ते) उत्पन्न होते हैं ॥३६॥

सू० का भा०—सत्य और पुरुष के भेद ज्ञान मे संयम करने से दिव्य ज्ञान उत्पन्न होते हैं ॥ ३६ ॥

व्या० दे० का भा०—प्रातिभात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम् । श्रावणाद्दिव्यशब्दश्रवणम् । वेदनाद्दिव्यस्पर्शाधिगमः । आदर्शाद्दिव्यरूपसंवित् । आस्वादाद्दिव्यरससंवित् वार्त्तातो दिव्यगन्धविज्ञानमित्येतानि नित्यं जायन्ते ॥ ३६ ॥

भा० का पदार्थ०—प्रतिभा सम्बन्धी ज्ञान से सूक्ष्म, गुप्त, दूर, भूत और भविष्य का ज्ञान होता है, कर्ण संबंधी ज्ञान से दिव्य शब्द का श्रवण होता है, वेदना से दिव्यस्पर्श का ज्ञान होता है, आदर्श अर्थात् नेत्र इन्द्रिय से दिव्यरूप का ज्ञान होता है जिह्वा से दिव्यरस का ज्ञान होता है यह ज्ञान नित्य ही होते हैं ॥ ३६ ॥

भा० का भावा०—जब योगी को पुरुष का ज्ञान हो जाता है, अतः पश्चात् गुप्त, सूक्ष्म, दूर भूत और भविष्य तथा दिव्य श्रवणादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं, इस सूत्र का यह भी अर्थ होता है कि श्रवणादिकों में संयम करने से दिव्यश्रवणादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं ।

भो० वृ०—ततः पुरुषसंयमादभ्यस्यमानात् व्युत्थितस्यापि ज्ञानानि जायन्ते । तत्र प्रातिभं पूर्वोक्तं ज्ञानं तस्याविर्भावात् सूक्ष्मादिकमर्थं पश्यति । श्रावणं श्रोत्रेन्द्रियजं ज्ञानं तस्माच्च प्रकृष्टं दिव्यं शब्दं जानाति । वेदना स्पर्शेन्द्रियजं ज्ञानं वेद्यतेऽनयेति कृत्वा तान्त्रिक्या संज्ञया व्यवह्रियते । तस्मात् दिव्यस्पर्शविषयं ज्ञानं समुपजायते आदर्शश्चक्षुरिन्द्रियजं ज्ञानम् । आसमन्तात् दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेनेति कृत्वा, तस्य प्रकर्षाद्दिव्यं रूपज्ञानमुत्पद्यते । आस्वादो

रसनेन्द्रियज ज्ञानम्। आस्वादोऽवगति कृत्वा तस्मिन् प्रकृष्टे दिव्ये रसे संविदुपजायते। वार्ता गन्धे संवित्, वृत्तिशब्देन तान्त्रिक्या परिभाषया घ्राणेन्द्रियमुच्यते। वर्तते गन्धविषये इति व्युत्पत्त्या घ्राणेन्द्रियजन्या वार्ता गन्धसंवित् तस्यां प्रकृष्यमाणायां दिव्यगन्धोऽनुभूयते।

एतेषां फलविशेषविभागमाह—

भो० वृ० का भा०—पुरुष के संयम में अभ्यास करने से व्युत्थित चित्तवाले को भी ज्ञान हो जाते हैं, जिस प्रतिभा ज्ञान का पूर्व वर्णन कर चुके हैं उसके प्रकाशित होने से योगी को सूक्ष्म अर्थ भी मालूम हो जाते हैं कर्णेन्द्रिय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है। उससे योगी को दिव्य शब्द का ज्ञान होता है वेदना शब्द का अर्थ स्पर्श का ज्ञान है उससे दिव्य स्पर्श का ज्ञान होता है। आदर्श का अर्थ नेत्रेन्द्रिय से उत्पन्न हुआ ज्ञान है उससे दिव्यरूप ज्ञान होता है जिह्वा से जो रस का ज्ञान होता है उससे दिव्य रस ज्ञान होता है, वार्ता शब्द का अर्थ इस शास्त्र में नासिका से उत्पन्न हुआ ज्ञान है उससे दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है॥ ३६॥

इसके विशेष फल के विशेष भागों को आगे कहेंगे—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थानेसिद्धय ॥३७॥

सू० का पदार्थ—(ते समाधौ-उपसर्गाः) पूर्वसूत्र में कहे ज्ञान समाधि में विघ्नकारक हैं (व्युत्थानेसिद्धयः) और चञ्चल चित्त वाले को सिद्धि हैं॥३७॥

सू० का भा०—कैवल्य समाधि वाले को पूर्वोक्त ज्ञान विघ्न रूप हैं किन्तु चंचल चित्तवाले योगी को सिद्धि हैं अर्थात् सिद्धि प्राप्त मनुष्य को कैवल्य समाधि के अभाव से ईश्वर का ज्ञान नहीं होता है॥३७॥

व्या० दे० का भाष्य—ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गास्तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात्। व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः ॥३७॥

भा० का पदा०—पूर्व सूत्रमे कहे प्रातिभ आदि दिव्य ज्ञान स्थिर चित्त वाले को उत्पन्न हुये विघ्न हैं क्योंकि इनसे ईश्वर के ज्ञान मे विघ्न होता है व्युत्थित चित्त अर्थात् बाह्यवृत्ति वाले की यह सिद्धि हैं ॥ ३७ ॥

भा० का भावा०—उक्त प्रातिभ ज्ञानादि कैवल्य समाधि मे विघ्न हैं और बाह्यवृत्ति वाले को सिद्धि हैं ॥ ३७ ॥

भो० वृ०—ते प्राक्प्रतिपादिता. फलविशेषाः समाधेः प्रकर्षं गच्छत उपसर्गा उपद्रवा विघ्नकारिणः। तत्र हर्षविस्मयादिकरणेन समाधिः शिथिली भवति व्युत्थाने तु पुनर्व्यवहारदशाया विशिष्टफलदायकत्वात्सिद्धयो भवन्ति ॥ ३७ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—पूर्व कहे हुए संयमों के विशेष फल समाधि के उपद्रव अर्थात् विघ्न हैं, हर्ष और हास्य आदि के करने से समाधि शिथिल हो जाती है किन्तु व्युत्थान अर्थात् सासारिक व्यवहारों में यह सब सिद्धि हैं क्योंकि इनसे अधिक लाभ होता है ॥ ३७ ॥ दूसरी सिद्धि कहते हैं—

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

सू० का प०—(बन्धकारणशैथिल्यात्) बन्धन का जो कारण है उसके शिथिल होजाने से (प्रचारसंवेदनाच्च)

से एक भोग और दूसरा मोक्ष है इन दोनों में जो एकता का ज्ञान है इसी से बन्धन है, अब समाधि के बल से बन्ध का कारण धर्म और अधर्म रूप कर्म शिथिल हो जाता। चित्त का जो प्रचार अर्थात् गमनागमन है यह चित्त की नाड़ियों के द्वारा इन्द्रियों में जाता है फिर विषयों की ओर दौड़ता है ये नाड़ी चित्त-वहा कहलाती हैं ये चित्तवहा नाड़ियें प्राणवहा और रसवहा नाड़ियों से विलक्षण हैं योगी जब अपने शरीर और दूसरों के शरीरों के संचार का ज्ञान जाता तब दूसरे के जीते वा मरे शरीर प्रवेश कर जाता है जब योगी का चित्त दूसरे शरीर में चला जाता है तब इन्द्रियाँ भी चित्त का अनुगमन करती हैं अर्थात् वे भी साथ में चली जाती हैं जैसे रानी मक्खी के पीछे शहद की सब मक्खियाँ जाती हैं। दूसरे शरीर में जाके योगी अपने शरीर के समान ही सब व्यवहार करता है क्योंकि चित्त और आत्मा व्यापक हैं जब उनका भोग तृष्णा ही न रही तब उनको सर्वत्र आनन्द मिलता है क्योंकि भोग के साधन कर्म शिथिल हो गये हैं अतएव योगी सर्वत्र स्वतन्त्र भाव से सुखी रह सकता है॥ ३८॥

और सिद्धि कहते हैं—

नहीं होता और मरण भी यथारुचि होता है ॥ ३९ ॥

व्या० भा०—समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनं तस्य क्रिया पञ्चतयी। प्राणो मुखनासिकागतिरा-हृदयवृत्तिः। समनयनात्समानश्चानाभिवृत्तिः। अपनयना-दपान आपादतलवृत्तिः उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः। व्यापी व्यान इति, एषां प्रधानं प्राणः। उदानजयाज्जल-पंकण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति। तां वशित्वेन प्रतिपद्यते ॥ ३९ ॥

भा० का पदा०—सम्पूर्ण इन्द्रियों मे रहनेवाला प्राण आदि वायु ही सबका आजीवन अर्थात् आधार है उस प्राण की ५ गति हैं उनमें से प्राण उसे कहते हैं जिसका मुख और नासिका के द्वारा गमन होता है और यह हृदय तक वर्त्तमान रहता है समता को प्राप्त करने वाला समान वायु नाभि तक रहता है अधोगामी वायु को अपान कहते हैं जो नाभि के अधोभाग से पैरो तक गमन करता है ऊर्ध्वगमन से उदान कहलाता है जो कण्ठ से सिर पर्य्यन्त पूरित है शरीर मे पूर्ण होनेसे व्यान कहलाता है, इन सब में प्रधान प्राण हैं प्राण और उदान का संयम करने से जल, पंक और कण्टक आदि के स्पर्श से पीड़ा नहीं होती। उत्क्रान्ति जो मरने समय होती है उसको वश मे करता है ॥ ३९ ॥

भा० का भावार्थ—सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने गमनागमन से स्थिर रखनेवाला वायु है जिसके प्राणादि ५ भेद हैं प्राण वह वायु है जिसकी गति मुख नासिका से हृदय पर्यन्त है। समगतिवाला नाभिपर्य्यन्त जाने वाला वायु समान कहाता है। अधोगमनशील जो चरण पर्य्यन्त भ्रमण करता है वह अपान वायु कहा जाता है

और प्रचार अर्थात् प्रवेश और निर्गम के ज्ञान से (चित्तस्य परशरीरावेशः) चित्तका पराये शरीर में प्रवेश होता है ३८

सू० का भा०—बन्ध कारण के शिथिल होने और प्रचार ज्ञान होने से योगी के चित्त में परकायनिवेश की शक्ति होती है ॥३८॥

व्या० दे० का भा०—लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्म्माशयवशाद् बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः। तस्य कर्म्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधिबलाद्भवति। प्रचारसंवेदनञ्च चित्तस्य समाधिजमेव। कर्म्मबन्धक्षयात् स्वचित्तस्य प्रचार संवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति निक्षिप्तं चित्तञ्चेन्द्रियाण्यनुपतन्ति। यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनुपतन्ति निविशमान मनुनिविशन्ते। तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्त इति ॥ ३८ ॥

भा० का प०—चंचलता को प्राप्त हुए अस्थिर मनका शरीर में कर्मफल के वश से बन्ध अर्थात् स्थिरता है उस बन्धन के कारण रूप कर्म्म की शिथिलता समाधि के प्रताप से होती है और प्रचार ज्ञान भी समाधि से ही उत्पन्न होता है कर्मबंधनों के नाश होने से और अपने चित्त के प्रचार ज्ञान से योगी चित्त को अपने शरीर निकाल कर दूसरे में डाल देता है चित्त के पर शरीर में प्रविष्ट होने से इन्द्रियाँ भी उस ही शरीर में चली जाती हैं जैसे रानी मक्खी के उड़ने से सब मक्खी उड़ती हैं और जहाँ वह बैठती है वहीं सब बैठ जाती हैं वैसे ही इन्द्रियाँ भी दूसरे शरीर में प्रवेश करने के समय चित्त की अनुगामिनी होती हैं ॥ ३८ ॥

भा० का भा०—मन जो अत्यन्त ही चञ्चल है उसका एक शरीर में स्थिर रहना यह केवल कर्म्म फलके बन्धन से है और वह कर्म्म बन्धन समाधि मे शिथिल होता है और समाधि ही से चित्त का प्रचार अर्थात् नाडी का परिज्ञान भी जाना जाता है। जब योगी के समाधि बल से कर्म्म बन्धन ढीले हो जाते हैं और चित्त के प्रचार को भी योगी जान जाता है तब उसको यह शक्ति हो जाती है कि वह अपने चित्त को पर शरीर मे प्रविष्ट कर देता है और चित्त के गमन से इन्द्रियाँ भी चित्त की अनुगामिनी होती हैं क्योंकि इन्द्रियों की गति रानी मक्खी के समान है जैसे रानी मक्खी के उड़ने से सब मक्खियाँ उडती हैं और जहाँ वह बैठती है वहीं सब बैठ जाती हैं ॥ ३८ ॥

भो० वृ०—व्यापकत्वादात्मचित्तयोर्नियतकर्म्मवशादेव शरीरान्तर्गतयोर्भोग्यभोक्तृभावेन यत् संवेदनमुपजायते स एव शरीरे बन्ध इत्युच्यते। तद्यदा समाधिवशाद्बन्धकारणं धर्माधर्माख्यं शिथिलं भवति तानवमापद्यते। चित्तस्य चयोऽसौ प्रचारो हृदयप्रवेशादिन्द्रियद्वारेण विषयाभिमुख्येन प्रसरस्तस्य संवेदनं ज्ञानमिय चित्तवहा नाड़ी अनया चित्तं वहन्ति इयं च रसप्राणादिवहाभ्यो नाडीभ्यो नाडीभ्यो विलक्षणेति स्वपरशरीरयोर्यदा सञ्चारं जानाति तदा परकीयं शरीर मृत जीवच्छरीरं वा चित्तसञ्चारद्वारेण प्रविशति। चित्त परशरीरे प्रविशदिन्द्रियाण्यपि अनुवर्त्तन्ते मधुकरराजमिवमधुमक्षिकाः। अथ परशरीर प्रविष्टो योगी स्वशरीरवत् तेन व्यवहरति यतो व्यापकयोश्चित्तपुरुषयोर्भोगसङ्कोचकारणं कर्म्म तच्चेत्समाधिना क्षिप्तं तदा स्वातन्त्र्यात् सर्वत्रैव भोगनिष्पत्तिः। ३८

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—आत्मा और चित्त के व्यापक होने से नियत कर्म के वश से दोनों ही शरीर के अन्तर्गत हैं परन्तु इनमें

से एक भोग्य और दूसरा भोक्ता है इन दोनों में जो एकता का ज्ञान है उसी से बन्धन है, जब समाधि के बल से बन्ध का कारण धर्म और अधर्म रूप कर्म शिथिल हो जाता। चित्त का जो प्रचार अर्थात् गमनागमन है यह चित्त की नाड़ियों के द्वारा इन्द्रियों में जाता है फिर विषयों की ओर दौड़ता है य नाड़ी चित्त-वहा कहलाती है ये चित्तवहा नाड़ियाँ प्राणवहा और रसवहा नाड़ियों से विलक्षण हैं योगी जब अपने शरीर और दूसरों के शरीरों के संचार को जान जाता तब दूसरे के जीते वा मरे शरीर प्रवेश कर जाता है जब योगी का चित्त दूसरे शरीर में चला जाता है तब इन्द्रियाँ भी चित्त का अनुगमन करती हैं अर्थात् वे भी दूसरे में चली जाती हैं जैसे रानी मक्खी के पीछे शहद की सब मक्खियाँ जाती हैं। दूसरे शरीर में जाके योगी अपने शरीर के समान ही सब व्यवहार करता है क्योंकि चित्त और आत्मा व्यापक हैं जब उनका भोग तृष्णा ही न रही तब उनका सर्वत्र सामर्थ्य मिलता है क्योंकि भोग के साधन कर्म शिथिल हो गये हैं अतएव योगी सर्वत्र स्वतन्त्र भाव से सुखी रह सकता है॥ ३८॥

और सिद्धि कहते हैं—

उदानजयाज्जलपंककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ३९

सू० का प०—(उदानजयात्) कण्ठ में रहने वाले उदान वायु के जीतने से (जलपंककण्टकादिष्वसङ्गः) जल, पंक और कण्टक आदि शरीरभेदक पदार्थों का स्पर्श नहीं होता (उत्क्रान्तिश्च) और मरण अपने वश में हो जाता है॥ ३९॥

सू० का भा०—उदानादि वायु के जीतने से कण्टकादिका स्पर्श

नहीं होता और मरण भी यथारुचि होता है ॥ ३९ ॥

व्या० भा०—समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनं तस्य क्रिया पञ्चतयी। प्राणो मुखनासिकागतिरा-हृदयवृत्तिः। समनयनात्समानश्चानाभिवृत्तिः। अपनयना-दपान आपादतलवृत्तिः उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः। व्यापी व्यान इति, एषां प्रधानं प्राणः। उदानजयाज्जल-पंककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति। तां वशित्वेन प्रतिपद्यते ॥ ३९ ॥

भा० का पदा०—सम्पूर्ण इन्द्रियों में रहनेवाला प्राण आदि वायु ही सबका आजीवन अर्थात् आधार है उस प्राण की ५ गति हैं उनमें से प्राण उसे कहते हैं जिसका मुख और नासिका के द्वारा गमन होता है और यह हृदय तक वर्त्तमान रहता है समता को प्राप्त करने वाला समान वायु नाभि तक रहता है अधोगामी वायु को अपान कहते हैं जो नाभि के अधोभाग से पैरों तक गमन करता है ऊर्ध्वगमन से उदान कहलाता है जो कण्ठ से सिर पर्य्यन्त पूरित है शरीर मे पूर्ण होनेसे व्यान कहलाता है, इन सब में प्रधान प्राण हैं प्राण और उदान का संयम करने से जल, पंक और कण्टक आदि के स्पर्श से पीड़ा नहीं होती। उत्क्रान्ति जो मरने समय होती है उसको वश में करता है ॥ ३९ ॥

भा० का भावार्थ—सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने गमनागमन से स्थिर रखनेवाला वायु है जिसके प्राणादि ५ भेद हैं प्राण वह वायु है जिसकी गति मुख नासिका से हृदय पर्यन्त है। समगतिवाला नाभिपर्य्यन्त जाने वाला वायु समान कहाता है। अधोगमनशील जो चरण पर्य्यन्त भ्रमण करता है वह अपान वायु कहा जाता है

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

सू० का पदार्थ—(श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमात्) कर्ण इन्द्रिय और आकाश में संयम करने से (दिव्यं श्रोत्रम्) दिव्यश्रवण होता है ॥ ४१ ॥

सू० का भा०—कर्णेन्द्रिय और आकाश में संयम करने से दिव्यश्रवण अर्थात् दूर देश का भी श्रवण होता है ॥ ४१ ॥

व्या० भा०—सर्वश्रोत्राणामाकाशंप्रतिष्ठा सर्वशब्दानां च। यथोक्तम्—तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति तच्चैतदाकाशस्य लिंगम्। अनावरणं चोक्तम्। तथाहि अमूर्तस्यानावरणदर्शनाद्विभुत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य। शब्दग्रहणानुमितं श्रोत्रम्। बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति। तस्माच्छ्रोत्रमेव शब्दविषयम्। श्रोत्राकाशयोः सम्बंधे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्र प्रवर्तते ॥ ४१ ॥

भा० का प०—समस्त प्राणियों की कर्णेन्द्रिय का आश्रय आकाश है और सम्पूर्ण शब्दों का भी आधार आकाश है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। एक स्थल पर उच्चारित शब्द का सुनना सर्वत्र पाया जाता है और यही आकाश का चिह्न है अर्थात् बिना आकाश के शब्द का कर्ण इन्द्रिय में प्रवेश करना असम्भव है और इसी से आकाश का आवरणरहित होना सिद्ध होता है वैसे ही जो पदार्थ अमूर्त अर्थात् रूपरहित है उसकी सर्वव्यापकता भी प्रसिद्ध है किन्तु शब्द के ग्रहण करने का निमित्त

कर्ण ही है क्योंकि बहरा और सुननेवाला इन दोनों में से एक शब्द को ग्रहण करता है और दूसरा नहीं करता इसलिये कर्ण ही शब्द का विषय है कर्णेन्द्रिय और आकाश का जो सम्बन्ध है उसमें संयम करने से दिव्य श्रवण होता है ॥ ४१ ॥

भा० का भा०—सब की कर्णेन्द्रिय का आधार आकाश है और वह अमूर्त्त होने से व्यापक है यदि केवल आकाश ही से शब्द का सम्वन्ध होता तो वहिरे को भी शब्द सुनाई देता किन्तु ऐसा नहीं है इससे प्रतीत होता है कि शब्दग्रहण कर्णेन्द्रिय से होता है। कर्णेन्द्रिय और आकाश के सम्वन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रवण शक्ति हाती है ॥ ४१ ॥

भो० वृ०—श्रोत्रं शब्दग्राहकमाहङ्कारिकमिन्द्रियम्। आकाशं व्योम शब्दतन्मात्रकार्यम्। तयोःसम्बन्धो देशदेशिभावलक्षणस्त- स्मिन् कृत संयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्र प्रवर्त्तते युगपत्सूक्ष्मव्य- वहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—कर्णेन्द्रिय शब्द को ग्रहण करने वाली है, आकाश का जो तन्मात्र शब्द है उसके सम्बन्ध मे सयम करने से योगी को दिव्य श्रोत्र प्राप्त होते हैं अर्थात् सूक्ष्मशब्द व्यवहित छिपे हुए और दूरके शब्दों को सुनने की शक्ति उत्पन्न होती है ॥ ४१ ॥

आगे और सिद्धि कहते हैं—

कायाकाशयोः सम्बधसंयमाल्लघुतूलसमापत्ते- श्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(कायाकाशयोः) शरीर और आकाशके (सम्बन्धसंयमात्) सम्बन्ध में संयम करने से

और जो कण्ठसे सिर पर्य्यन्त घूमता है उसका नाम उदान है और जो सब शरीर में व्यापक है वह व्यान, कहलाता है। प्राण और उदान के संयम करने से जल कीचड़ और कण्टकादि का भय योगी का निवृत्त हो जाता है और मरण भी योगी के वश हो जाता है (अर्थात् अपने जीवन को द्विगुण कर सकता है)॥ ३६ ॥

भो० वृ० —समस्तानामिन्द्रियाणां तुषज्वालावत्या युगपदुत्थिता वृत्तिः सा जीवनशब्दवाच्या। तस्याः क्रियाभेदात् प्राणापानादिसंज्ञाभिर्व्यपदेशः। तत्र हृदयान्मुखनासिकाद्वारेण वायोः प्रणयनात् प्राण इत्युच्यते। नाभिदेशात् पादाङ्गुष्ठपर्य्यन्तमपनयनादपान। नाभिदेशं परिवेष्ट्य समन्तान्नयनात् समान। कृकाटिकादेशादाशिरोवृत्तेरुन्नयनादुदानः। व्याप्यनयनात् सर्वशरीरव्यापी व्यानः। तत्रोदानस्य संयमद्वारेण जयादितरेषां वायूनां निरोधादूर्ध्वगतित्वेन जले महानद्यादौ महति वा कर्दमे तीक्ष्णेषु कण्टकेषु वा नसज्जतेऽतिलघुत्वात् तूलपिण्डवज्जलादौ मज्जितोऽप्युद्गच्छतीत्यर्थः॥३६॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भा० वृ०—समस्त इन्द्रियों की वृत्ति भूमि में तुषकी अग्नि के समान एक संग प्रज्वलित होनेवाली है उसी वृत्ति को जीवन कहते हैं उसी वृत्ति के क्रियाभेद से प्राणादिक जुदे जुदे नाम हैं। हृदय से मुख और नासिका के द्वारा वायु का चलाने के कारण प्राण नाम है नाभि से पैर के अंगूठे तक जिसकी गति है उसे अपान कहते हैं नाभि स्थान को वेष्टित करके चारों ओर से जो जीवन शक्ति को ठीक रखती है उसे समान कहते हैं गले के भीतर जो कृकाटिका अर्थात् घाटी है उससे शिर तक जो गमन करता है और शक्ति को स्थिर रखता है उसे उदान कहते हैं व्यापक होने से वायु का नाम व्यान है। उदान में संयम करने से और उसके जीतने से मूलाधार के द्वारा उसकी गति को रोकने से

योगी जल में अर्थात् बडी बडी नदियो में वा महापंक में और शरीर को वेधने वाले काटों मे भी नहीं फँसता है जल पर योगी ऐसे फिरता है जैसे रुई का ढेर तैरता हो ॥ ३९ ॥

सिद्ध्यन्तर का वर्णन करते हैं—

समानजयात्प्रज्ज्वलनम ॥ ४० ॥

सू० प०—(समानजयात्) समान वायु को अपने वश में करने से (प्रज्वज्लनम्) अधिक तेज होता है ॥४०॥

सू० का भा०—समान वायु का वश में करने से योगी का अधिक तेज होता है ॥ ४० ॥

व्या० भा०—जितसमानस्तेजसउपध्मानंकृत्वाज्वलति ॥ ४० ॥

भा० का प०—जीत लिया है समान वायु को जिसने वह योगी तेज की वृद्धि करके जाज्वल्यमान होता है ॥ ४० ॥

भा० का भा०—स्पष्ट है ॥ ४० ॥

३८—पूर्वसूत्रों में लिखी हुई सिद्धि योग का विघ्न है इस कारण से योगी लोग उनके फेर मे नहीं पड़ते हैं किन्तु योगभ्रष्ट ही उनकी इच्छा करते हैं ॥ ४० ॥

भो० वृ०—अग्निनावेष्ट्य व्यवस्थितस्य समानाख्यस्य वायोर्जयात् सयमेन वशीकारान्निरावरणस्याग्नेरुद्भूतत्वात्तेजसा प्रज्वलन्निव योगी प्रतिभाति ॥ ४० ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—शरीर की अग्नि को घेर कर जो समान वायु रहती है उसको संयम से जीतकर अर्थात् अपने वश मे करके योगी ऐसा तेजस्वी ज्ञान पडता है मानो अग्नि का पुञ्ज है ॥४०॥

और सिद्धि कहते हैं—

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥४१॥

सू० का पदार्थ—(श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमात्) कर्ण इन्द्रिय और आकाश में संयम करने से (दिव्य श्रोत्रम्) दिव्यश्रवण होता है ॥ ४१ ॥

सू० का भा०—कर्णेन्द्रिय और आकाश में संयम करने से दिव्यश्रवण अर्थात् दूर देश का भी श्रवण होता है ॥ ४१ ॥

व्या० भा०—सर्वश्रोत्राणामाकाशप्रतिष्ठा सर्वशब्दानां च । यथोक्तम्—तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति तच्चैतदाकाशस्य लिंगम् । अनावरणं चोक्तम् । तथाऽमूर्तस्याप्यनावरणदर्शनाद्विभुत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य । शब्दग्रहणानुमितं श्रोत्रम् । बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति । तस्माच्छ्रोत्रमेव शब्दविषयम् । श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥

भा० का प०—समस्त प्राणियों की कर्णेन्द्रिय का आधार आकाश है और सम्पूर्ण शब्दों का भी आधार आकाश ही है ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है । एक स्थल पर उच्चारित शब्दों का का सुनना सर्वत्र पाया जाता है और यही आकाश का चिन्ह है अर्थात् बिना आकाश के शब्द का कर्ण इन्द्रिय में प्रवेश करना ही असम्भव है और इसी से आकाश का आवरणरहितत्व भी सिद्ध होता है जैसे ही जो पदार्थ अमूर्त अर्थात् रूपरहित है उसकी सर्वव्यापकता भी प्रसिद्ध है किन्तु शब्द के ग्रहण करने का निमित्त

कर्ण ही है क्योंकि बहरा और सुननेवाला इन दोनों में से एक शब्द को ग्रहण करता है और दूसरा नहीं करता इसलिये कर्ण ही शब्द का विषय है कर्णेन्द्रिय और आकाश का जो सम्बन्ध है उसमे संयम करने से दिव्य श्रवण होता है ॥ ४१ ॥

भा० का भा०—सब की कर्णेन्द्रिय का आधार आकाश है और वह अमूर्त्त होने से व्यापक है यदि केवल आकाश ही से शब्द का सम्बन्ध होता तो बहिरे को भी शब्द सुनाई देता किन्तु ऐसा नहीं है इससे प्रतीत होता है कि शब्दग्रहण कर्णेन्द्रिय से होता है। कर्णेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रवण शक्ति होती है ॥ ४१ ॥

भो० वृ०—श्रोत्रं शब्दग्राहकमाहङ्कारिकमिन्द्रियम्। आकाश व्योम शब्दतन्मात्रकार्यम्। तयोःसम्बन्धो देशदेशिभावलक्षणस्तस्मिन् कृत संयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्त्तते युगपत्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—कर्णेन्द्रिय शब्द को ग्रहण करने वाली है, आकाश का जो तन्मात्र शब्द है उसके सम्बन्ध मे संयम करने से योगी को दिव्य श्रोत्र प्राप्त होते हैं अर्थात् सूक्ष्मशब्द व्यवहित छिपे हुए और दूरके शब्दों को सुनने की शक्ति उत्पन्न होती है ॥ ४१ ॥

आगे और सिद्धि कहते हैं—

कायाकाशयोः सम्बधसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(कायाकाशयोः) शरीर और आकाशके (सम्बन्धसंयमात्) सम्बन्ध में संयम करने से

(लघुतूलसमापत्तेश्च) लघु अर्थात् रुई के सदृश आदि पदार्थों की समापत्ति से (आकाशगमनम्) आकाश में गमन सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

सू० का भा०—शरीर और आकाश का जो परस्पर सम्बन्ध है उसमें संयम करने से और लघु पदार्थों के यथार्थ परिज्ञान से योगी को आकाशगमन सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

व्या० भा०—यत्र कायस्तत्राकाशं तस्यावकाशदानात् कायस्य तेन सम्बन्धः प्राप्तिस्तत्र कृतसंयमो जित्वा तत्सम्बन्धं लघुषु तूलादिष्वापरमाणुभ्यः समापत्तिं लब्ध्वा जितसम्बन्धो लघुर्भवति । लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति । ततस्तूर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति ॥ ४२ ॥

भा० का प०—जहाँ २ शरीर होता है वहाँ २ आकाश भी अवश्य होता है क्योंकि आकाश शरीर को अवकाश देने वाला है अर्थात् आकाश और शरीर का आधाराधेयभाव सम्बन्ध है इस हेतु से आकाश और शरीर का सम्बन्ध है उस सम्बन्ध में संयम करने वाला काया और आकाश के सम्बन्ध को जीतकर लघु या रुई आदि इनमें ज्ञान प्राप्त करके गुरुता के सम्बन्ध को जीत कर योगी लघु हो जाता है लघु होने से पैरों से जल में विहार करता है तत्पश्चात् ऊर्णनाभितन्तु अर्थात् मकड़ी के जाले पर विहार करता है तब योगी को निर्विघ्न आकाशगति होती ४२

भा० का भा०—आकाश और काया का जो आधाराधेय भाव सम्बन्ध है उसमें संयम करने से और लघु पदार्थों का पूर्ण

ज्ञान प्राप्त करने से योगी के शरीर की गुरुता नष्ट हो जाती है और उसके नष्ट होने से योगी जल के ऊपर गमनागमन कर सकता है फिर ऊर्णातन्तु से किरणों पर विहार करने की शक्ति प्राप्त करके स्वच्छन्द आकाशगमन सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

भो० वृ०—कायः पाञ्चभौतिक शरीर तस्याकाशेनावकाशदायकेन यः सम्बन्धस्तत्र संयम विधाय लघुनि तूलादौ समापत्ति तन्मयी भावलक्षणाच विधाय प्राप्तातिलघुभावो योगी प्रथमं यथारुचि जले सञ्चरन्क्रमेणोर्णनाभितन्तुजालेन सञ्चरमाण आदित्यरश्मिभिश्च विहरन यथेष्टमाकाशेन गच्छति ॥ ४२ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—पाँचभौतिक शरीर को काया कहते हैं उसका जो अवकाश देने वाले आकाश के साथ सम्बन्ध है उसमे संयम और रुई आदि हल्की वस्तुओं की समानता में विशेष भावना करके योगी प्रथम जल पर फिर मकड़ी के जाले पर विहार करे पश्चात् सूर्य्य की किरणों पर विहार करके अपनी इच्छानुसार आकाश में गमन कर सकता है ॥ ४२ ॥

आगे और सिद्धि कहते हैं—

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(बहिरकल्पिता वृत्तिः) शरीर से बाहर जो मनकी स्वाभाविक वृत्ति है (महाविदेहा) उसका नाम महाविदेहा है (ततः प्रकाशावरणक्षयः) उसमें प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता ॥ ४३ ॥

सू० का भा०—मन की जो अकल्पित बाह्य वृत्ति है जिसको महा विदेहावृत्ति कहते हैं उसमें संयम करने से प्रकाश के आवरण का क्षय हो जाता है ॥ ४३ ॥

व्या० भा०—शरीराद्बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा । सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते । या तु शरीरनिरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता । तत्र कल्पितया साधयन्त्यकल्पितां महाविदेहामिति । यया परशरीराण्याविशन्ति योगिनः । ततश्च धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावरणं क्लेशकर्मविपाकत्रयं रजस्तमोमूलं तस्य च क्षयो भवति ॥ ४३ ॥

भा० का प०—शरीर से बाहर जो मन की वृत्ति पाई जाती है उस धारणा का नाम विदेहा है शरीर में जो स्थित मन है उसकी बाह्यवृत्ति मात्र से जो होती है उस वृत्ति का नाम कल्पिता है और जो शरीर की अपेक्षा न रखती हुई बहिर्भूत हुए मन की बाह्य वृत्ति है अकल्पित वृत्ति है । इन दोनों कल्पित और अकल्पित वृत्तियों में कल्पितवृत्ति द्वारा अकल्पित महाविदेहा की साधना की जाती है जिसके द्वारा योगिजन पर शरीर में प्रविष्ट होते हैं उस महा-विदेहा धारणा से प्रकाश स्वरूप जो बुद्धि है उसके जो आवरण क्लेश कर्म और कर्म के फल हैं जो रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होते हैं उस आवरण त्रय का नाश हो जाता है ॥ ४३ ॥

भा० का भा०—मन की दो प्रकार की वृत्ति बाह्य विषय में होती है एक कल्पित दूसरी अकल्पित । इनमें से अकल्पित को महाविदेहा वृत्ति कहते हैं जो कल्पित वृत्ति के द्वारा स्थिर की

जाती है। जो योगियों का पर शरीर मे प्रवेश होता है वह केवल इस वृत्ति का परिणाम है जब इस वृत्ति मे योगी स्थिर होता है तब उसकी बुद्धि के आवरणत्रय क्लेश, कर्म और विपाक का क्षय होता है ॥ ४३ ॥

भो० वृ०—शरीराद्बहिर्या मनसः शरीरनैरपेक्ष्येण वृत्तिः सा महाविदेहा नाम विगतशरीराहङ्कारदार्ढ्यद्वारेणोच्यते। ततस्तस्या कृतात् संयमात् प्रकाशावरणक्षयः सात्विकस्य चित्तस्य यः प्रकाशस्तस्य यदावरणं क्लेशकर्म्मादि तस्य क्षयः प्रविलयो भवति। अयमर्थः—शरीराहङ्कारे सति या मनसो बहिर्वृत्तिः सा कल्पितेत्युच्यते। यदा पुनः शरीराहङ्कारभावं परित्यज्य स्वातन्त्र्येण मनसो वृत्तिः साः साऽकल्पिता, तस्या संयमाद्योगिन सर्वे चित्तमलाः क्षीयन्ते ॥ ४३ ॥

तदेवं पूर्वान्तविषयाः परान्तविषया मध्यभवाश्च सिद्धीः प्रतिपाद्यानन्तरं भुवनज्ञानादिरूपा बाह्याः कायव्यूहादिरूपा आभ्यन्तराः परिकर्म्मनिष्पन्नभूताश्च मैत्र्यादिषु बलानीत्येवमाद्या. समाध्युपयोगिनीश्चान्तःकरणबहिःकरणलक्षणेन्द्रियभवाः प्राणादिवायुभवाश्च सिद्धीश्चित्तदार्ढ्यात् समाधौ समाश्वासोत्पत्तये प्रतिपाद्येदानीं स्वदर्शनोपयोगिसबीजनिर्बीजसमाधिसिद्धये विविधोपायप्रदर्शनायाह—

भो० वृ० का भा०—शरीर से बाहर शरीर के आश्रय की अपेक्षा न रखनेवाली जो मनकी वृत्ति है उसे महाविदेहा कहते हैं क्योंकि उससे अहकार का वेग दूर हो जाता है, उस वृत्ति मे जो योगी सयम करता है उससे प्रकाश का ढकना दूर हो जाता है अर्थात् सात्विक चित्त का जो प्रकाश है उसको ढकने वाले अविद्यादि क्लेश और कर्म्म क्षय हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जब तक शरीर का अहकार रहता है तब तक जो मन की बाह्य वृत्ति रहती है उसे कल्पिता कहते हैं। फिर जब शरीर के अहकार को

त्याग कर स्वतन्त्रभाव से मन की वृत्ति बाहर रहती है उसे अक-
ल्पिता कहते हैं उस अकल्पिता वृत्ति में संयम करने से योगी के
चित्त के मल सब दूर हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

इस प्रकार से पूर्वोक्त विषय परान्त विषय और मध्य भाव की सिद्धियों का वर्णन करके फिर भुवनज्ञानरूपादि बाह्य कायव्यूह आदि आभ्यन्तर परिकर्म की सिद्धि करने वाले मैत्री आदि से मैत्री आदि का बल वर्णन करके समाधि में सहायता देने वाले अन्तःकरण और बाह्यकरण रूप इन्द्रियों के भावों का तथा प्राणादि वायुभावों की सिद्धियों का चित्त की दृढ़ता का वर्णन करके अब सबीज और निर्बीज समाधि सिद्धि के निमित्त विविध भांति के उपायों का भाग वर्णन करते हैं—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ।४४

सू० का प०—(स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमात्) स्थूल गुण अर्थात् गन्धादि तत्त्व भूत सम्बन्धी परमाणुओं का समूह सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्व अर्थात् पञ्चतत्त्वों की तन्मात्रा इनके संयम से (भूतजयः) भूतों का जय होता है ॥४४॥

सू० का भा०—पञ्च तत्त्व के गुण स्वरूप तथा तन्मात्रा में संयम करने से भूतजय प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

तत्र पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहाकारादिभिर्धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाषिताः । एतद्भूतानां प्रथमं रूपं द्वितीयं रूपं स्वसामान्यं मूर्त्तिर्भूमिः स्नेहो जलं वह्निरुष्णता वायुः प्रणामी सर्वतो गतिराकाश इत्येतत् स्वरूपशब्देनोच्यते

अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः । तथा चोक्तम्—

एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिरिति ।

सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम् । द्विष्ठो हि समूहः प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति, शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूह उभये देवमनुष्याः । समूहस्य देवा एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागस्ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः स च भेदाभेदविवक्षितः । आम्राणां वनं ब्राह्मणानां संघ आम्रवनं ब्राह्मणसंघ इति । स पुनर्द्विविधो युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च । युतसिद्धावयवःसमूहो वनं संघ इति । अयुतसिद्धावयवः संघातः शरीरं वृक्षः परमाणुरिति । अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः । एतत् स्वरूपमित्युक्तम् । अथ किमेषां सूक्ष्मरूपं तन्मात्रं भूतकारणं तस्यैकोऽवयवःपरमाणुः सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदाय इत्येव सर्वतन्मात्राणि एतत्तृतीयम् । अथ भूतानां चतुर्थं रूपं ख्यातिक्रियास्थितिशीलाः गुणाः कार्यस्वभावानुपातिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः । अथैषां पंचमं रूपमर्थवत्त्वं भोगापवर्गार्थता गुणेष्वेवान्वयिनी, गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत् । तेष्विदानीं भूतेषु पंचसु पञ्चरूपेषु संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति । तत्र पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयी भवति तज्जयाद्वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य संकल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति ॥ ४४ ॥

भा० का प०—पृथ्वी आदि के शब्दादि विशेष गुण पृथ्वी आदि आकारादि धर्म के साथ युक्त होने से स्थूल कहे जाते हैं तत्त्वों का यह प्रथम रूप है तत्त्वों का द्वितीय रूप सामान्य है अर्थात् पृथ्वी की मूर्ति, जल का स्नेह, अग्नि का दाह और प्रकाश वायु का वहन और आकाश का विभुत्व ये सब स्वरूप शब्द से गृहीत होते हैं उक्त सामान्य रूप के शब्दादि विशेष रूप हैं ऐसा कहा भी है ये पंच भूत एक जाति अर्थात् भूतत्व गुण से एक हैं परन्तु अन्य धर्मों से भिन्न हैं सामान्य और विशेष का समुदाय ही द्रव्य है समूह दो प्रकार का है एक जिसमें भेद की उपलब्धि न हो जैसे शरीर, वृक्ष, यूथ और वन है इनमें अवयव सामान्य द्रव्य और विशेष है। दूसरा शब्द के कथन से अवयवगत समूह भेद समझा जाता है जैसे देव और मनुष्यों का एक समुदाय कथन से बोध होता है कि इस समुदाय के देवता लोग एक भाग हैं और मनुष्य दूसरा भाग है। इन दोनों से समूह कहलाता है और वह भेद और अभेद की विवक्षा रखता है। जैसे आम के वृक्षों का वन ब्राह्मणों की सभा यह फिर दो प्रकार का है पहले के उदाहरण वन और संघ है दूसरे के उदाहरण शरीर, वृक्ष और परमाणु हैं। एक युतसिद्धावयव दूसरा अयुतसिद्धावयव। पतंजलि ऋषि के मत में अयुत सिद्धावयव को ही द्रव्य कहते हैं इनका सूक्ष्म रूप क्या है ? तन्मात्राओं का जो मूल कारण है वह सूक्ष्म-रूप है उसका एक अवयव परमाणु कहलाता है। (सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदायः) सामान्य और विशेषरूप अयुतसिद्धावयव भेदानुगतसमुदाय पञ्चतत्त्व का तन्मात्र इनका तीसरारूप है तत्त्वों का चतुर्थ रूप अर्थात प्रकाश क्रिया और स्थिति स्वभाववाले गुण हैं। तत्त्वों का पांचवां रूप अर्थवत्ता है भोग और मोक्षरूप जितने अर्थ हैं वे सब तत्त्वों के गुणों

से सम्बन्ध रखते हैं गुण तत्वो के तन्मात्रों से सम्बन्ध रखते हैं इस क्रम से सब मे अर्थवत्ता है पंचभूत और उनके पाचरूपो मे संयम करने से उस उस रूप का दर्शन होता है और उसमे जय लाभ होता है पचभूतों के स्वरूपों का जीतकर तत्वो की जय होती है भूतजय से प्रकृति ऐसी दयालु होती है जैसे गौ अपने बच्चे को प्रेम से दूध देती है ॥ ४४ ॥

भा० का भा०—पचतत्वों के पाच प्रकार के रूप हैं उनमे संयम करने से समस्तभूतप्रकृति योगी की इच्छा को पूर्ण करने करने वाली हो जाती है जैसे गौ अपने बच्चे की इच्छा पूर्ण करने वाली होती है।॥ ४४ ॥

भो० वृ०—पञ्चानां पृथिव्यादीना भूतानां ये पञ्चावस्था विशेषरूपा धर्माः स्थूलत्वादयस्तत्र कृतसंयमस्य भूतजयो भवति। भूतानि अस्य वश्यानि भवन्तीत्यर्थः तथा हि भूताना परिदृश्यमान विशिष्टाकारवत् स्थूलरूपं स्वरूपञ्चैषा यथाक्रमं कार्य्यं गन्धस्नेहोष्णताप्रेरणामकाशदानलक्षणं कारणत्वेन व्यवस्थितानि गन्धादितन्त्राणि। अन्वयिनो गुणाः प्रकाश प्रवृत्तिस्थितिरूपतया सर्वत्रैवान्वयित्वेन समुपलभ्यन्ते। अर्थवत्व तेष्वेव गुणेषु भोगापवर्गसम्पादनाख्या शक्तिः। तदेवं भूतेषु पञ्चसूक्ष्मलक्षणावस्थाभिन्नेषु प्रत्यवस्थं संयमं कुर्वन् योगी भूतजयी भवति। तद्यथा प्रथमं स्थूलरूपे संयमं विधाय तदनुसूक्ष्मरूपे इत्येवं क्रमेण तस्य कृतसंयमस्यसंकल्पार्थविधायिन्यो वत्सानुसारिण्य इव गावो भूतप्रकृतयो भवन्तीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

तस्यव भूतजयस्य फलमाह—

भो० वृ० भा०—पृथिवी आदि पंचभूतों की जो पाच स्थूल आदि विशेष अवस्था हैं उनमें सयम करने से योगी को भूतजय प्राप्त होता है अर्थात भूत (तत्व) योगी के वश मे हो जाते हैं

भूतों का प्रत्यक्ष होता। विशेष स्थूलरूप इन भूतों के क्रमशः शब्द गन्ध आदिक और स्थूलरूप के कारण तन्मात्रा इनके सम्बन्धी गुण जो प्रकाश प्रवृत्ति और स्थिति रूप से सब भूतों में पाये जाते हैं भूतों की अर्थवत्तात्मक तत्वों में जो भोग और मोक्ष-साधन की शक्ति रहती है इस प्रकार से पंचभूतों की अवस्थाओं को जानकर जो योगी इनमें संयमी करता है ऐसे योगी को भूतों की प्रकृति ऐसी इष्ट फल देने वाली होती है जैसे गौ अपनी बछड़े को दुग्ध देती है ॥ ४४ ॥

आगे भूतजय का फल कहते हैं—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्म्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

प० का प०—(ततः) इसके अनन्तर (अणिमादिप्रादुर्भावः) अणिमादि सिद्धियों का प्रकाश (कायसम्पत्) शरीर सम्बन्धी सब सम्पत्ति प्राप्त होती है (च) और (तद्धर्मानभिघातः) शरीर के गुणों का नाश नहीं होता ॥ ४५ ॥

सू का भा०—भूतजय के अनन्तर (योगी को) अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति और शारीरिक सम्पत्ति का विकास होता है और शारीरिक गुण अविनाशी हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

व्या० भा० तत्राणिमा भवत्यणुः। लघिमा लघुर्भवति। महिमा महान् भवति। प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राकाम्यमिच्छानभिघातः। भूमावुन्मज्जति

निमज्जति यथोदके वशित्वं भूतभौतिकं वशो भवत्यवश्यश्चान्येषाम्। ईशित्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे यत्र कामावसायित्वं सत्यसंकल्पता यथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामस्थानम्। न च शक्तोऽपि पदार्थं विपर्यासंकरोति कस्मात् अन्यस्य! यत्र कामावसायिनः पूर्वसिद्धस्यतथा भूतेषुसंकल्पादिति एतान्यष्टावैश्वर्याणि कायसम्पद्वक्ष्यमाणा तद्धर्मानभिघातश्च पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां शिलामप्यनुविशतीति नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति नाग्निरुष्णो दहति न वायुः प्रणामी वहति अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्यदृश्यो भवति॥ ४५॥

भा० का प०—अणिमा सिद्धि वह है जिससे योगी अणु के समान सूक्ष्म हो जाता है लघु होने से लघिमा कहते हैं जिस सिद्धि के द्वारा महान् होता है उसे महिमा कहते हैं, प्राप्ति सिद्धि उसे कहते हैं जिससे योगी आकाशगामी चन्द्रलोक को भी स्पर्श कर सकता है प्राकाम्य सिद्धि उसे कहते हैं जिससे योगी की इच्छा पूर्ण होती है पृथ्वी में इस रीति से डूबता है जैसे जल में पचभूत और समस्त भौतिक पदार्थ उसके वश में होते हैं और वह किसी के वश में नहीं रहता है इस सिद्धि को वशित्व कहते हैं, ईशित्व सिद्धि वह है भूत भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, प्रलय और स्थिति मे समर्थ जहाँ इच्छा का अन्त हो, वहाँ तक इच्छानुसार प्रकृति की स्थिति होती है समर्थ होने पर भी योगी पदार्थों को उल्टा पुल्टा अर्थात् सृष्टिक्रम विरुद्ध नहीं करता है क्योंकि और लोगों

की इच्छाभङ्ग रूप दोष का भय रहता है ये आठ ऐश्वर्य वा सिद्धि हैं अगले सूत्र में जो कही जायगी उन्हें कायसम्पत् कहते हैं तद्धर्मानभिघात का अर्थ यह है कि योगी की शारीरिक क्रियाओं को काठरूप पृथ्वी नहीं रोक सकती कठोर पाषाण में भी योगी प्रवेश कर सकता है, जल उसको भिगो नहीं सकता अग्नि भी योगी को नहीं जला सकता, न हवा सुखाने वाली चलती है जो आकाश किसी का नहीं छिपाता उसमें योगी का शरीर छिप जाता है अर्थात् योगी सिद्धों के नेत्रों से भी अदृश्य हो जाता ॥ ४५ ॥

भा० का भा०—भूतजय के अनन्तर योगी को अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है—अणिमा से अणु और लघिमा से लघु महिमा से महान् होता है प्राप्ति से योगी की वह शक्ति बढ़ती है जिससे योगी चन्द्रमा को अंगुली से स्पर्श कर सकता है अर्थात् पूर्व जो आकाश गमन कहा था उसके द्वारा ही योगी चन्द्रस्पर्शादि कठिनतर कार्य्य कर सकता है। प्राकाम्य का अर्थ है कि इच्छा पूरी होना, वशित्व वह सिद्धि है जिससे प्राणिमात्र वश में में हो जाँय और आप किसी के वश में न रहे (यहाँ वश होने से दासत्वादि का प्रयोजन नहीं है) ईशित्व का अर्थ है कि प्राणियों की उत्पत्ति लय और स्थिति को जानता है योगी के संकल्प के अनुकूल ही पदार्थ हो जाता है। परन्तु इसमें शंका होती है कि जो योगी को पदार्थों के उलट पुलट करने की शक्ति होती है तो इस जगत् के पदार्थों में विपर्य्यय क्यों नहीं करता ? इसका समाधान यह है कि योगी समर्थ होने पर भी नियम विरुद्ध कार्य्य नहीं करता सब सिद्धों का सिद्ध परम योगी परमेश्वर है उसके संकल्प में विघ्न होगा जो सर्वथा असम्भव है ॥ ४५ ॥

भा० सू०—अणिमा परमाणुरूपतापत्तिः। महिमा महत्त्वम्।

लघिमा लघुत्वं तूलपिण्डवल्लघुत्वप्राप्तिः। गरिमा गुरुत्वप्राप्तिः अङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनशक्तिः। शरीरान्तः करणेश्वरत्वमीशित्वम्। सर्वत्र प्रभविष्णुता वशित्वं, सर्वाण्येव भूतानि अनुगामित्वात्तदुक्तं नातिक्रामन्ति। यत्र कामावसायो यस्मिन् विषयेऽस्य कामः स्वेच्छाभवति तस्मिन् विषये योगिनोऽध्यवसायो भवति तं विषयं स्वीकारद्वारेणाभिलाषसमाप्तिपर्य्यन्तंनयतीत्यर्थः। त एतेऽणिमाद्याः समाध्युपयोगिनीभूतजयाद्योगिनः प्रादुर्भवन्ति। यथा परमाणुत्वं प्राप्तो वज्रादीनामप्यन्तः प्रविशति। एवं सर्वत्र योज्यम्। एतेऽणिमादयोऽष्टौ गुणा महासिद्धय उच्यन्ते। कायसम्पद्वक्ष्यमाणा तां प्राप्नोति। तद्धर्मानभिघातश्च तस्य कायस्य ये धर्मा रूपादयस्तेषामनभिघातो नाशो न कुतश्चित् भवति। नास्य रूपमग्निर्दहति न वायुः शोषयतीत्यादि योज्यत्॥ ४५॥

कायसम्पदमाह—

भो० वृ० का भा०—अणिमा का अर्थ है कि परमाणुवत् सूक्ष्म हो जाना, महिमा का अर्थ महान् होना, लघिमा का अर्थ लघु या हलका होना है, गरिमा का अर्थ गुरुत्व वा भारीपन की प्राप्ति, प्राकाम्य का अर्थ इच्छा की पूर्त्ति है, ईशित्व का अर्थ शरीर और अन्तःकरण पर प्रभुता की प्राप्ति अर्थात् इनको अपने वश मे कर लेना। सबको अपने वश में कर लेना अर्थात् कोई प्राणी इसके वचन का उल्लंघन नहीं कर सकता है। यर्थात् जिस विषय की योगी इच्छा करता है वही विषय योगी को प्राप्त होता है। कहीं भी योगी की इच्छा का अभिघात नही होता, इन अणिमादिक के समाधि में उपकारक होने से योगी को भूतजय प्राप्त होता है जैसे अणु होने से अत्यन्त कठोर वज्र में भी योगी प्रवेश कर सकता है ऐसे ही और सिद्धियों में भी समझना चाहिये, यह अणिमादि आठ महासिद्धि कहलाती हैं इनके पश्चात् कायसम्पत् जिनका

बयान आगे होगा उनकी प्राप्ति होती है इसके पश्चात् शरीर के जो रूपादि गुण हैं उनका कभी नाश नहीं होता अर्थात् योगी का शरीर अग्नि में नहीं जलता, वायु में नहीं सूखता ऐसे ही अन्यत्र भी समझना ॥ ४५ ॥

काया की सम्पत्तियों का वर्णन करते हैं—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥४६॥

सू० का प०—स्पष्ट है ॥ ४६ ॥

सू० का भा०—रूप में मनोहरता बल में वज्रसंहनन अर्थात् वज्रादि के समान अच्छेद्य होना यह कायसम्पत् कहलाती है ॥४६॥

व्या० दे० कृ० भा०—दर्शनीयः कान्तिमान् अतिशयबलः वज्रसंहननश्चेति ॥ ४६ ॥

भा० का प०—मनोहर रूपवान् तेजस्वी अधिक बल वाला वज्र के समान अच्छेद्य होता है ॥ ४६ ॥

भा० का भा०—स्पष्ट है ॥ ४६ ॥

भो० वृ०—रूपलावण्यबलानि प्रसिद्धानि वज्रसंहननत्वं वज्रवत् कठिना संहतिरस्य शरीरे भवतीत्यर्थः । इति कायस्याविर्भूत-गुणसम्पत् ॥ ४६ ॥

एवं भूतजयमभिधाय प्राप्तभूमिकायामिन्द्रियजयमाह—

भो० वृ० का भा०—रूप और लावण्य (सलोनापन वा मनोहरता) प्रसिद्ध हैं वज्र संहननत्व का अर्थ यह है कि वज्र के समान योगी का कठोर शरीर हो जाता है यही काया की प्रत्यक्ष सम्पत्ति है ॥ ४६ ॥

भूतजय का वर्णन करके जब योगी को भूमि प्राप्त हो जाती है तब इन्द्रियों में जय प्राप्त होती है इसका वर्णन आगे करते हैं ।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः

सू० का प०—(ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमात्) ग्रपण अर्थात् जिनसे पदार्थ ज्ञान होता है इन्द्रिय, स्वरूप–अर्थात् बुद्धि अस्मिता–अहंकार, इन्द्रियों के गुण और वासना इन पाँचों में संयम करने से (इन्द्रियजयः) इन्द्रियाँ वश में होती हैं ॥ ४७ ॥

सू० का भा०—इन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार, गुण और वासना में संयम करने से योगी की समस्त इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं ।४७।

व्या० भा०—सामान्यविशेषात्मा शब्दादिग्राह्यः । तेष्विन्द्रियाणां वृत्तिर्ग्रहणम् । नच तत्सामान्यमात्रग्रहणाकारङ्कथमनालोचितः सविषयविशेष इन्द्रियेण मनसाऽनुव्यवसीयेतेति । स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य सामान्यविशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदानुगतःसमूहो द्रव्यमिन्द्रियम् तेषां तृतीयं रूममस्मितालक्षणोऽहंकारः । तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि विशेषाः । चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मकः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा येषामिन्द्रियाणि साहङ्काराणि परिणामः । पञ्चमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थवत्त्वमिति । पञ्चस्वेतेष्विन्द्रियरूपेषु यथाक्रमेण संयमस्तत्र तत्र जयं कृत्वा पञ्चरूपजयादिन्द्रियजयः प्रादुर्भवति योगिनः ॥ ४७ ॥

भा० का प०—सामान्य और विशेपरूप से शब्दादिक जितने विषय हैं सब ग्राह्य हैं उन ग्राह्य विषयों में जो इन्द्रियों की वृत्ति

जाती है उस वृत्ति को ग्रहण कहते हैं परन्तु वह वृत्ति सामान्य ग्रहणाकार नहीं है किस २ रीति से बिना विचार विषय वा मन इन्द्रियों से गृहीत हो सकता है इससे प्रथम जो ग्रहण द्वारा विषय गृहीत होता है वह प्रथम स्वरूप भूतों का कहलाता है और मन द्वारा जो विचार होता है वह द्वितीयरूप है फिर ज्ञान स्वरूप जो बुद्धि वह तृतीय रूप है अहंकार चतुर्थ रूप है अमुक कार्यों में स्पष्ट प्रकाश करनेवाले और स्थिर स्वभाव वाले जिनके अहंकार सहित सब इन्द्रियाँ कार्य हैं यह इन्द्रियों का पञ्चम रूप है गुणों के संग जो पुरुषार्थता अर्थात् उपयोग है इन्द्रियों के पाँचों रूपों में जय करने से इन्द्रियों का जय लाभ होता है ॥ ४७ ॥

भा० का भावार्थ—इन्द्रियों के जो ५ प्रकार के रूप अर्थात् ग्रहण स्वरूप अस्मिता अन्वय और अर्थवत्त्व इनमें संयम करके योगी को उचित है कि समाधि से जयलाभ अर्थात् उनको अपने वश में करके समस्त इन्द्रियों को जीते ॥ ४७ ॥

भो० वृ०—ग्रहणमिन्द्रियाणां विषयाभिमुखी वृत्तिः। स्वरूपं सामान्येन प्रकाशकत्वम्। अस्मिता अहंकारानुगमः। अन्वयार्थवत्त्वे पूर्ववत्। एतासामिन्द्रियाणामवस्थापञ्चके संयमं कृत्वा इन्द्रियजयी भवति ॥ ४७ ॥

तस्यफलमाह—

भो० वृ० का भा०—इन्द्रियों की जो विषयों की ओर प्रवृत्ति होती है उसे ग्रहण कहते हैं स्वरूप का अर्थ सामान्यता से प्रकाश करना है अस्मिता का अर्थ अहंकार है अन्वय और अर्थवत्त्व पहले कहे गये। इन्द्रियों की इन पाँच अवस्थाओं से पूर्ववत् क्रम से संयम करने से योगी को जितेन्द्रियत्व प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

इन्द्रिय जय का फल कहते हैं—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।४८

सू० का प०—(ततः) इन्द्रिय जय के अनन्तर (मनोजवित्वम्) उत्तम गति (विकरणभावः) इन्द्रियों के अनुकूल वृत्ति की प्राप्ति (प्रधानजयश्च) और प्रकृति के सब विकार वश में होते हैं ॥ ४८ ॥

सू० का भा०—तब इन्द्रियजय विकरणभाव और प्रधानजय होता है ॥ ४८ ॥

व्या० दे० का भा०—कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम् विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतदेशकालविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः। सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इत्येतास्तिस्र सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते एताश्च करणपञ्चकरूपजयादधिगम्यन्ते ॥ ४८ ॥

भा० का प०—शरीर की उत्तम गति को प्राप्त होना मनोजवित्व कहलाता है देहरहित अर्थात् अन्तर्वृत्तिवाली इन्द्रियो का जो इष्टस्थल समय और विषय की वृत्ति है उसकी प्राप्ति का विकरणभाव कहते हैं प्रकृति के विकारो के जीतने को प्रधानजय कहते हैं यह तीनों सिद्धियाँ मधुप्रतीक कहलाती हैं यह तीनों सिद्धि पूर्वोक्त करण अर्थात् ग्रहण पञ्चक के जीतने से होती हैं ॥ ४८ ॥

भो० का भा०—काया की उत्तम गति मनोजवित्व कहलाती है इन्द्रियो की इष्ट गति प्राप्ति का विकरणभाव और प्रकृति विकारों के जीतने को प्रधान जय कहते हैं इन तोनों सिद्धियों का नाम मधु प्रतीका है यह पूर्वोक्त पाँच करण के जय से प्राप्त होती है ४८

भो० वृ०—शरीरस्य मनोवदनुत्तमगतिलाभो मनोजवित्वम्।

कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभो विकरणभावः। सर्ववशित्वं प्रधानजयः। एताः सिद्धयो जितेन्द्रियस्य प्रादुर्भवन्ति। ताश्चास्मिन् शास्त्रे मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते। यथा मधुन एकदेशोऽपि स्वदते एवं प्रत्येकमेताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः॥ ४८॥

इन्द्रियजयमभिधायान्तःकरणजयमाह—

भा० सू० का भा०—मन की गति के समान शरीर में भी उत्तम गति की प्राप्ति को मनोजवित्व कहते हैं शरीर के सम्बन्ध को त्याग कर जो इन्द्रियों की वृत्ति का पाना। उसे विकरणभाव कहते हैं सबके वश करने वाले को प्रधानजय कहते हैं। इन्द्रियों का जीतने वाले योगी को यह सब सिद्धि प्राप्त होती हैं, इन सब सिद्धियों को योग दर्शन में मधुप्रतीक लिखा है जैसे मधु (शहद) स्वाद देता है एसे ही इसमें से प्रत्येक सिद्धि स्वाद देती है इसी कारण यह मधुप्रतीक कहलाती है ॥ ४८ ॥

इन्द्रियों की जय का वर्णन करके अन्तः करण की जय का वर्णन करते हैं—

सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

सू० का प०—(सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य) सत्व जो बुद्धि वह जब निर्मल होकर केवल परमेश्वर के चिन्तन ही में लय हो तो उस योगी को (सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्) जितने भाव अर्थात् गुण हैं वे सब प्राप्त होते हैं (सर्वज्ञातृत्वं च) और सब गुणों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

सू० का भा०—जब योगी की बुद्धि सब विषयों के त्याग से निर्मल होकर केवल ईश्वर चिन्तन में लय होती है तब उसे सर्व-भावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

व्या० दे० का भा०—निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धि-सत्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृ-त्वम्। सर्वात्मानो गुणा व्यवसायव्यवसयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनोपस्थिता इत्यर्थः। सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थि-तानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः। इत्येषा विशोका नाम सिद्धिः यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेश-बन्धनो वशी विहरति ॥ ४९ ॥

भा० का प०—धोये गये हैं रजोगुण और तमोगुण के मल जिस सत्वगुण विशिष्ट बुद्धि के परम विशारद वशीकार सञ्ज्ञा में वर्तमान योगी को सर्व भावों में स्वामीपन प्राप्त होता है अर्थात् आत्मा के व्यवसाय और व्यवसेयात्मक जितने गुण हैं वे सब अपने स्वामी क्षेत्रज्ञ को दृश्यपन से प्राप्त होते हैं सर्वज्ञता का अर्थ यह है कि आत्मा के शान्त व्यापार रहित, उदित सचेष्ट और अव्यपदेश्य--अनिवर्चनीय जितने गुण हैं उनका क्रम रहित विवेक से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान उसी का नाम सर्वज्ञता है। यह विशोका नाम सिद्धि है जिसको पाकर योगी सर्वज्ञ बन्धन रहित जितेन्द्रिय होकर विचरता है ॥ ४९ ॥

भा० का भा०—जब बुद्धि निर्मल होती है और योगी केवल

ईश्वर के चिन्तन में तत्पर रहता है तब योगी को सर्वभावाधिष्ठातृत्व अर्थात् आत्मा के समस्त गुणों में स्वामिभाव प्राप्त होता है और सर्वज्ञता अर्थात् आत्मा के समस्त गुणों के द्वारा विवेक की उत्पत्ति और उससे सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस सिद्धि का नाम विशोका है और इसकी प्राप्ति से योगी सर्वज्ञ और बन्धनरहित होकर विचरता है ॥ ४६ ॥

भा० सू०—तस्मिन् शुद्धे सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्य या सत्त्वपुरुषयोरन्यता विवेकख्यातिर्गुणानां कर्तृत्वाभिमानशिथिली भावरूपा तन्माहात्म्यात् तत्रैव स्थितस्य योगिनः सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वंच समाधेर्भवति। सर्वेषां गुणपरिणामानां भावानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वभावाधिष्ठातृत्वं तेषामेव च शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेनावस्थितानां यथावद्विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वमस्यां चास्मिन् शास्त्रपरस्यां वशीकारसंज्ञायां प्राप्तायां विशोका नाम सिद्धिरित्युच्यते ॥ ४६ ॥

क्रमेण भूमिकान्तरमाह—

भा० सू० भा०—उस विज्ञानरूप सात्त्विक परिणाम से संयम करने से जो सत्त्व और पुरुष का विवेक उत्पन्न होता है उसे अन्यताख्याति कहते हैं। अंतःकरण के गुणों की जो कर्तृत्व अभिमान की शिथिलता है उसमें संयम करने से योगी को सर्वाधिष्ठातृत्व सर्वज्ञातृत्वरूप समाधि होती है। सर्वाधिष्ठातृत्व का अर्थ यह है कि गुणों के जितने परिणाम हैं उनके स्वामीपन को प्राप्त कर लेना, उन्हीं गुणों के जो शान्त उदित और अव्यपदेश्य धर्म हैं उनमें जो यथार्थ विवेक ज्ञान होता है उसको सर्वज्ञातृत्व कहते हैं जब इनको योगी प्राप्त कर लेता है तब यह सिद्धि विशोका कही जाती है ॥ ४६ ॥

आगे दूसरी भूमिका कहते हैं—

तद्वैराग्यादपिदोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥५०॥

सू० का प०—(तद्वैराग्यादपि) उक्त सिद्धियों के वैराग्य से (दोषबीजक्षये) दोषों के बीज नाश हो जाने से (कैवल्यम्) कैवल्य-मोक्ष होता है ॥ ५० ॥

सू० का भा०—सिद्धियों के वैराग्य से जब दोषों का बीज नष्ट हो जाता है तब योगी कैवल्य को प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

व्या भा०—यदास्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्मः सत्वञ्च हेयपक्षे न्यस्तम्, पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोऽन्यः सत्वादिति । एवमस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिबीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति । तेषु प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते, तदेतेषां गणानां मनसि कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानां प्रतिरूसवे पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः, कैवल्यं, तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति ॥ ५० ॥

भा० का प०—जब योगी को ऐसा होता है क्लेश रूपी कर्मों के नाश होने से बुद्धि का विवेक ज्ञान रूपी धर्म सत्व को हेयपक्ष में रखकर पुरुष को अपरिणामी और शुद्ध तथा बुद्धि से भिन्न समझता है एसा मानकर योगी जब जगत् से उपरत होता है तब उसके सब क्लेशों के बीज ऐसे हो जाते हैं जैसे जले हुए धानों के बीज फिर उत्पन्न होने के योग्य नहीं रहते। तब मनके अर्थात् संकल्प विकल्प सहित अस्त होजाने से मनुष्य फिर आधिभौतिक

आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों में नहीं फँसता । जब गुण जो मनमें क्लेश कर्म और कर्मफल के रूप से रहते हैं दग्ध बीज हो ज्ञान से पुरुष का गुणों से अत्यन्त वियोग हो जाता है इस अवस्था को कैवल्य, स्वरूप प्रतिष्ठ वा चितिशक्ति कहते हैं ॥५०॥

भा० का भा०—जब योगी को विवेकख्याति अर्थात् विवेक ज्ञान होता है तब योगी को कैवल्य प्राप्त होता है अर्थात् जब योगी विवेक ज्ञान का लाभ करके जगत् से उपरत होता है तब उसको कैवल्य प्राप्त होता है तब योगी के क्लेश और कर्म और विपाक हैं वे सब एस दग्धबीज हो जाते हैं जैसे जला हुआ अन्न उत्पन्न होने योग्य नहीं रहता तब इसके संस्कारादि सब विनष्ट हो जाते हैं और तापत्रय भी नहीं रहते ॥ ५० ॥

भा० पु०—एतस्यामपि विशोकायां सिद्धौ यदा वैराग्यमुत्पद्यते योगिनस्तदा तस्माद्दोषाणां रागादीनां यद्बीजमविद्याख्यं तस्य क्षये निर्मूलने कैवल्यमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य गुणानामधिकार परिसमाप्तौ स्वरूपनिष्ठत्वम् ॥ ५० ॥

अस्मिन्नेव समाधौ स्थित्युपायमाह—

भा० पु० का भा०—जब विशोका सिद्धि प्राप्त योगी को वैराग्य उत्पन्न होता है तब रागादि दोषों की बीज रूप जो अविद्या है उसका नाश होजाने से जो कैवल्य अर्थात् दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति है वह प्राप्त होती है और पुरुष गुणों के अधिकारों को समाप्त करके स्वरूपनिष्ठ हो जाता है ॥ ५ ॥

इस कैवल्य समाधि में स्थिर होने का उपाय कहते हैं—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् । ५१ ॥

सू० का प०—(स्थान्युपनिमन्त्रणे) स्थानी अर्थात् योग की भूमिकाओं में स्थिर होने पर भी (संगस्मयाकरणम्) संग और अहंकार नहीं करना चाहिये (पुनरनिष्टप्रसंगात्) फिर भी अनिष्ट अर्थात् दुःखप्रद सांसारिक विषय होते हैं॥ ५१ ॥

सू० का भा०—योग भूमिकाओं मे स्थिर होने पर भी सगादि दोष से योगी को अनिष्ट की प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—चत्वारः खल्वमी योगिनः प्राथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः । ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः । भूतेन्द्रियजयी तृतीयः । सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कर्तव्यसाधनादिमान् । चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्तभावनीयस्तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः सप्तविधास्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा ।

तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भो इहास्यतामिहरम्यतां कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरामृत्यु बाधते वैहायसमिदं यानममी कल्पद्रुमाः पुण्या मन्दाकिनी सिद्धा महर्षय उत्तमा अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी वज्रोपमः कायः स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्था-

नं देवानां प्रियमिति। एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान् भावयेत्। घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथंचिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशी योगप्रदीपस्तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः। स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत्।

सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यादेवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति। स्मयादयं सुस्थितं मन्यतया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति। तथा चास्य छिद्रान्तरप्रेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः। एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढो भविष्यति। भावनीयश्चार्थोऽभिमुखी भविष्यतीति ॥ ५१ ॥

भा० का प —ये योगी ४ प्रकार के होते हैं। इनमें से पहला प्राथमकल्पिक दूसरा मधुभूमिक, तीसरा प्रज्ञाज्योति चौथा अतिक्रान्तभावनीय कहलाता है इनमें से प्रथम वह है जो अभ्यास करने में प्रवृत्त होता है दूसरा ऋतम्भर प्रज्ञ कहलाता है तीसरा प्रज्ञाज्योति वह है जिसने अपने सब कर्तव्य साधनों में अर्थात् भावित और भावनीय विषयों में रक्षाबन्ध किया है इसी का भूतेन्द्रिय जयी भी कहते हैं। चौथा अतिक्रान्तभावनीय वह है जिसका

चित्त एक विषय में संलग्न रहता है इसकी सात प्रकार की प्रान्त-भूमि है उन भूमियों मे से मधुमती भूमि मे जब योगी प्राप्त होता है देव लोग योगी के चित्त की शुद्धि को देखकर स्वर्गादि स्थानों का लोभ दिखाकर उसको निमंत्रित करते हैं। अजी यहाँ आओ, यहाँ रमण करो, यह भोग मनोहर हैं, यह मनोहर कन्या है, यह रसायन अर्थात् औषधियाँ जरा (वृद्धावस्था) और मृत्यु को नाश करती हैं यह आकाशगामी यान अर्थात सवारी है और ये कल्प-वृक्ष हैं, यह पवित्र गंगा नदी है, ये सिद्ध ऋषिलोग हैं, उत्तम और प्रेम करनेवाली यह अप्सरायें हैं, यह दिव्य श्रोत्र और नेत्र हैं वज्र के समान शरीर तुमने अपने गुणों से सबको प्राप्त किया है इस अक्षय अजर अमर देवतों के प्रिय स्थान को पाकर आनन्द भोगो। उनके ऐसे वचनों से मोहित न होकर उनमें संगदोष की भावना करे। संसार की अग्नि मे जलते हुए मैंने क्लेशों का नाश करने वाला योगरूपी दीपक पाया है उसके ये तृष्णा है योनि जिनकी ऐसे यह विषयरूपी वायु शत्रु हैं सो मैं प्रकाश को प्राप्त होकर क्योंकर इस विषय मृगतृष्णा में फस कर फिर जलती हुई संसार अग्नि में अपनी आत्मा को इन्धन बनाऊँ ? सिद्धि दिखा-कर देवता उत्तम विषयों मे फसाने का प्रयत्न करें, तो उनसे योगी कहे कि आप लोगों का कल्याण हो ये सब स्वप्न के समान हैं दीन दरिद्र लोग ही इनको चाहते हैं इस मति मे दृढ होकर समाधि की चिन्ता करे विषय और विषयिजनों का संग त्याग कर उनका अनुमोदन भी न करे। मेरी देवता भी स्तुति करते हैं इस अभिमान से यदि योगी अपने को सुस्थित मानकर ऐसा नहीं सम-झेगा कि मानो इसके केशों को मृत्यु ने पकड़ रक्खा है तो इसका छिद्रान्वेषी प्रमाद दोषों को पाकर क्लेशों को उठाने वाला होगा उससे फिर अनिष्ट की आशंका है ॥ ५१ ॥

भा० का० भा०—योगी चार प्रकार के होते हैं १ प्राथमकल्पिक २ मधुभूमिक ३ प्रज्ञाज्योति ४ अतिक्रान्तभावनीय। इनमें से प्राथमकल्पिक योगी वह है जो अभ्यास करने वाली ज्योति में प्रवृत्त ही हुआ है दूसरा मधुभूमिक वह कहाता है जो पूर्वोक्त ऋतम्भरप्रज्ञा को प्राप्त हुआ है तीसरा प्रज्ञाज्योति उस योगी को कहते हैं जिसने इन्द्रियों को जीत लिया हो और कर्तव्य में कृतकार्य्य हुआ हो। चौथा अतिक्रान्तभावनीय कहलाता है। अतिक्रान्तभावनीय योगी की बुद्धि की सात भूमिका हैं—इन भूमिकाओं में से जब मधुमती भूमिका प्राप्त होती है तब देवता अर्थात् विद्वान् लोग योगी की मानसिक शुद्धि की परीक्षा करने को अनेक लोभ दिखलाते हैं अर्थात् कहते हैं कि यह उत्तम भोग, मनोहर स्थान और मनोहर स्त्री तुमको तुम्हारे तपोबल से प्राप्त हुए हैं इत्यादि को सुनकर योगी को उचित है कि उनका संग न करे और न यह अभिमान करे कि देवता मेरी स्तुति करते हैं इससे मैं बड़ा सिद्ध हूँ क्योंकि उक्त विषयों का संग करने से वा अभिमान से प्रमाद क्लेशों की वृद्धि करेगा उससे फिर उन्हीं अनर्थों में पड़ना होगा जिनसे छूटने का योग किया था ॥ ५१ ॥

भा० वृ०—चत्वारो योगिनो भवन्ति। तत्राभ्यासवान् प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः। ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः। अतिक्रान्तभावनीयश्चतुर्थः। तस्य चतुर्थस्य समाधेः प्राप्तसप्तविधभूमिप्रज्ञस्यास्यान्त्यां मधुमतीं संज्ञां भूमिकां साक्षात्कुर्वतः स्थानिनो देवा उपनिमन्त्रयितारो भवन्ति। दिव्यस्त्रीरसायनादिकमुपढौकयन्तीति। तस्मिन्नुपनिमन्त्रणे नानेन संगः कर्त्तव्यः। नापि स्मयः। संगतिकरणे पुनर्विषयभोगे पतति। स्मयकरणे कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानो न समाधौ उत्सहते। अतः संगस्मययोस्तेन वर्जनं कर्त्तव्यम् ॥ ५१ ॥

अस्यामेव फलभूताया विवेकख्यातौ पूर्वोक्तसंयमव्यतिरिक्तमुपायान्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—योगी ४ प्रकार के होते हैं उनमें अभ्यास करनेवाला प्रथम प्रवृत्तमात्र ज्योति कहाता है) क्योंकि वह योग की ज्योति में अभी प्रवृत्त हुआ है) दूसरा ऋतम्भर प्रज्ञ कहा जाता है (क्योंकि उसकी बुद्धि योग में प्रविष्ट हो चुकी) तीसरा भूतेन्द्रियजयी कहलाता है (क्योंकि उसने समाधि के बल से इन्द्रियों को जीत लिया है) और चौथा अतिक्रान्तभावनीय अभिहित होता है, इनमे से जो चौथा योगी है उसने समाधि की ७ भूमिका प्राप्त करके मधुमती भूमिका को प्राप्त किया है इस कारण देवता उसको बुलाते हैं और उसके पास आते हैं, दिव्य स्त्री और दिव्य वस्त्र उसे स्वय प्राप्त होते हैं परन्तु यह योगी उन सिद्धियों को देखकर अपने को कृतकृत्य नहीं समझता है क्योंकि कृतकृत्य समझने के समाधि मे उत्साह नहीं रहता है इस कारण चतुर्थ योगी को संग और स्मय त्यागने चाहिये ॥ ५१ ॥

इस समाधि का फलरूप विवेकख्याति मे पूर्वोक्त संयम के अतिरिक्त और भी उपाय कहते हैं—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५२॥

सू० का प०—(क्षणतत्क्रमयोः) जितने काल में एक परमाणु पलटा खाता है उतने काल को क्षण कहते हैं और उसके द्वितीय परमाणु से संयोग को क्रम कहते हैं उन दोनों में (संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्) संयम करने से विवेक अर्थात् अनुभव सिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

सू० का भा०—क्षण अर्थात् काल की सूक्ष्मावस्था और गति में संयम करने से विवेक ज्ञान होता है ॥ ५२ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—यथापकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणो यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशमुपसंपद्येत स कालः क्षणः। तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः। क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तुसमाहार इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः। स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते

क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी। क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः। न च द्वौ क्षणौ सह भवतः। क्रमश्च न द्वयोः सहभुवोरसम्भवात्। पूर्वस्मादुत्तरभाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः। तस्माद्वर्तमान एवैकः क्षणो न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति। तस्मान्नास्ति तत्समाहारः। ये तु भूतभाविनः क्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयाः। तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति। तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी सर्वे धर्माः। तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणम्। ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति ॥ ५२ ॥

तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते—

भा० का प०—जैसे द्रव्य घटते २ अर्थात् सूक्ष्म दशा में पर

माणु रूप रह जाता है ऐसे ही परम सूक्ष्मावस्था के काल को क्षण कहते हैं अथवा जितने काल में चला हुआ परमाणु पूर्व स्थान को त्यागता और अगले स्थान को प्राप्त होता है उतने काल को क्षण कहते हैं उसकी गति वा प्रवाह को क्रम कहते हैं क्षण और उसके क्रम का समाहार वस्तुसमाहार नहीं है किन्तु क्षणादि व्यवहारवाली बुद्धि की स्थिरता से ही मुहूर्त और रात्रि दिन आदि का व्यवहार होता है सो यह काल वस्तुशून्य अर्थात् अमूर्त द्रव्य है और केवल बुद्धि का परिणाम मात्र है शब्दज्ञान से जानने योग्य उन संसारी मनुष्यों को वस्तु के समान जान पड़ता है जिनका चित्त स्थिर नहीं है क्रमावलम्बी अर्थात् क्रम के आश्रित होने से क्षण वस्तु मध्यपाती है क्रम क्षण से ही जाना जाता है उसको कालज्ञ योगी काल कहते हैं और न दो क्षणों का सयोग होता है और न दो क्षणों के कर्मों का संयोग हाता है क्योंकि उनका एक क्षण से होने वाले उत्तर क्षण का जो भेद है उसे ही क्रम कहते हैं इसलिये वर्तमान ही एक क्षण होता है पूर्व क्षण और उत्तर क्षण नहीं होते। इस कारण क्षणों में समाहार अर्थात् इकट्ठा होना नहीं है और जो भूत अर्थात् पूर्वक्षण, भावी होने वाला अर्थात् उत्तरक्षण वर्त्तमान क्षण के ही परिणाम कहने योग्य है इस हेतु से समस्त जगत् एक ही क्षण मे परिणाम अर्थात् दूसरी अवस्था को प्राप्त होता है इससे सब धर्म्म क्षण के आश्रित हैं क्षण और उसके क्रम में सयम करने से क्षण और क्रम का साक्षात् ज्ञान और उससे विवेक अर्थात निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

भा० का भावा०—जितने काल में परमाणु पलटा खाते हैं उतने काल को क्षण कहते हैं और जितने में दूसरे परमाणु से संयुक्त होता है उसे क्रम कहते हैं। वल्कि क्षण के पश्चात् जो प्रवाहावच्छिन्न काल है उसे उत्तरक्षण कह सकते हैं,

परन्तु क्षण और क्रम का समाहार नहीं होता केवल बुद्धि के समाहार से रात्रि दिन आदि काल संज्ञा होती है। बस इस क्षण और क्रम में संयम करने से योगी को सत्य ज्ञान प्राप्त होता है ५२

भो० वृ०—क्षणः सर्वान्त्यः कालावयवो यस्य कलाः प्रविभक्तु न शक्यन्ते । तथाविधानां कालक्षणानां यः क्रमः पौर्वापर्येण परिणामस्तत्र संयमात् प्रागुक्तं विवेकजं ज्ञानमुत्पद्यते । अयमर्थः—अयं कालक्षणोऽमुष्मात् कालक्षणादुत्तरोऽयमस्मात् पूर्व इत्येवंविधे क्रमे कृतसंयमस्यात्यन्तसूक्ष्मेऽपि क्षणक्रमे यथा भवति साक्षात्कार स्तथाऽन्यदपि सूक्ष्मं महदादि साक्षात्कार इति विवेकज्ञानोत्पत्तिः ५२

अस्यैव संयमस्य विषयविवेकोपयोगमाह—

भो० वृ० का भा०—काल के उस भाग को क्षण कहते हैं जिसका कोई भाग न हो सके उस क्षण का जो क्रम अर्थात् पूर्व परिणाम और उत्तरपरिणाम है उसमें संयम करने से विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि यह कालक्षण अमुक कालक्षण से पहिले और अमुक कालक्षण से पीछे है। इस क्रममें संयम करने से योगी को जब क्रम का ज्ञान हो जायगा तब वह महदादि स्थूल पदार्थ तथा सूक्ष्म पदार्थों के भी क्रम को और भागों को जान जायगा ॥ ५२ ॥

उस विवेक ज्ञान का विषय विशेष कहते हैं—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(जातिलक्षणदेशैः, अन्यतानवच्छेदात्) जाति, लक्षण और देशों से अनवच्छिन्न (तुल्ययोः)

तुल्य दो पदार्थों की (ततः) तदनन्तर (प्रतिपत्तिः) प्रतिपत्ति होती है ॥ ५३ ॥

सू० का भा०—जाति लक्षण और देश की एकता वा भिन्नता से दो पदार्थों का भेदाभेद जाना जाता है ॥ ५३ ॥

व्या० दे० कृ० भाष्य–तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽन्यताया हेतुर्गौरियं वडवेयमिति । तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्वकरं कालाक्षी गौः स्वस्तिमती गौरिति । द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षणसारूप्याद्देशभेदोऽन्यत्वकर इदम्पूर्वमिदमुत्तरमिति । यदा तु पूर्वमामलकमन्यव्यग्रस्य ज्ञातुरुत्तरदेश उपावर्त्यते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुत्तरमेतदिति प्रविभागानुपपत्तिः । असंदिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिर्विवेकजज्ञानादिति ।

कथं पूर्वामलकसहक्षणो देश उत्तरामलकसहक्षणाद्देशाद्भिन्नः । ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति । एतेन दृष्टान्तेन परमाणोस्तुल्यजातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणादुत्तरस्य परमाणोस्तद्देशानुपपत्तौ उत्तरस्य तद्देशानुभवो भिन्नः सहक्षणभेदात्तयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्वप्रत्ययो भवतीति ।

अपरे तु वर्णयन्ति—येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्तिव्यवधिजातिभेदश्चा-

न्यत्वे हेतुः। एवमेव तु योगिबुद्धिगम्य एवेति अत्र तर्क मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः ॥ ५२ ॥

भा० प०—अब किन्हीं दो वस्तुओंमें से एक वस्तुका विवेकज ज्ञान प्राप्त करना है तो उनका देश, लक्षण और जाति भेद जानना आवश्यक है यदि दोनों का देश और लक्षण मिलता हो तो वहाँ उनका जाति भेद ही विवेकज ज्ञान का हेतु होगा। यह गौ है और यह घोड़ी है इस ज्ञान में दोनों का देश एक है और पशुत्व जाति एक ही है परन्तु यहाँ पर दोनों के लक्षण ही विवेक ज्ञान के कारण हैं गौ के गले में मांस होता है उसे स्वस्तिक कहते हैं तो यह लक्षण कि गौ स्वस्तिकवाली है गौ के सत्य ज्ञान का देने वाला है। जहाँ दो आँवलों के ज्ञान से जाति और लक्षण समान हो वहाँ भेद से निश्चय होता है यह पूर्व वस्तु है और यह उत्तर वस्तु है अभिप्राय यह है कि सन्देहरहित तत्त्व ज्ञान होना चाहिये इस प्रयोजन से उक्त पद कहा जाता है ॥ ५३ ॥

भो० वृ०—पदार्थानां भेदहेतवो जातिलक्षणदेशा भवन्ति। क्वचिद्भेदहेतुर्जातिः यथा गौरियं महिषीयमिति। जात्या तुल्ययोर्लक्षणं भेदहेतुः इयं कर्बुरेयमरुणेति। जात्या लक्षणेनाभिन्नयोर्भेदहेतुर्देशो दृष्टः। यथा तुल्यप्रमाणयोरामलकयोर्भिन्नदेशस्थितयोर्यत्र पुनर्भेदोऽवधारयितुं न शक्यते। यथैकदेशस्थितयोः शुक्लयोः पार्थिवयोः परमाण्वोस्तथाविधे विषये भेदाय कृतसंयमस्य भेदेन ज्ञानमुत्पद्यते। तदा तदभ्यासात् सूक्ष्माण्यपि तत्त्वानि भेदेन प्रतिपद्यन्ते। एतदुक्तं भवति—यत्र केनचिदुपायेन भेदो नावधारयितुं शक्यस्तत्र संयमाद्भवत्येव भेदप्रतिपत्तिः ॥ ५२ ॥

भो० वृ० का भा०—पदार्थों के भेद के हेतु जाति, लक्षण और

देश होते हैं अर्थात् इन तीनो से ही पदार्थों में भेद जाना जाता है, कहीं जाति से भेद जान पडता है जैसे यह गौ है और यह भैंस है इन दोनों मे पशुत्व रूप एक जाति रहने से भी गोत्व और महिषत्व जाति का भेद है, जहाँ दो गौओं मे भेद ज्ञान जानना हो वहाँ लक्षण भेद कारक होता है यह चितली गौ है और यह लाल गौ है। जिन दो पदार्थों मे जाति और लक्षण की एकता पाई जाती हो उनमें देशकारक भेद होता है जैसे समान प्रमाण वाले दो आवलों का भेद केवल स्थल विशेष से होता है परन्तु एक देश में जो दो परमाणु एक ही जाति और लक्षण युक्त रहते हैं उनमें भेद ज्ञान नहीं हो सक्ता है किन्तु जो भेद ज्ञान मे संयम करता है उसको भेद ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् तत्वों के सूक्ष्म भेद को भी योगी जान जाता है ॥ ५३ ॥

सूक्ष्म तत्वों में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसकी विशेष संज्ञा आगे कहेंगे—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

सू० का प०—(तारकम्) तारक अर्थात् विवेकज-ज्ञान (सर्वमिषयम्) जिससे किसी विषय का ज्ञान छिपा नहीं रहता (सर्वथाविषयमक्रमं चेति) भूत, भविष्य और वर्तमान क्रम से रहित जो ज्ञान है (विवेकजं ज्ञानम्) वह विवेकज ज्ञान कह लाता है ॥ ५४ ॥

सू० का भा०—तारक वह विवेकज ज्ञान है जिससे सब विषय और सर्वकालीन ज्ञान होता है ॥ ५४ ॥

न्यत्वे हेतुः। क्षणभेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति अत उक्तं मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः ॥ ५३ ॥

भा० प०—अब किन्हीं दो वस्तुओं में से एक वस्तु का विवेकज ज्ञान प्राप्त करना है तो उनका देश लक्षण और जाति भेद जानना आवश्यक है यदि दोनों का देश और लक्षण मिलता हो तो वहाँ उनका जाति भेद ही विवेकज ज्ञान का हेतु होगा। यह गौ है और यह घोड़ी है इस ज्ञान में दोनों का देश एक है और पशुत्व जाति एक ही है परन्तु वहाँ पर दोनों के लक्षण ही विवेक ज्ञान के कारण हैं गौ के गले में मांस होता है उसे स्वस्ति कहते हैं तो यह लक्षण कि गौ स्वस्तिवाली है गौ के सत्य ज्ञान का देने वाला है। जहाँ दो आंवलों के ज्ञान से जाति और लक्षण समान हों वहाँ भेद से निश्चय होता है यह पूर्व वस्तु है और यह उत्तर वस्तु है अभिप्राय यह है कि सन्देहरहित तत्त्व ज्ञान होना चाहिये इस प्रयोजन से उक्त पद कहा जाता है ॥ ५३ ॥

भा० सू —पदार्थानां भेदहेतवो जातिलक्षणदेशा भवन्ति। क्वचित्तु हेतुर्जातिः यथा गौरियं महिषीयमिति। जात्या तुल्ययो-र्लक्षणं भेदहेतु इयं कर्बुरा रेयमरुणेति। जात्या लक्षणेनाभिन्नयो-र्भेदहेतुर्देशाश्च। यथा तुल्यप्रमाणयोरामलकयोर्भिन्नदेशस्थितयो-र्यत्र पुनर्भेदाऽवधारयितुं न शक्यते। यथैकदेशस्थितयोः शुक्लयोः पार्थिवयोः परमाण्वोस्तथाविधे विषये भेदाय कृतसंयमस्य भेदेन ज्ञानमुत्पद्यते। तदा तदभ्यासात् सूक्ष्माण्यपि तत्त्वानि भेदेन प्रतिपद्यन्ते। एतदुक्तं भवति—यत्र केनचिदुपायेन भेदो नावधारयितुं शक्यस्तत्र संयमाद् भवत्येव भेदप्रतिपत्तिप्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

भा० वृ० का भा०—पदार्थों के भेदक हेतु जाति लक्षण और

देश होते हैं अर्थात् इन तीनों से ही पदार्थों में भेद जाना जाता है, कहीं जाति से भेद जान पड़ता है जैसे यह गौ है और यह भैंस है इन दोनों में पशुत्व रूप एक जाति रहने से भी गोत्व और महिषत्व जाति का भेद है, जहाँ दो गौओं मे भेद ज्ञान जानना हो वहाँ लक्षण भेद कारक होता है यह चितली गौ है और यह लाल गौ है। जिन दो पदार्थों में जाति और लक्षण की एकता पाई जाती हो उनमें देशकारक भेद होता है जैसे समान प्रमाण वाले दो आवलों का भेद केवल स्थल विशेष से होता है परन्तु एक देश में जो दो परमाणु एक ही जाति और लक्षण युक्त रहते हैं उनमे भेद ज्ञान नहीं हो सक्ता है किन्तु जो 'भेद ज्ञान में संयम करता है उसको भेद ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् तत्वों के सूक्ष्म भेद को भी योगी जान जाता है ॥ ५३ ॥

सूक्ष्म तत्वों में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसकी विशेष संज्ञा आगे कहेंगे—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

सू० का प०—(तारकम्) तारक अर्थात् विवेकज-ज्ञान (सर्वमिषयम्) जिससे किसी विषय का ज्ञान छिपा नहीं रहता (सर्वथाविषयमक्रमं चेति) भूत, भविष्य और वर्तमान क्रम से रहित जो ज्ञान है (विवेकजं ज्ञानम्) वह विवेकज ज्ञान कहलाता है ॥ ५४ ॥

सू० का भा०—तारक वह विवेकज ज्ञान है जिससे सब विषय और सर्वकालीन ज्ञान होता है ॥ ५४ ॥

व्या० वै० कृ० भा०—तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः। सर्वविषय नास्य किंचिदविषयीभूतमित्यर्थः। सर्वथाविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्न सर्व पर्यायैः सर्वथा जानतीत्यर्थः। अक्रममित्येकक्षणोपारूढं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः। एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम्। अस्यैवांशो योगप्रदीपो मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति ॥ ५४ ॥

भा० का प०—तारक उसे कहते हैं जो अपनी प्रतिभा अर्थात् बुद्धि से उत्पन्न हो अर्थात् बिना किसी के उपदेश किये जो ज्ञान हो उसे तारक कहते हैं। सर्व विषय का अर्थ है कि कोई विषय इस ज्ञान से छुटा नहीं रहता है अक्रम का अर्थ है कि पूर्वोक्त एक क्षण में जितना पदार्थ वा कार्य्य जगत् में है उस सब को पूर्ण रीति से योगी जानता है यह पूर्ण विवेकज ज्ञान है इसी का एक भाग योग प्रदीप है जो मधुमती भूमि से तारक ज्ञान प्राप्ति पर्य्यन्त रहता है चाहे वह विवेक ज्ञान का प्रदीप हो वा अभाव का हो ॥ ५१ ॥

भा का भा०—तारक ज्ञान उसे कहते हैं जो बिना किसी के उपदेश किए योगी के हृदय में प्रकाशित हो। सर्व विषयक भी हो अर्थात् कोई पदार्थ इस ज्ञान से बाहर नहीं रहता इसी ज्ञान का नाम विवेकज ज्ञान है ॥ ५४ ॥

भो० वृ०—उक्तसंयमप्रसादन्त्यायां भूमिकायामुत्पन्नं ज्ञानं तारयत्यगाधात् संसारसागरात् योगिनमित्यान्वर्थिक्या संज्ञया तारकमित्युच्यते। अस्य विषयमाह सर्वविषयमिति। सर्वाणि तत्त्वानि महदादीनि विषयोऽस्येति सर्वविषयम्। स्वभावश्चास्य

सर्वथा विषयत्वम् । सर्वाभिरवस्थाभिः स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन तैस्तैः परिणामैः सर्वेण प्रकारेणावस्थितानि तत्त्वानि विषयोऽस्येति सर्वथाविषयम् । स्वभावान्तरमाह—अक्रमञ्चेति । निःशेषनानावस्थापरिणतत्र्यात्मकभावग्रहणे नास्य क्रमो विद्यत इति अक्रमम् । सर्वं करतलामलकवत् युगपत् पश्यतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अस्माच्च विवेकजात् तारकाख्यात् ज्ञानात् किं भवतीत्याह—

भो० वृ० का भा—उक्त संयम के वल से अन्त्यभूमिका मे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे तारक ज्ञान कहते हैं क्योंकि वह योगी को अगाध संसार सागर से तारता है इसी कारण उस ज्ञान का नाम तारक है। अब इस तारक ज्ञान का विषय कहते हैं, वह सर्व विषय है अर्थात् महत्तत्व आदि सम्पूर्ण इसके विषय हैं, तत्वों के स्वभाव भी इसी के विषय हैं, चाहे जो तत्त्व किसी अवस्था वा किसी परिणाम मे हो तारक ज्ञान युक्त योगी सब को यथार्थ रूप से जानता है। अब दूसरा स्वभाव कहते हैं, सम्पूर्ण अवस्थाओं में परिणत होके जो तत्त्व अनेक रूप को धारण करता है उन सब को योगी करामलकवत् जानता है ॥ ५४ ॥

इस तारक ज्ञान से क्या होता है इसको आगे कहते हैं—

सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥५५॥

सू० का प०—(सत्वपुरुषयोः) बुद्धि और पुरुष दोनों की (शुद्धिसाम्ये) शुद्धि और समता होने पर (कैवल्यम्) मोक्ष होती है ॥ ५५ ॥

सू० का भा०—जब बुद्धि पुरुष के समान निर्मल अर्थात् पाप, चिन्तादि दोषरहित होती है तब उस अवस्था को कैवल्य कहते हैं ॥ ५५ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति तदा पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा नहि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम्। परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः। क्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावः। चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते। तत्पुरुषस्य कैवल्यं तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति।

भा० का प०—जब धोये गये हैं रजोगुण और तमोगुण रूपी मल जिसके ऐसी निर्मल बुद्धि पुरुष से भिन्नतामात्र का जो अधिकार है उसका बीज दग्ध जब हो जाता है तब योगी की बुद्धि पुरुष की जो शुद्धता है उसकी समानता को प्राप्त हो जाती है पुरुष का जो भोगोंका अभाव है उसे शुद्धि कहते हैं इस अवस्था में ईश्वर अनीश्वर वा किसी विवेक प्राप्त वाले को कैवल्य होता है। दग्ध हो गये हैं क्लेश के बीज जिसके उसे किसी की सहाय लेने की अपेक्षा नहीं रहती बुद्धि की शुद्धता द्वारा यह समाधि से उत्पन्न ऐश्वर्य और ज्ञानको प्राप्त होता है। यथार्थ में तो ज्ञान से विषयों की निवृत्ति होती है विषयनिवृत्ति से आगे क्लेशों का नाश हो जाता है क्लेश निवृत्त होने से कर्म फल की निवृत्ति होती है इस अवस्था में काम करने वाले गुण दृश्यभाव से पुरुष को

दिखलाई नहीं देते पुरुष की इसी दशा को कैवल्य कहते हैं तब पुरुष प्रकाश स्वरूप निर्मल केवली होता है ॥ ५५ ॥

भा० का भा०—जब बुद्धि से रजोगुण तमोगुण के मल नष्ट हो जाते हैं तब वह निर्मल बुद्धि पुरुषस्थ निर्मलता के समान हो जाती है उस समय पुरुष को भोगो का अभाव हो जाता है और इसी अवस्था मे कैवल्य प्राप्त होता है। कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर पुरुष स्वतन्त्र हो जाता है क्योंकि ज्ञान से दर्शन अर्थात् विषय साधन निवृत्त हो जाता है साधन निवृत्ति से होने वाले क्लेशों की निवृत्ति होती है और उसके कर्म्म विपाको का अभाव और कर्म्म विपाक के अभाव से दुर्गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता इसी अवस्था को कैवल्य कहते हैं ॥ ५५ ॥

भो० वृ०—सत्त्वपुरुषावुक्तलक्षणौ तयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यं सत्त्वस्य सर्वकर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणेऽनुप्रवेशः शुद्धिः। पुरुषस्य शुद्धिरुपचरितभोगाभाव इति द्वयोः समानायां शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यमुत्पद्यते मोक्षो भवतीत्यर्थः।

तदेवमन्तरङ्गं योगाङ्गत्रयमभिधाय तस्यच संयमसंज्ञा कृत्वा संयमस्य च विषयप्रदर्शनार्थं परिणामत्रयमुपपाद्य संयमबलोत्पद्यमानाः पूर्वान्तपरान्तमध्यभवाः सिद्धिरुपदर्श्य समाध्यभ्यासोपपत्तये बाह्याभुवनज्ञानादिरूपा आभ्यन्तराश्च कायव्यूहज्ञानादिरूपा प्रदर्श्य समाध्युपयोगायेन्द्रियप्राणजयादिपूर्विकाः परमपुरुषार्थसिद्धये यथाक्रममवस्थासहितभूतजयोद्भवाश्च व्याख्याय विवेकज्ञानोपपत्तये तास्तानुपायानुपन्यस्य तारकस्य सर्वसमाध्यवस्थापर्य्यन्तभवस्य स्वरूपमभिधाय तत्समापत्तेः कृताधिकारस्य चित्तसत्त्वस्य स्वकारणानुप्रवेशात् कैवल्यमुत्पद्यत इत्यभिहितमितिनिर्णीतो विभूतिपादस्तृतीयः।

भो० वृ० का भा०—सत्त्व और पुरुष के लक्षण प्रथम कह

चुके हैं उन दोनों में जब पवित्रता की समानता होती है अर्थात् सत्त्व में जो कर्तृत्व का मिथ्याभिमान है जब वह निवृत्त हो जाता है और पुरुष में सहचारी भोग का अभाव होता है यही दोनों की समान शुद्धि है तब पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

इति भोजदेवविरचितायां राजमार्तण्डाभिधायां
पातञ्जलवृत्तौ विभूतिपादस्तृतीयः ।

—०—

उपसंहार ।

इस पाद में योग के तीन अंग ध्यान, धारणा समाधि का वर्णन करके इन तीनों की एक संयमसंज्ञा नियत करके, संयम के विषयों को दिखलाने के निमित्त तीन परिणामों का वर्णन किया, संयम के बल से उत्पन्न हुई पूर्वान्त, परान्त और मध्यभाव की सिद्धियों का वर्णन करके समाधि के अभ्यास को दृढ करने के निमित्त बाह्य भुवन ज्ञानादि रूप और आभ्यन्तर कायव्यूह ज्ञान-रूप सिद्धियों को कहके समाधि के उपकार निमित्त इन्द्रियजय और प्राणजय आदि का बयान भी किया परम पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति के निमित्त क्रम से अवस्था सहित भूतेन्द्रियजय और सत्त्वजय का वर्णन भी किया, विवेकज्ञान के निश्चय के उपाय कह फिर सब समाधि और अवस्थाओं में उपकार करने वाले तारकज्ञान का भी वर्णन किया उस तारक ज्ञान में योगी के चित्त को अधिकार मात्र हो जाता है तब उसका कैवल्य प्राप्त होता है यही वर्णन किया है ।

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे विभूतिपादस्तृतीयः ।

—•—

अथ कैवल्यपादः

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

सू० का प०—(जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधिजाः सिद्धयः) सिद्धि जन्म से ओषधि से मंत्र से तप से ओर समाधि से उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

सू० का भा०—सिद्धि जन्मादि से उत्पन्न होती हैं ।

व्या० दे० का भा०—देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः। ओषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादिः। मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभः। तपसा संकल्पसिद्धिः, कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादिसमाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः ॥१

भा० का प०—जन्म से सिद्धि वह कहलाती है जो पूर्वजन्म के शरीर द्वारा सम्पादित होकर इस जन्म मे बिना श्रम के प्राप्त हो जाती है रसायन आदि से असुर लोगों के स्थानों में अनेक सिद्धियाँ होती हैं मन्त्रों से आकाशगमन और अणिमादि सिद्धि होती है तप से संकल्प सिद्धि होती है अर्थात् अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे तहाँ जा सकता है समाधि से जिन सिद्धियों की प्राप्ति होती है उनका विभूतिपाद मे वर्णन कर चुके हैं ॥ १ ॥

भा० का भा०—देहान्तर के साधन से जो सिद्धि प्राप्त होती हैं वे जन्मसिद्ध कहलाती हैं जो रसायनादि से प्राप्त होती हैं वे

औषधिक सिद्धि । संकल्पसिद्धि को तपःसिद्धि कहते हैं और समाधिज सिद्धि का वर्णन विभूतिपाद में लिख चुके हैं ॥ १ ॥

इदानीं विप्रतिपत्तिसमुत्थभ्रान्तिनिराकरणेन युक्त्या कैवल्यस्वरूपज्ञानाय कैवल्यपादोऽयमारभ्यते—

तत्र याः पूर्वमुक्ताः सिद्धयस्तासां नानाविधजन्मादिकारणप्रतिपादनद्वारेणैवं बोधयति । यदि वा या एताः सिद्धयस्ताः सर्वाः पूर्वजन्माभ्यस्तसमाधिबलात् जन्मादिनिमित्तमात्रत्वेनाश्रित्य प्रवर्तन्ते । तत्स्थानकल्पबलाच्चास्य समाधेर्बहिरस्तीत्याशङ्कासान्त्वनाय समाधिसिद्ध च सामान्यख्यापनार्थं कैवल्योपयोगार्थं चाह—

भो० वृ०—काश्चन जन्मनिमित्ता एव सिद्धयः । यथा पक्ष्यादीनामाकाशगमनादयः । यथा वा कपिलमहर्षिप्रभृतीनां जन्मसमनन्तरमेवोपजायमाना ज्ञानादयः सांसिद्धिका गुणाः । औषधिसिद्धिर्यथा—पारदादिरसायनाद्युपयोगात् । मन्त्रसिद्धिर्यथा—मन्त्रजपात् केषाञ्चिदाकाशगमनादि । तपःसिद्धिर्यथा विश्वामित्रादीनाम् । समाधिसिद्धिः प्राक् प्रतिपादिता । एताः सिद्धयः पूर्वजन्माभ्यस्तक्लेशानामेवोपजायन्ते । तस्मात् समाधिसिद्धाविहाभ्यस्तासां सिद्धीनां समाधिरेव जन्मान्तराभ्यस्तः कारणम् । मन्त्रादीनि तु निमित्तमात्राणि ॥ १ ॥

ननु नन्दीश्वरादीनां जात्यादिपरिणामेऽस्मिन्नेव जन्मनि दृश्यते तत्कथं जन्मान्तराभ्यस्तस्य समाधेः कारणत्वमुच्यत इत्याशङ्क्याह—

भो० वृ० का भा०—अब संशय से उत्पन्न हुई भ्रान्ति को खण्डन करके युक्ति द्वारा कैवल्य ज्ञान का दृढ करने के निमित्त कैवल्यपाद का आरम्भ करते हैं—

पूर्व जिन सिद्धियों का वर्णन किया था उनके जन्मादि अनेक कारण हैं व जब प्रकट होती हैं तब ऐसा बोध कराती हैं अर्थात्

उनको पाकर योगी को ऐसा ज्ञान होता है कि मेरी यह सिद्धि पूर्व जन्म में सिद्ध समाधि के बल से उत्पन्न हुई है यहाँ जन्म लेते ही प्रगट हो गइ है, इससे यह सिद्ध होता है कि अगले जन्म से जो योगाभ्यास करता हुआ योगी चला आता है उस योग की हानि नहीं हुई है, समाधि के अभ्यास को सिद्धि ही प्रकाशित करती हैं इस कारण समाधि सिद्धियों की प्रधानता को वर्णन करते हैं।

कोई सिद्धि जन्म कारण से ही उत्पन्न होती हैं जैसे पक्षी आदिकों का आकाशगमन आदि, अथवा महर्षि कपिल आदिके जन्म लेते ही ज्ञानादिक सांसिद्धिक गुण प्रकट हो गये थे, ओष-धियों से जैसे पारे आदि से जरा मृत्यु नाश कर जवान बनाये जाते हैं, मन्त्र से सिद्धि जैसे विज्ञान द्वारा आकाशगमनादि, तपसे सिद्धि जैसे विश्वामित्रादि की हुई थी और समाधि की सिद्धियों का पूर्व पाद में वर्णन कर चुके हैं। ये सब सिद्धि पूर्वक्लेशों की निवृत्ति के पश्चात् ही उत्पन्न होती हैं शिद्धियों के प्रादुर्भाव में समाधि ही कारण है और मन्त्रादि नाम मात्र के निमित्त हैं॥१॥

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानाम्—

जात्यन्तरपरिणामःप्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

सू० का प०-(जात्यन्तरपरिणामः) जाति का परि-वर्तन (प्रकृत्यापूरात्) प्रकृति के कारण से है ॥ २ ॥

सू० का भा०—जाति का परिणाम प्रकृति के विकार से होता है ॥ २ ॥

व्या० दे० का भा०—पूर्वपरिणामापाय उत्तरपरिणा-मोपजनस्तेषामपूर्वावयवानुप्रवेशाद्भवति। कायेन्द्रियप्रकृतश्च

स्व स्व विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति ॥ २ ॥

भा० का प०—पूर्व परिणाम के नाश होने पर जो दूसरा परिणाम होता है उसे उपजन कहते हैं यह उक्त परिणामों के पूर्व अवयवों के संयोग से होता है। शरीर, इन्द्रियां और प्रकृति अपने २ विकार को धारण करती हैं और अपने धर्मादि निमित्त की अपेक्षा रखती है ॥ २ ॥

भा० का भा०—जब पूर्व परिणाम विनष्ट होता है तब उत्तर परिणाम की उत्पत्ति होती है इस परिणाम को उपजन कहते हैं काया, इन्द्रिय और प्रकृति अपने २ विकारों को ग्रहण करती हैं परन्तु जात्यन्तर परिणाम के हेतु धर्मादिक हैं ॥ २ ॥

भो० वृ०—योऽयमिहैव जन्मनि नन्दीश्वरादीनां जात्यादि परिणामः स प्रकृत्यापूरात् पाश्चात्या हि प्रकृतयोऽमुष्मिन् जन्मनि विकारेणापूरयन्ति जात्यन्तराकारेण परिणमन्ति ॥ २ ॥

ननु धर्माधर्मादयस्तत्र क्रियमाणा उपलभ्यन्ते तत्कथं प्रकृती नामापूरकत्वमित्याह—

भो वृ० का भा०—नन्दीश्वर आदि का जो इस ही जन्म में जाति परिणाम हुआ था वह सब पूर्वजन्म की प्रकृति के परिणाम से ही हुआ था ॥ २ ॥

अब सन्देह यह है कि धर्म और अधर्म रूप कर्म जो यहाँ किये जाते हैं वे क्योंकर प्रकृति के परिणाम हो सकते हैं इसके उत्तर अगले सूत्र में कहते हैं—

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

सू० का प०—(निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनाम्) प्रकृतियों का निमित्त अप्रयोजक है (वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्) वरण का भेद तो किसानों के समान है ॥३॥

सू० का प०—निमित्त प्रकृतियों का प्रयोजक नहीं है क्योंकि वरणभेद क्षेत्रिकवत् होता है ॥ ३ ॥

व्या० भा०—नहि धर्मादिनिमित्तं तत्प्रयोजकं प्रकृतीनांभवति । न कार्येण कारणं प्रवर्त्यत इति कथम्? तर्हि वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् यथा क्षेत्रिकः केदारादपां पूर्णात्केदारान्तरं पिप्लाव यिषुःसमं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनाऽपकर्षत्यावरणत्वासां भिनत्ति तस्मिन् भिन्ने स्वयमेवापः केदारान्तरमाप्लावयन्ति तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणधर्मं भिनत्ति तस्मिन् भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति । यथा वा स एव क्षेत्रिकस्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्यौदकान् भौमान्वा रसान्धान्यमूलान्यनुप्रवेशयितुं, किन्तु तर्हि मुद्गगवेधुकश्यामाकादींस्ततोऽपकर्षति । अपकृष्टेषु तेषु स्वयमेव रसा धान्यमूलान्यनुप्रविशन्ति तथा धर्मो निवृत्तिमात्रे कारणमधर्मस्य, शुद्ध्यशुद्ध्योरत्यन्तविरोधात् नतु प्रकृतिप्रवृत्तौ धर्मो हेतुर्भवतीति । अत्र नन्दीश्वरादय उदाहार्याः । विपर्ययेणाप्यधर्मो धर्मं बाधते । ततश्चाशुद्धिपरिणाम इति । तत्रापि नहुषाजगरादय उदाहार्याः ॥ ३ ॥

यदा तु योगी बहून् कायाभिर्निमीते तदा किमेकमन स्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का-इति-

भा० का प०—धर्मादि निमित्त प्रकृतियों का उत्पादक नहीं है क्योंकि कार्य से कारण उत्पन्न नहीं होता परन्तु भेद "तो यहाँ पर वरण का भय आवरण है" किसान के समान होता है जैसे किसान जल से भरी हुई क्यारी से दूसरी क्यारी में जल के जाने की इच्छा जब करता है तब बराबर की नीची वा अत्यन्त नीची क्यारी में पानी को हाथ से नहीं खींचता है क्यारियों के आवरण अर्थात् मेंड़ या डोल को काटता है मेंड़ के काटने से जल स्वयं ही दूसरी क्यारियों में चला जाता है ऐसे ही धर्म प्रकृतियों के आव-रण रूप धर्म को काट देता है उसके नाश होने से प्रकृति आप से आप अपने विकारों का प्रहण कर लेती है जैसे वह किसान उस खेत में औदक और पार्थिव रसों को अन्न की जड़ों में अपने हाथ से प्रवेश नहीं कराता किन्तु उनकी जड़ें स्वयं ही उनको खींचकर अपने में प्रविष्ट कर लेती हैं। ऐसेही धर्म अधर्म की निवृत्तिमात्रका कारण है क्योंकि शुद्धि और अशुद्धि का अत्यन्त विरोध है परन्तु प्रकृति की प्रवृत्ति में धर्म हेतु होता है। इस प्रकरण में नन्दीश्वर आदि उदाहरण हैं व्यत्यय करने से भी धर्म अधर्म का बाधक होता है जब अधर्म धर्म का बाधक होता है तब अशुद्धि प्राप्त होती है उसमें भी नहुष और अजगर प्रभृति उदाहरण हैं ॥ ३ ॥

जब कि योगी अनेक शरीरों का निर्माण करता है उस समय योगी अनेक चित्त वाला होता है या एक चित्तवाला ?

भा का भा०—धर्मादिक प्रकृति का वरणभेद के कारण नहीं है क्योंकि कार्य से कारण उत्पन्न नहीं होता परन्तु वरणभेद होने का क्रम है कि जैसे किसान जब किसी जल से भरी क्यारी से जल

दूसरी क्यारी में ले जाना चाहता है तब केवल क्यारियों के मेंढ़ काटने से जल स्वयं ही दूसरी क्यारी में चला जाता है। इसी रीति से धर्म के द्वारा अधर्मरूपी मेंढ काटने से प्रकृतिभेद स्वयं हो जाता है। जैसे एक ही जल अनेक अन्नों का कारण होता है ऐसे ही प्रकृति के परिणाम भी समझने चाहिये। प्रथमोक्त क्रम में नन्दीश्वर का उदाहरण है अर्थात् नन्दीश्वर नामक एक मनुष्य देवत्व को धर्म से प्राप्त होगया और नहुष अधर्माचरण से देव दशा से अजगर हो गया था यह सब कथा ब्राह्मण ग्रन्थों मे लिखी है ॥ ३ ॥

भा० वृ०—निमित्तं धर्मादि तत्प्रकृतीतानामर्थान्तरपरिणामे न प्रयोजकम्। नहि कार्य्येण कारणं प्रवर्त्तते। कुत्र तर्हि तस्य धर्मादेर्व्यापार इत्याह—वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। ततस्तस्मादनुष्ठीयमानाद्धर्मात् वरणमावरणधर्म्मादि तस्यैव विरोधित्वात् भेदः क्षयः क्रियते। तस्मिन् प्रतिबन्धके क्षीणे प्रकृतयः स्वयमभिमतकार्याय प्रभवन्ति। दृष्टान्तमाह—क्षेत्रिकवत्। यथा क्षेत्रिकः कृषीवलः केदारात् केदारान्तरं जलं निनीषुर्जलप्रतिबन्धकवरणभेदमात्रं करोति। तस्मिन् भिन्ने जलं स्वयमेव प्रसरद्रूपं परिणामं गृह्णाति न तु जलप्रसरणे तस्य कश्चित् प्रयत्न एवं धर्म्मादेर्बोद्धव्यम् ॥ ३ ॥

यदा साक्षात्कृततत्त्वस्य योगिनो युगपत्कर्म्मफलभोगायात्मीयनिरतिशयविभूत्यनुभवात् युगपदनेकशरीरनिर्मित्सा जायते तदा कुतस्तानि चित्तानि प्रभवन्तीत्याह—

भो० का वृ० भा०—पूर्वोक्त जाति परिणाम का हेतु धर्म्मादिक प्रकृति के अर्थान्तर परिणाम का कारण नहीं हो सकते हैं क्योंकि कार्य से कारण की कभी उत्पत्ति नहीं होती है, तब यह सन्देह होगा कि यदि धर्म्मादि प्रकृति के परिणाम के कारण नहीं हैं तो वे निष्फल होंगे? इसका उत्तर यह है कि उनसे वरण अर्थात्

आवरण का क्षय होता है उन धर्म्मादि से आवरण करने वाले अधर्म्मादि का क्षय होता है आवरण रूप अधर्म्म के क्षय होने से प्रकृति आप ही अपनी रुचि के कार्य्य को कर लेती है इसमें दृष्टान्त ऐसे हैं। जैसे किसान अर्थात् किसान एक क्यारी से जब दूसरी क्यारी में जल को ले जाना चाहता है तब जल को रोकने-वाली मेड़ को ही केवल काटता है मेड़ के कटने से जल स्वयम् बहने लगता है किसान को जल बहाने के वास्ते कोई उद्योग करना नहीं पड़ता है ऐसे ही धर्मादि का समझना चाहिये ॥ ३ ॥

जब योगी को तत्वों का साक्षात् ज्ञान हो जाता है तब सर्व कर्मों का एक ही समय फल भोगने के वास्ते अपनी सिद्धियों के प्रताप से एक समय में यदि अनेक शरीर धारण करने की इच्छा हो तब अनेक चित्त क्यों कर होंगे ? इसका उत्तर आगे देते हैं—

निर्म्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

सूत्र का प०—(निर्म्माणचित्तानि) चित्त को उत्पन्न करने वाली (अस्मितामात्रात्) केवल अस्मिता है ॥४॥

सू० का भा०—चित्त को बनाने वाली अस्मिता है ॥ ४ ॥

व्या० दे० का भा०—अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति ततः सचित्तानि भवन्ति ॥४॥

भा० का प०—केवल अस्मिता चित्त के कारण को ग्रहण करके चित्तको उत्पन्न करती है तब प्राणी चित्त के सहित होते हैं ॥ ४ ॥

भा० का भा०—अस्मिता से चित्त की उत्पत्ति होती है ॥ ४ ॥

भा० पृ०—योगिनः स्वयं निर्मितेषु कायेषु यानि चित्तानि तानि मूलकारणादस्मितामात्रादेव तदिच्छया प्रसरन्ति अग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव युगपत् परिणमन्ति ॥ ४ ॥

नतु बहूना चित्ताना भिन्नाभिप्रायत्वान्नैककार्यकर्तृत्वं स्यादित्याह-

भो० वृ० का भा०—योगी ने जो अपने आप शरीरों की रचना की है वह चित्त की मूलभूत अस्मिता मात्र से चित्त युक्त होते हैं अर्थात् योगी एक अस्मिता से ही सब शरीरों को सचित्त करता है जैसे एक अग्नि से अनेक चिनगारियाँ निकलती हैं ॥४॥

अब यह शङ्का होती है कि यदि अनेक चित्त होंगे तो वह सब एक कार्य्य के कर्त्ता क्योंकर हो सकते हैं ? इसका उत्तर आगे देते हैं—

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकेषाम ॥ ५ ॥

सू० का प०—(प्रवृत्तिभेदे) प्रवृत्ति के भेद से (एकश्चित्तमनेकेषाम्प्रयोजकम्) एक ही चित्त अनेक चित्तों का प्रयोजक होता है ॥ ५ ॥

सू० का भा०—प्रवृत्तिभेद से एक ही चित्त अनेक चित्तों का उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ ५ ॥

व्या० भा०—बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायपुरः सरा प्रवृत्तिरिति सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते ततः प्रवृत्तिभेदः ॥ ५ ॥

भा० का प०—एक ही चित्त अनेक चित्तों का कैसे प्रवर्तक हो सकता है। प्रवृत्तिभेद सब चित्तों के प्रेरक एक ही चित्त को निर्मित करता है ॥ ५ ॥

भा० का भा०—प्रथम एक ही चित्त अनेक चित्तों का प्रेरक निर्मित होता है पश्चात् प्रवृत्तिभेद हो जाता है ॥ ५ ॥

भो० वृ०—तेषामनेकेषा चेतसा प्रवृत्तिभेदे व्यापारनानात्वे

एकं योगिनश्चित्तं प्रयोजकं प्रेरकमधिष्ठातृत्वेन न तत्र भिन्नमतत्त्वम् । अयमर्थः—यथात्मीयशरीरं मनश्चक्षुः पाण्यादीनि यथेच्छं प्रेरयति । अधिष्ठातृत्वेन तथा कायान्तरेष्वपीति ॥ ५ ॥

जन्मादिप्रभवत्वात् सिद्धीनां चित्तमपि तत् प्रभवं पञ्चविधमेव । तत्र जन्मादिप्रभवाच्चित्तात् समाधिप्रभवस्य चित्तस्य वैलक्षण्य माह—

भा० पू० का भा०—अनेक चित्तों के जो अनेक व्यापार और वृत्ति हैं उन सबका प्रेरक योगी का एक ही चित्त होता है क्योंकि सबका अधिष्ठाता वही एक चित्त है इससे योगी के कल्पित अनेक चित्तों में परस्पर मतभेद नहीं हो सकता है, अभिप्राय यह है कि योगी शरीर और इन्द्रियों को प्रेरित कर सकता है एवं ही चित्त से अनेक कार्य भी करा सकता है ॥ ५ ॥

सिद्धियों से जन्मादिक हो सकते हैं और सिद्धियों के ५ भेद जो ऊपर कहे गये हैं उनसे उत्पन्न होने वाला चित्त भी पाँच प्रकार का हुआ उन पाँच प्रकार के चित्तों में से समाधि से उत्पन्न हुए चित्त की विलक्षणता को कहते हैं—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

सू० का प०—(तत्र) उनमें (ध्यानजमनाशयम्) जो चित्त ध्यान से उत्पन्न होता है वह राग, द्वेषरहित होता है ॥ ६ ॥

सू० का भा०—जो चित्त ध्यान से प्राप्त होता है, वह राग द्वेष रहित होता है ॥ ६ ॥

व्या० भा०—पञ्चविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय इति । तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं

तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिर्नातः पुण्य-पापाभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वाद्योगिन इति इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः ॥ ६ ॥

भा० का प०—चित्त की ५ प्रकार की रीति है जन्म से, ओषधि से, मन्त्रसे तपसे और समाधि से जो सिद्धि होती हैं उनमें से जो ध्यान से चित्त उत्पन्न होता है वही आशय रहित है अर्थात् उस चित्त की रागादि मे प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि उसके क्लेश क्षीण हो जाते हैं इससे उसमें पुण्य और पाप का सम्बन्ध नहीं रहता है और चित्तों का कर्माशय होता है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—पूर्व जो ५ प्रकार की सिद्धि कही थीं उनमे ध्यानज चित्त राग द्वेष रहित है और अन्य चित्तों में रागादि का सञ्चार रहता है, ध्यानज चित्त में क्लेश क्षीण हो जाने से पुण्य पाप का सम्बन्ध भी नहीं रहता है ॥ ६ ॥

भो० वृ०—ध्यानजं समाधिज यच्चित्तं तत् पञ्चसु मध्येऽनाशयं कर्मवासनारहितमित्यर्थः ॥ ६ ॥

यथेतरचित्तेभ्यो योगिनश्चित्त विलक्षणं क्लेशादिरहितं तथा कर्मापि विलक्षणमित्याह—

भो० वृ० का भा०—ध्यान अर्थात् समाधिजन्य सिद्धि से उत्पन्न हुआ चित्त उक्त पाँच प्रकार के चित्तों में से कर्मों की वासना से रहित होता है ॥

जैसे योगी का चित्त औरों के चित्त से विलक्षण होता है वैसे ही कर्म भी विलक्षण होते हैं यही अगले सूत्र में कहते हैं—

कर्म्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥७॥

सू० का प०—(कर्म्माशुक्लाकृष्णम्) शुक्ल और

कृष्ण के भेद से रहित कर्म (योगिनः) योगी के होते हैं (इतरेषाम्) अन्यों के (त्रिविधम्) ३ प्रकार के हैं ॥७

सू० का भा०—अन्य लोगों के कर्म, शुक्ल कृष्ण और मिश्रित तीन प्रकार के होते हैं पर योगियों का कर्म विलक्षण है ॥ ७ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—चतुष्पदी खल्वियं कर्मजातिः कृष्णाशुक्लकृष्णाशुक्लाऽशुक्लाकृष्णाचेति । तत्र कृष्णा दुरात्मनां शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या तत्र परपीडानुग्रहद्वारेण कर्माशयप्रचयः । शुक्ला तपः स्वाध्यायवताम् । सा हि केवले मनस्यायत्तत्वादबहिःसाधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति । अशुक्ला कृष्णा सन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति । तत्राशुक्लं योगिन एव फलसन्यासादकृष्णं चानुपादानात् । इतरेषान्तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति ॥ ७ ॥

भा० का प०—यह कर्मजाति चारपाद वाली अर्थात् चार प्रकार की है—एक कृष्णा दूसरी शुक्लकृष्णा, तीसरी शुक्ला, चौथी अशुक्लाकृष्णा । इनमें से दुरात्माओं की कर्मजाति कृष्णा है । जो बाह्य साधनों से कर्मजाति सिद्ध होती है वह शुक्लकृष्णा कहलाती है । इसमें परपीडा एवं अनुग्रह द्वारों से ही कर्माशय की वृद्धि होती है । शुक्ला कर्मजाति तपस्वी वेदपाठी और ध्यान वालों की होती है । वह शुक्ल जाति केवल मन के अधीन होने से बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखती । अन्य जीवों को दुःख भी नहीं देती अशुक्लाकृष्णा—क्षीण हो गये हैं क्लेश जिनके उन संन्यासियों की होती है अन्यों की पूर्वकथित ३ जातियाँ होती हैं ॥७॥

भा० का भा०—कर्म्म जाति चार प्रकार की हैं इनमे से दुरात्माओं की कर्म्मगति पापमय होने से कृष्णा अर्थात् काली होती है दूसरी अन्य जीवों को पीडा देना वा अनुग्रह करने से जो कर्म्म-समूह सञ्चित होता है वह शुक्लकृष्णा। तीसरी जो गति अन्तःसाधनों के अधीन है वह शुक्ला कर्म्मगति स्वाध्याय और तप करने वाले लोगो की होती है और जो शुक्ला भी नहीं और न कृष्णा है वह सन्यासियो की कर्म्म जाति है ॥ ७ ॥

भो० वृ०—शुभफलदं कर्म्म योगादि शुक्लम्। अशुभफलदं ब्रह्महत्यादि कृष्णम्। उभयसङ्कीर्णं शुक्लकृष्णम्। तत्र शुक्लं कर्म्म विचक्षणाना दानतपस्वाध्यायादिमतां पुरुषाणाम। कृष्णं कर्म्म दानवानाम्। शुक्लकृष्णं मनुष्याणाम्। योगिनान्तु संन्यासवता त्रिविधकर्मविपरीत विलक्षणं यत्फलत्यागानुसन्धाने नैवानुष्ठान्न किञ्चित् फलमारभते ॥ ७ ॥

अस्यैव कर्मणः फलमाह—

भो० वृ० का भा०—उत्तम फल को देने वाले यज्ञादि शुक्ल कर्म कहलाते हैं, बुरे फल को देनेवाले ब्रह्महत्यादि कर्म कृष्ण कहे जाते हैं और दोनो मिले हुए शुक्ल व कृष्ण कर्म हैं, इनमें से शुक्ल कर्म उत्तम जनों के होते हैं, जो दान तप और वेद पाठ करते हैं। दानवों (राक्षसो) के कर्म कृष्ण हैं और मिश्रित अर्थात् शुक्ल कृष्ण कर्म मनुष्यो के हैं परन्तु योगियों के कर्म इन तीनों से विपरीत वा विलक्षण हैं जो फल त्याग की इच्छा से किये जाते हैं और किसी फल का आरम्भ नहीं करते हैं ॥ ७ ॥

इसी कर्म का फल कहते हैं।

ततस्तद्विकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ८

सू० का प०—(ततस्तद्विपाकानुगुणानाम्) इसके

अनन्तर कर्म्मों के फल के अनुसार (अभिव्यक्तिर्वासना नाम्) वासनाओं का प्रकाश होता है ॥ ८ ॥

सू० का भा०—कर्म्म फल के अनुसार ही वासना प्रकट होती है ॥ ८ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तत इति त्रिविपात्कर्मणः तद्विपाकानुगुणानामेवेति यज्जातीयस्य कर्म्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासना कर्म्म विपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः । नहि दैवं कर्म्मविपच्यमाननारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं सम्भवति किन्तु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते । नारक तिर्यङ्मनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः ॥ ८ ॥

भा० का प०—तीन प्रकार के कर्मों के फल के अनुकूल अर्थात् जिस प्रकार के कर्म्म का जो फल उसके अनुकूल जो वासनायें कर्म्म फल के आश्रय से सोई पड़ी हैं उन्हीं का प्रादुर्भाव होता है । क्योंकि दिव्यकर्म्म पुष्ट हुआ नरक सम्बन्धी योनि तिर्यक् पशु वा सर्पादि वा मनुष्य वासना को प्रकट करने कारण होता है किन्तु दैव कर्म्म से दिव्य वासना ही प्रकट होती है इसी रीति से नारक तिर्य्यक् और मनुष्य कर्म्म और वासनाओं का विचार है ॥ ८ ॥

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में जो तीन प्रकार के कर्म्म कहे उनके अनुसार ही फल और फलानुसार वासना उत्पन्न होती है अर्थात् जिस प्रकार का कर्म होता है उससे वैसी ही वासना होती है जैसे देव कर्म्म से दिव्य वासना होती है उससे न नरक वासना और न तिर्यगादि वासना प्रकट होती है और ऐसे ही तिर्य्यगादि कर्म्मों से दिव्यवासना नहीं होती ॥ ८ ॥

भो० वृ०—इह हि द्विविधाः कर्मवासनाः स्मृतिमात्रफला जात्यायुर्भोगफलाश्च। तत्र जात्यायुर्भोगफला एकानेकजन्मभवा इत्यनेन पूर्वमेव कृतनिर्णयाः। यास्तु स्मृतिमात्र फलास्तास्तत कर्मणो येन कर्मणा यादृक् शरीरमारब्धं देवमनुष्यतिर्य्यगादि भेदेन तस्य विपाकस्य या अनुगुणा अनुरूपा वासनास्तासामेवाभिव्यक्तिर्भवति। अयमर्थः—येन कर्मणा पूर्वं देवतादिशरीरमारब्धं जात्यन्तरशतव्यवधाने पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्यारम्भे तदनुरूपा एव स्मृतिफला वासनाः प्रकटीभवन्ति। लोकान्तरेष्वेवार्येषु तस्य स्मृत्यादयो जायन्ते। इतरास्तु सत्योऽपि अव्यक्तसंज्ञां तिष्ठन्ति न तस्या दशाया न नारकादिशररोद्भवा वासना व्यक्तिमायान्ति॥ ८॥

आसामेव वासनाना कार्य्यकारणभावानुपपत्तिमाशंक्य समर्थयितमाह—

भो० वृ० का भा०—कर्म्मवासना दो प्रकार की हैं एक स्मृति मात्रफला और दूसरी जात्यायुर्भोगफला, एक ही कर्म्म अनेक जन्म देता है यह प्रथम ही निर्णय कर चुके हैं जो कर्म्म वासना स्मृतिनात्र फला हैं उनसे वह होता है कि जिस कर्म्म से जैसा शरीर प्राप्त होता है वह शरीर चाहे देवयोनि का हो वा मनुष्य योनि का हो वा कीट पतंगादि योनि का हो जैसा कर्म का फल होगा वैसी ही वासना भी होगी। अभिप्राय यह है कि जिस कर्म्म से देव शरीर प्राप्त हुआ था उसके पश्चात् चाहे सौ जन्म का भी अन्तर पड जाय परन्तु फिर वैसा जन्म प्राप्त होने से योगी को वही देव जन्म की स्मृतिजन्य वासना प्रकाशित हो जाती है अर्थात् नरक भोगादि की वासना प्रकाशित नहीं होती॥ ८।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्य्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

सू० का प०—(जातिदेशकालव्यवहितानामपि) जो कर्म वासना, जन्म देश और काल से व्यवहित हैं उनका भी (आनन्तर्य्यम्) क्रमपूर्वक उदय होता है (स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्) क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का अभेद है ॥ ९ ॥

सू० का भा०—जिन कर्म वासनाओं में जन्म देश और काल का व्यवधान भी है तो भी वह किसी समय व्यक्त हो जाती है ॥९॥

व्या० भा०—वृषदंशविपाकोदयः स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तः । स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः पुनश्च स्वव्यञ्जकाञ्जन एवोदियाद्द्रागित्येव पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय व्यज्येत कस्मात् ? यतो व्यवहितानामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्यानन्तर्य्यमेव कथम् ? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वाद्यथानुभवास्तथा संस्काराः । ते कर्म्मवासनानुरूपाः । यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः । स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येवं स्मृतिसंस्काराः कर्म्माशयवृत्तिलाभवशाद्व्यज्यन्ते । अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्य्यमेव सिद्धमिति ॥ ९ ॥

भा० का प०—कर्म्मफल अपने साधनों को पाकर प्रकाशित होता है यदि वह सौ जन्मों से दूरदेश से अथवा सौ कल्प से व्यवहित भी हो फिर अपने साधनों को पाकर उदय होता है इस रीति से पूर्वकाल मे अनुभव किया है, जिन कर्म्मफलों को उनसे उत्पन्न हुई जो वासना अपने साधनों को पाकर प्रकाशित होती है क्योंकि यदि यह वासना व्यवहित भी हो तो इनके कर्म्म को प्रकाश करने वाला एक ही निमित्त है इससे अभिव्यञ्जकता क्रम से ही हो सकती है क्योंकि स्मृति और संस्कार एक ही हैं जैसा अनुभव होता है उसके अनुसार ही संस्कार होता है वे अनुभव और सस्कार भी कर्म्म तथा वासमा के अनुकूल ही होते हैं जैसी वासना वैसी ही स्मृति होती है इस रीति से जन्म, देश और काल से व्यवहित संस्कारों से स्मृति होती है और स्मृति से फिर सस्कार उत्पन्न होते हैं इस रीति से स्मृति और संस्कार कर्म्मफल की वृत्तिलाभ के समान प्रकाशित होते हैं इसलिये व्यवधान सहित वासनाओं का निमित्त और नैमित्तिक भाव कि अनुच्छेद से आनन्तर्य ही सिद्ध होता है ॥९॥

भा० का भा०—कर्मफल अपने साधनों के द्वारा प्रकाशित होता है व्यञ्जक अर्थात् उदित होने में सहायक के पाने से प्रकट होता है ऐसे ही कर्म की वासना भी उदित होती है वह यदि सौ जन्म से अथवा अधिक दूरदेश से सौ कल्प से व्यवहित हो तो भी अपने आश्रय को पाकर उदित होता है क्योंकि इन स्मृति और वासनाओं का प्रकाशित करनेवाला निमित्त एक ही है क्योंकि इन स्मृति और सस्कार एक ही रूप हैं जैसा अनुभव होता है वैसा ही सस्कार होता है वे कर्म और वासना के अनुकूल ही होते हैं जैसी वासना होती है वैसी ही स्मृति है। इस रीति से जन्म, देश और कालसे जो व्यवहित सस्कार हैं उनसे स्मृति उत्पन्न होती है स्मृतिसे फिर

संस्कार होते हैं वह स्मृति और संस्कार कर्मफल में समान रहने वाले हैं ॥ ९ ॥

भो० वृ०—इह नानायोनिषु भ्रमतां संसारिणां काञ्चिद्योनिमनुभूय यदा योन्यन्तरसहस्रव्यवधानेन पुनस्तामेव योनिं प्रतिपद्यते तदा तस्यां पूर्वानुभूतायां योनौ तथाविधशरीरादिव्यञ्जकापेक्षया वासना याः प्रकटीभूता आसंस्तास्तथाविधव्यञ्जकाभावात्तिरोहिताः पुनस्तथाविधव्यञ्जकशरीरादिलाभे प्रकटीभवन्ति। जातिदेशकालव्यवधानेऽपि तासां स्वानुभूतस्मृत्यादिफलसाधन आनन्तर्यम्। नैरन्तर्यं कुतः ? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। तथा ह्यनुष्ठीयमानात् कर्मणः चित्तसत्त्वे वासनारूपः संस्कारः समुत्पद्यते। स च स्वर्गनरकादीनां फलानामङ्कुरीभावः कर्मणां वा यागादीनां शक्तिरूपतयाऽवस्थानम्। कर्तुर्वा तथाविधभोग्यभोक्तृत्वरूपं सामर्थ्यम्। संस्कारात् स्मृतिः स्मृतेश्च सुखदुःखोपभोगस्तदनुभवाच्च पुनरपि संस्कारस्मृत्यादयः। एवं च यस्य स्मृतिसंस्कारादयो भिन्नास्तस्यानन्तर्याभावे दुर्लभः कार्यकारणभावः। अस्माकं तु यदाऽनुभव एव संस्कारी भवति संस्कारश्च स्मृतिरूपतया परिणमते तदैकस्यैव चित्तस्यानुसन्धातृत्वेन स्थितत्वात् कार्यकारणभावो न दुर्घटः ॥ ९ ॥

भवत्वानन्तर्यं कार्यकारणभावश्च वासनानां यदा तु प्रथममेवानुभवः प्रवर्त्तते तदा किं वासनानिमित्त उत निर्निमित्त इति शङ्कां व्यपनेतुमाह—

भो० वृ० का भा०—संसार में अनेक योनियों में भ्रमण करने वाले जीव जब एक योनि को भोग कर दूसरी सहस्रों योनियों में घूमकर फिर उसी योनि में प्राप्त होते हैं तब जिस योनि को पहिले भोगा था उसी योनि के शरीर के अभाव से उस योनि की वासना कारण के अभाव से छिपी हुई थी फिर जब उसी योनि का शरीर प्राप्त हुआ तो वही वासना फिर प्रकट हो जाती है। जाति,

देश और काल का व्यवधान अर्थात अन्तर होने पर भी अपने अनुभव किये फलसाधन से व्यवधान नष्ट हो जाते हैं क्योंकि स्मृति और संस्कार एक ही रूप होते हैं उनके अनुष्ठान से कर्मों के चित्त में वासना रूपसंस्कार उत्पन्न होते हैं वह वासना स्वर्ग और नरक आदि फलों का अंकुर रूप है उस अंकुर मे यज्ञादि कर्म शक्तिरूप से रहते हैं अर्थात् कर्त्ता की भोग्य और भोक्तृ रूप शक्ति भी उसी वासना मे रहती है वासना से स्मृति उत्पन्न होती है स्मृति से सुख और दुःख का भोग होता है और उनसे फिर संस्कार जिनके मत मे स्मृति और संस्कार भिन्न-भिन्न हैं उनके मत में प्रवाह के अभाव से स्मृत्यादि में कार्यकारण भाव का होना कठिन है। हमारे मत मे तो अनुभव ही संस्कार है और संस्कार ही, स्मृतिरूप में परिणत होता है एक ही चित्त का सब में सम्बन्ध रहता है इससे कार्य्यकारण भाव कठिन नहीं है ॥ ९ ॥

अब यह शंका होती है कि वासनादि का कार्यकारण भाव तो ठीक हुआ परन्तु जो प्रथम ही अनुभव (भोग) होता है वह वासना के निमित्त से होता है वा विना निमित्त? इसका उत्तर अगले सूत्र मे देते हैं—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

सू० का प०—(तासामनादित्वम्) वासना अनादि हैं (आशिषो नित्यत्वात्) क्योंकि आशीर्वाद अर्थात अपनी कल्याणेच्छा नित्य है ॥ १० ॥

सू० का भा०—आशीर्वाद के नित्य होने से वासना अनादि हैं ॥ १० ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तासां वासनानामाशिषो नित्य-

स्वादनादित्वम् भेयमात्माशोर्मा न भूवं भूयासमिति
दृश्यते सा न स्वाभाविकी । कस्मात् ? जातमात्र
रननुभूतमरणधर्म्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो म
कथं भवेत् । न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपाद
दनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्
वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्त्तत इति ।
सादप्रदीपकल्पं सङ्कोचविकासि चित्तं शरीरपरिमा
मात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः । तथा चान्तराभाव
युक्त इति । वृत्तिरेवास्य विभुनः सङ्कोचविकासि
चार्य्यः । तच्च धर्म्मादिनिमित्तापेक्षम् निमित्तं च द्वि
बाह्यमाध्यात्मिकं च । शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तु
नाभिवादनादि चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकं
कम्–ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसा
रनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्त्तयन्ति । तयोर्मा
बलीयः । कथं, ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते, दण्डका
चित्तबलव्यतिरेकेण कः शारीरेण कर्म्मणा शून्यं कः
मुत्सहेत समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत् ॥ १० ॥

भा का प०—आशीर्वाद के नित्य होने से वासना अनादि
मैं सर्वदा रहूँ मेरा नाश कभी न हो यह जो अपने
आशीर्वाद है सबमें दीखता है क्या यह स्वाभाविक नहीं
अर्थात् अवश्य ही स्वाभाविक है क्योंकि तत्क्षण ही के म

जन्तु को जिसने मरने के दुःख को नहीं भोगा है स्मृति के बिना मरने का भय कहाँ से होगा ? स्वाभाविक वस्तु निमित्त का आश्रय नहीं रखती इससे अनादि वासना से युक्त जो चित्त है, वह कारण-वश से किसी २ वासना को पाकर पुरुष को भोग देनेवाला होता है इस रीति से घट और अटारी के दीपक के समान अर्थात् दीपक को यदि घट मे रक्खें तो वह घट से बाहर प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता और जो दीपक को अटारी के ऊपर रख दो तो वह स्थान भर को प्रकाशित कर देता है ऐसे ही चित्त संकोच और विकास करता है शरीर के परिणाम के समान ही वह प्रकाश करता है यह भी किसी का मत है वैसे ही विच्छेद रहित संसार चित्त से व्याप्त है। इससे सिद्ध हुआ कि चित्त विभु अर्थात् व्यापक है और उसकी शक्ति संकोचविकास को प्राप्त होती है यह पतञ्जलि आचार्य्य का मत है। चित्त के संकोच और विकास धर्मादि निमित्तों के अधीन हैं। निमित्त दो प्रकार का है बाह्यनिमित्त और आध्यात्मिक निमित्त। जिसमें शरीरादि बाह्य साधनों की अपेक्षा हो वह बाह्य-निमित्त कहलाता है, जैसे स्तुति, दान और वन्दन करना अर्थात् प्रणाम करना आदि और जो केवल चित्त के ही आश्रित हो जैसे श्रद्धा आदि आध्यात्मिक निमित्त कहाते हैं ॥ १० ॥

भा० का भा०—वासना अनादि हैं क्योंकि मैं सदा रहूँ मेरा विनाश कभी न हो ऐसे अपने कल्याण की इच्छा प्राणिमात्र को होती है सो यह इच्छा स्वाभाविक है क्योंकि इस ही क्षण में उत्पन्न हुआ जो जन्तु है उसको भी मरने का भय होता है, यदि उसने मरने का दुःख भोगा नहीं तो उसे भय क्यों हुआ ? उसके भय होने से सिद्ध होता है कि वासना अनादि हैं, उन अनादि वासनाओं से भरे हुये चित्त में किसी निमित्त को पाकर वही वासना पुरुषों के भोग की कारण हो जाती हैं। चित्त दीपक के

त्वादनादित्वम् येयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी। कस्मात्? जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्। न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति। घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति। वृत्तिरेवास्य विभुनः संकोचविकासिनीत्याचार्यः। तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम् निमित्तं च द्विविधम् बाह्यमाध्यात्मिकं च। शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादिचित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकं तथाचो-क्तम्—ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति। तयोर्मानसं बलीयः। कथं, ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते, दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण कः शारीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत्॥ १० ॥

भा० का प०—आशीर्वाद के नित्य होने से वासना अनादि हैं मैं सर्वदा रहूँ मेरा नाश कभी न हो यह जो अपने आत्मा का आशीर्वाद है सबमें दीखता है क्या यह स्वाभाविक नहीं है? अर्थात अवश्य ही स्वाभाविक है क्योंकि तत्क्षण ही के उत्पन्न हुए

जन्तु को जिसने मरने के दुःख को नहीं भोगा है स्मृति के विना मरने का भय कहाँ से होगा ? स्वाभाविक वस्तु निमित्त का आश्रय नहीं रखती इससे अनादि वासना से युक्त जो चित्त है, वह कारण-वश से किसी २ वासना को पाकर पुरुष को भोग देनेवाला होता है इस रीति से घट और अटारी के दीपक के समान अर्थात् दीपक को यदि घट मे रक्खें तो वह घट से बाहर प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता और जो दीपक को अटारी के ऊपर रख दो तो वह स्थान भर को प्रकाशित कर देता है ऐसे ही चित्त सकोच और विकास करता है शरीर के परिणाम के समान ही वह प्रकाश करता है यह भी किसी का मत है वैसे ही विच्छेद रहित ससार चित्त से व्याप्त है। इससे सिद्ध हुआ कि चित्त विभु अर्थात् व्यापक है और उसकी शक्ति सकोचविकास को प्राप्त होती है यह पतञ्जलि आचार्य्य का मत है। चित्त के सकोच और विकास धर्मादि निमित्तों के अधीन हैं। निमित्त दो प्रकार का है वाह्यनिमित्त और आध्यात्मिक निमित्त। जिसमे शरीरादि वाह्य साधनों की अपेक्षा हो वह बाह्य-निमित्त कहलाता है, जैसे स्तुति, दान और वन्दन करना अर्थात् प्रणाम करना आदि और जो केवल चित्त के ही आश्रित हो जैसे श्रद्धा आदि आध्यात्मिक निमित्त कहाते हैं॥ १०॥

भा० का भा०—वासना अनादि हैं क्योंकि मैं सदा रहूँ मेरा विनाश कभी न हो ऐसे अपने कल्याण की इच्छा प्राणिमात्र को होती है सो यह इच्छा स्वाभाविक है क्योंकि इस ही क्षण में उत्पन्न हुआ जो जन्तु है उसको भी मरने का भय होता है, यदि उसने मरने का दुःख भोगा नहीं तो उसे भय क्यों हुआ ? उसके भय होने से सिद्ध होता है कि वासना अनादि हैं, उन अनादि वासनाओं से भरे हुये चित्त मे किसी निमित्त को पाकर वही वासना पुरुषों के भोग की कारण हो जाती हैं। चित्त दीपक के

समान, है उसे प्रकाश करने को जितना अवकाश मिलेगा उतना ही वह प्रकाशित होगा, इससे कोई २ मानते हैं कि चित्त शरीर के अनुसार ही प्रकाश करता है परन्तु उसकी शक्तियों का संकोच और विकास होता है। चित्त के संकोच और विकास का निमित्त धर्मादि हैं। निमित्त या कारण दो प्रकार के होते हैं—एक बाह्य और दूसरा आध्यात्मिक। जिसमें बाह्य शरीरादि साधनों की आवश्यकता हो वे दान और शिष्टवन्दनादि बाह्य हैं और दूसरा वह है जिसमें केवल चित्त वृत्तियों की ही अपेक्षा हो जैसे श्रद्धादि इन दोनों में से मानसिक बलवान हैं क्योंकि ज्ञान और वैराग्य से अधिक कोई नहीं है शारीरिक कर्म से कौन दण्डकारण्य को उजाड़ सकता है और अगस्त्य के समान समुद्र को कौन सुखा सकता है अभिप्राय यह है कि ज्ञान और वैराग्य से सुख प्राप्त होता है भोग से नहीं ॥ १० ॥

भा० वृ०—तासां वासनानामनादित्वं न विद्यत आदिर्यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तासामादिर्नास्तीत्यर्थः। कुत इति—आशिषो नित्यत्वात् येयमाशीर्महामोहरूपा सदैव सुखसाधनानि मे भूयासुः, मा कदाचन तैर्मे वियोगोऽभूदिति। यः सङ्कल्पविशेषो वासनानां कारणं तस्य नित्यत्वादनादित्वादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—कारणस्य सन्निहितत्वादनुभवसंस्कारादीनामाध्यात्मिकी प्रवृत्तिः केन वार्यते अनुभवसंस्कारानुविद्धं सङ्कोचविकासधर्मि चित्तं तत्तदभिव्यञ्जकलाभात् तत्तत् फलरूपतया परिणमत इत्यर्थः ॥ १० ॥

तासामानन्त्याद्धानं कथं भवतीत्याशङ्क्य हानोपायमाह—

भा० वृ० का भा०—वासनाओं के अनादि होने से ऊपर किसी शंका नहीं हो सकती है। अनादि का अर्थ यह कि—नहीं है आदि जिसकी। वासना अनादि क्यों है? इसका उत्तर यह है कि आत्मा सम्बन्धी आशीर्वाद अर्थात् शुभाकांक्षा नित्य है इस

कारण वासना भी नित्य है, यह जो महामोह रूप आशीर्वाद है अर्थात् मुझे सदैव सुख के साधन रहें उनसे मेरा वियोग कभी न हो, यही संकल्प वासना का कारण है अभिप्राय यह हुआ कि कारण के समीप रहने से अनुभव और संस्कार रूपी कार्य्य नहीं रुक सकते हैं, अनुभव और संस्कार से युक्त चित्त संस्कारादि के प्रकाशक को पाकर परिणाम को धारण करता है ॥ १० ॥

संकल्प और वासनादि के अनादि और नित्य होने से उनका नाश क्योंकर होगा ? इस शङ्का का समाधान अगले सूत्रमें करते हैं

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

सू० का प०—(हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वात्) कर्मादि के हेतु, फल और आश्रय के आलम्बन द्वारा संगृहीत होने से (एषामभावे) इन हेत्वादि के अभाव में (तदभावः) उसका भी अभाव हो जाता है ॥ ११ ॥

सू० का भा०-हेतु, फल और आश्रयके आलम्बन से वासनादि रहती हैं, और इनके अभाव से उनका भी अभाव हो जाता है ।११

व्या० दे० कृ० भा०—हेतुर्धर्मात् सुखमधर्मात् दुःखं, सुखाद्रागो दुःखाद्द्वेषस्ततश्च प्रयत्नस्तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा ततः पुनर्धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम् । अस्य च प्रतिक्षणमावर्तमानस्याविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानामित्येष हेतुः । फलन्तु यमाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मादेः,

नवपूर्वोपचयः । मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम् । न ह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते । यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनम् । एवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतैः संगृहीताः सर्वा वासनाः । एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावः ॥ ११ ॥

नास्त्यसतः सम्भवो, न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन सम्भवन्त्यः कथं निवर्तिष्यन्ते वासना इति —

भा० का प०—हेतु का वर्णन करते हैं—धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है सुख से राग होता है और दुःख से द्वेष होता है। राग द्वेष से प्रयत्न मन से वचन से वा शरीर से चेष्टा करता है इस रीति से इन सबके हेतु धर्म और अधर्म हुए उस अनुग्रह और निग्रह से फिर भी धर्म और अधर्म तथा राग द्वेष होते हैं इस रीति से छः आरे वाला यह संसार चक्र प्रवर्तित है यह जो प्रतिक्षण संसार चक्र चलता रहता है इसका अविद्या ही मूल है सर्व क्लेशों का हेतु अविद्या है। फल उसे कहते हैं जिसका आश्रय पाकर जिस धर्मादि की तात्कालिक उत्पत्ति होती है। अपूर्व उत्पत्ति नहीं होती और मन वासनाओं का अधिकार अर्थात् संस्कार सहित आधार है जिस मनमें वासना का अधिकार अर्थात् संस्कार नहीं होता उसमें आश्रय रहित वासना भी नहीं रह सकती। जिस गुण वाली वस्तु जिस वासना को प्रकट करती है उस वासना का वही आश्रय वा आधार है इस रीति से हेतु फल और आश्रय के आलम्बन से सब वासनायें संगृहीत हैं इत्यादिकों के अभाव में उनके आश्रय में रहने वाली वासनाओं का भी अभाव होता है ॥ ११ ॥

असत् की विद्यमानता कभी नहीं होती और न सत् का कभी अभाव होता है इससे द्रव्यत्व के रूपमे उत्पन्न होने वाली वासनायें कैसे दूर होगी—

भा० का भा०—सूत्र में लिखे हुये हेतु का अर्थ यह है कि धर्म से सुख, अधर्म से दुःख, सुख से राग, दुःख से द्वेष इन दोनो से प्रयत्न उत्पन्न होता है उस प्रयत्न से मानसिक, वाङ्मयी वा शारीरिक क्रिया होती हैं जिससे अन्य प्राणियों पर कृपा वा प्रहार किया है उस अनुग्रह वा निग्रहसे पुनरपि धर्म वा अधर्म का प्रादुर्भाव होता है उनसे फिर सुख, दुःख और राग, द्वेप उत्पन्न होते हैं इस रीति से यह संसार चक्र जिसके धर्मादिक छः आरे हैं घूमता रहता है परन्तु इस संसार चक्र का मुख्य हेतु अविद्या है। फल उसे कहते हैं जिसके आश्रय से वासना उत्पन्न हों, यदि कोई शका करे कि वासना मन के आश्रय से उत्पन्न होती हैं तो क्या फल वाच्य मन है ? इसका उत्तर यह है कि जिस मनमें जिस प्रकार का वस्तु संस्कार होगा वैसी ही वासना को उत्पन्न करेगा। इस लिये हेतु और फल के आश्रय से वासना का प्रादुर्भाव होता है और इनके अभाव से वासनाओं का भी अभाव होता है क्योंकि असत् का होना और सत् का विनाश कभी नहीं हो सका ॥११॥

भो० वृ०—वासनानामनन्तराऽनुभवो हेतुस्तस्याप्यनुभवस्य रागादयस्तेषामविद्येति साक्षात पारम्पर्येण हेतुः फलं शरीरादि स्मृत्यादि च। आश्रयो बुद्धिसत्वम्। आलम्बन यदेवानुभवस्य तदेव वासनानामतस्तैर्हेतुफलाश्रयालम्बनैरनन्तानामपि वासनाना सगृहीतत्वात्तेषा हेत्वा दीनामभावे ज्ञान योगाभ्या दग्धबीजकल्पत्वे विहिते निर्मूलत्वान्न वासनाः प्ररोहन्ति न कार्य्यमारभन्त इति तासामभावः॥ ११ ॥

ननु प्रतिक्षण चित्तस्य नश्वरत्वोपलब्धेर्वासनाना तत्फलानाञ्च

कार्य्यकारणभावेन युगपदुभाविरवादु वे कथमेकत्वमित्याशंक्य एक स्वसमर्थनायाह—

भो० वृ० का भा०वासनाओं का हेतु अनुभव है और अनुभव का हेतु रागादिक हैं और रागादि की हेतुभूत अविद्या है और इन के फल शरीरादि वा स्मृति आदि हैं और बुद्धि इनका अधिष्ठान है। जो अनुभव के अधिष्ठान हैं वही वासनाओं के भी हैं इस कारण वासना अनादि और अनन्त होने पर भी हेतु के अभाव से और योग तथा ज्ञान से उसके हेत्वादि का जब नीज दग्धवत् हो जाता है तब वासना क्षय होकर अपने कार्य्य को नहीं कर सकती है इससे वासनाओं का अभाव कहा जाता है॥ ११॥

अब सन्देह यह होता है कि चित्त प्रति क्षण विनष्ट होता है वासना और वासना के फल जो कार्य्य कारण भाव से एक समय में होने वाले हैं और भिन्न भिन्न हैं तब उनको एक क्योंकर कहा जाता है इसका उत्तर अगले सूत्र में कहते हैं—

अतीतानागत स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्म्माणाम् १२

सू० का प०—(अतीतानागतम्) भूत और भविष्य (स्वरूपतोऽस्ति) स्वभाव से है (अध्वभेदाद्धर्म्माणाम्) गुणों के मार्ग विभिन्न होने से॥ १२॥

सू० का प —तीनों काल गुणों से भिन्न २ हैं॥ १२॥

व्या० दे० छ० भा०—भविष्यद्व्यक्तिकमनागतम्, अनुभूतव्यक्तिकमतीतम्, स्वव्यापारोपारूढं वर्तमानम्, त्रयं चैतद्वस्तुज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि चैतत् स्वरूपतो नाभविष्य-न्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत। तस्मादतीतानागतं स्वरूप-

तोऽस्तीति। किंच भोगभागीयस्य वापवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत। सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वोपजनने। सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं कुरुते नापूर्वमुत्पादयतीति। धर्मी चानेकधर्मस्वभावस्तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः। नच यथा वर्तमानम् व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्त्येवमतीतमनागतं च। कथं तर्हि स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति। स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति न सा भवत्यतीतानागतयोरध्वनोः। एकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वा भावस्त्रयाणामध्वनामिति। १२

भा० का प०—भविष्यकाल अनागत कहलाता है, जिस काल का अनुभव किया गया है उसे अतीतकाल कहते हैं। जो अपनी क्रिया कर रहा है उसे वर्तमान काल कहते हैं। ये तीनों वस्तुओं के ज्ञान में प्रथम ज्ञेय हैं अर्थात् विना काल ज्ञान के किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। यदि यथार्थ में यह कुछ न हो तो निर्विषय ज्ञान ही उत्पन्न न हो और भी भोग भाग वाले कर्म अथवा मोक्ष भागवाले कर्म का उत्पन्न होने वाला फल यदि उपाधि रहित है तो उद्देश्य से वा उसकी प्रयोजकता से उत्तम कर्मों का करना भी नहीं हो सकेगा। होने वाले फल का निमित्त उसे वर्तमान करने में समर्थ हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ निमित्त नैमित्तिक पर विशेष अनुग्रह करता है। न कि पहले उसे उत्पन्न करता है। धर्मी

अर्थात् गुणी अनेक गुण वाला होता है मार्ग भेद से गुण स्थिर रहते हैं न कि जैसे मुख्य रूप से व्यक्तित्व को प्राप्त हुआ है, वैसे ही भूत और भविष्य भी होते हैं, तब किस रीति से भूत और भविष्य का व्यक्तित्व माना जाता है अपने व्यङ्ग रूप से भविष्यत् और अनुभूत रूपसे भूत काल है वर्तमान मार्ग के ही स्वरूप की व्यक्ति होती है अनागत और भूत की नहीं। यह प्रकाश एक काल के मार्ग में वा अन्य मार्गों का नहीं हो सकता है परन्तु गुणी के सम्बन्ध से तो हो सकता है किन्तु तीनों कर्मों का अभाव नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

भा० का भा०—भविष्यत्, भूत और वर्तमान ये तीनों काल वास्तव में भिन्न २ हैं और ज्ञानादि में बड़े सहायक हैं यदि ये न हों तो किसी वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान न हो। एवं भोग भागीय अथवा मोक्ष भागीय कर्म का फल संशय रहित जो उत्पन्न होने वाला है उसके उद्देश से अथवा उसके निमित्त से कोई भी शुभ कर्म का आरम्भ न करे अतएव गुणी एक काल होने पर भी उसके गुणों के मार्ग भिन्न २ हैं ॥ १२ ॥

भो० वृ०—इहात्यन्तमसतां भावानामुत्पत्तिर्न युक्तिमती तेषां सत्त्व सम्बन्धायोगात्। न हि शशविषाणादीनां क्वचिदपि सत्त्व सम्बन्धो दृष्टः। निरुपाख्ये च कार्ये किमुद्दिश्य कारणानि प्रवर्तेरन्। नहि विषयमनालोच्य कश्चित् प्रवर्तते। सतामपि विरोधान्नाभाव सम्बन्धोऽस्ति यत्स्वरूपेणाऽलब्धसत्ता तत्कथं निरुपाख्यतामभावरूपतां वा भजन् न विरुद्ध रूपं स्वीकरोतीत्यर्थः। तस्मात्सतामाशाऽन्ममावदसतां चोत्पत्तयसम्भवाद्वै धर्मैर्विपरिणममानो धर्मी सर्वदैकरूपतयावतिष्ठते। धर्मास्तु त्र्यध्वकत्वेन त्रैकालिकत्वेन व्यवस्थितास्तस्मिन् स्वस्मिन्नध्वनि व्यवस्थिता न स्वरूपं त्यजन्ति। वर्तमानेऽध्वनि व्यवस्थिताः केवलं भाग्यतां भजन्ते। तस्मादुभौ याद्-

मतीतानागतादिभेदात्तेनैवरूपेण कार्यकारणभावोऽस्मिन् दर्शने प्रतिपाद्यते। तस्मादपवर्गपर्य्यन्तमेकमेव चित्तं धर्मितयानुवर्तमानं न निन्होतुं पार्यते ॥ १२ ॥

त एते धर्मधर्मिण. कि रूपा इत्याह—

भो० वृ० का भा०-संसार में अत्यन्त असत् भावों की उत्पत्ति युक्त नहीं है क्योंकि असत् वस्तुओं का बुद्धि के साथ सम्बन्ध नहीं होता खरहे के सींगो का सम्बन्ध कहीं भी नहीं देखते जो असत् कार्य्य हैं उनमे कारण की प्रवृत्ति ही नहीं होती है कोई भी बुद्धिमान् असत् के विचार मे प्रवृत्त नहीं होता और जो सत् पदार्थ हैं उनकाअभाव के साथ सम्बन्ध नहीं होता। जिस रूप का भाव है, वह अभाव को क्योकर प्राप्त हो सकता है अर्थात् विरुद्ध धर्म को कोई धारण नहीं कर सकता है। इस कारण सत् के अभाव न होने से और असत् की उत्पत्ति न होने से धर्म्मी अनेक अवस्थाओं में परिणत होने से भी सत् स्वरूप रहता है। उस सत्रूप धर्मी मे धर्म तीन काल के मार्ग से रहता है। वे काल भी अपने रूप को त्याग नहीं करते हैं जैसे वर्तमान मार्ग मे स्थित वासना और कर्म्मादि केवल भोग्यभाव में स्थित रहते हैं इस कारण भूत और भविष्य आदि भेद से कार्य्यकारण भाव को धारण करता है। अब यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष पर्यन्त भी धर्मी रूप से चित्त एक ही रहता है बदलता नहीं ॥ १२ ॥

आगे धर्म और धर्मी के स्वरूप को कहते हैं—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

सूत्र का प०—(ते) वे तीनों मार्ग (व्यक्तसूक्ष्माः) व्यक्त और सूक्ष्म (गुणात्मनः) गुणवाले हैं ॥ १३ ॥

सू० का भा०—उक्त तीनों मार्ग प्रकट और सूक्ष्म गुणवाले हैं।

व्या० दे० कृ० भा०—ते खल्वमी त्र्यध्वानो धर्मा वर्तमाना व्यक्तात्मानोऽतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः षड् विशेषरूपाः। सर्वमिदं गुणानां संनिवेशविशेषमात्रमिति परमार्थतो गुणात्मानः तथा च शास्त्रानुशासनम्—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकमिति ॥ १३ ॥

यदा तु सर्वे गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति—

भा० का प०—पूर्वसूत्र में कहे तीन भागवाले धर्मों में वर्तमान प्रकट रूपवाले होते हैं भूत और भविष्यत् सूक्ष्म रूपवाले होते हैं यह धर्मों के रूप में समानता है यह सब गुणों के स्वभाव से ही भिन्नता है यथार्थ में तो गुणरूप ही है ऐसी ही अन्य शास्त्रों की भी आज्ञा है, गुणों का यथार्थ रूप नेत्रों से नहीं दीखता है और जो नेत्रों से दीखता है वह सब माया है ॥ १३ ॥

यदि ये सब गुण ही हैं तो किस प्रकार से यह कहा जाता है कि एक ही शब्द है और एक ही इन्द्रिय है—

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में कहे जो गुणों के तीन भाग उनमें से वर्तमान भाग तो प्रकट रहता है और भूत तथा भविष्यत भाग सूक्ष्म रूप से रहते हैं अन्य शास्त्रों में भी कहा है कि गुणों का यथार्थ रूप दृष्टिगत नहीं होता और जो इन्द्रियों से देखा जाता है वह सब माया है ॥ १३ ॥

भा० प्र०—एवं धर्मधर्मिणोः प्रागुक्तस्य व्यक्तसूक्ष्मभेदेन व्यवस्थिता गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपास्तदात्मानस्तत् एकभावास्तत्परिणामरूपा इत्यर्थः। यतः सत्त्वरजस्तमांसि सुखदुःखमोहरूपाणि सर्वार्थं व्यापारभ्रमस्वरूपभेदाभिमानी भावमुक्तिनाम्नत्वानुगमा दृश्यते।

यद्यदन्वयि तत्तत्परिणामिरूपं यथा घटादयो मृदन्विता मृत्परिणाम रूपाः ॥ १३ ॥

यद्येते त्रयो गुणाः सर्वत्रमूलकारणं कथमेको धर्मीति व्यपदेशः इत्याशंक्याह—

भो० वृ० का भा०—यह जो धर्म धर्मी पूर्व कहे वे प्रत्यक्ष और सूक्ष्मरूप से रज, और तमोगुण रूप से उनके ही परिणाम और उनके ही स्वभाव वाले होते हैं क्योंकि सत्व, रज और तमोगुण से ही वे सब भाव जो कि बाह्य और आभ्यन्तर भेदों से प्रकट होते हैं भाव रूप दिखाई देते हैं जोर जिसका अनुगामी वा सम्बन्धी होता है वह उसका ही परिणाम होता है जैसे घट मट्टी का अन्तिम वा सम्बन्धी होता है इस कारण मट्टी का ही परिणाम है ॥ १३ ॥

अब शंका यही होती है कि यदि वह तीनों गुण सर्वत्र कारण हैं तो धर्मी एक क्योंकर हो सक्ता है इसका उत्तर अगले सूत्रमे देते हैं-

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्वम् ॥ १४ ॥

सू० का प०—(परिणामैकत्वात्) परिणाम की एकता से (वस्तुतत्वम्) वस्तुओं का तत्व जाना जाता है ॥ १४ ॥

सू० का भा०—परिणाम के अनुसार वस्तुओं का तत्व विदित होता है ॥ १४ ॥

व्या० भा०—प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं ग्राह्यात्मकानां शब्दभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति

शब्दादीनां मूर्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथ्वीपरमाणुस्तन्मात्रावयवस्तेषां चैकः परिणामः पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः। नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरोऽस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नविषयोपमं न परमार्थतोऽस्तीति य आहुस्ते तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः॥ १४॥

कुतश्चैतदन्याय्यम्—

भा० का प०—प्रख्या अर्थात् प्रकाशशील क्रियाशील और स्थितिशील सत्त्वात्मक गुणों का कारण भाव से एक ही परिणाम मात्र इन्द्रिय है और जो ग्रहण किये जाने वाले विषय हैं, उनका भी तन्मात्र भाव से एक ही शब्द परिणाम है। शब्दादिकों का भी एक ही परिणाम परमाणु रूप है और इन परमाणुओं का परिणाम पृथिवी गौ वृक्ष और पर्वत आदि हैं। स्नेह और उष्णता आदि अन्य भूतों का परिणाम भी अवकाश पाकर एक विकार का आरम्भ करते हैं। कोई भी अर्थ विज्ञान के बिना चरितार्थ होने वाला नहीं है किन्तु ज्ञान अर्थ के बिना होता है। जो स्वप्नादि में ज्ञान के बिना अर्थ होता है वह केवल कल्पना मात्र है वास्तव में कुछ नहीं। इस रीति से जो लोग वस्तु के स्वरूप का अपलाप करते हैं कि ज्ञान कल्पना मात्र है वस्तु स्वप्न के समान होती है यथार्थ

मे कुछ नहीं है उनका कथन ठीक नहीं ॥ १४ ॥

भा० का भा० —प्रख्या, क्रिया और स्थितिशील जो ग्रहणात्मक गुण हैं, उनका कारण रूप एक परिणाम, ग्राह्यात्मक दूसरा परिणाम, इन्द्रिय विषयरूप तीसरा परिणाम पृथिवी, परमाणु, तन्मात्रा और अवयव रूप चौथा परिणाम, और पृथ्वी, गौ, वृक्षादि अन्य तत्वो के संयोग से पचम परिणाम होता है। इन सब कारणों से एक विकार आरम्भ होता है ॥ १४ ॥

भो० वृ०—यद्यपि त्रयोगुणास्तथापि तेषामङ्गाङ्गिभावगमनलक्षणो यः परिणामः क्वचित् सत्त्वमङ्गि क्वचिच्च तम इत्येवंरूपस्तस्यैकत्वाद्वस्तुतमेकत्वमुच्यते। यथेय पृथ्वी अयं वायुरित्येवमादि ॥ १४ ॥

ननु च ज्ञानव्यतिरिक्ते सत्यर्थे वस्त्वेकमनेकं वा वक्तुं युज्यते। यदा विज्ञानमेव वासनावशात् कार्य्यकारणभावेनावस्थितं तथा तथा प्रतिभाति तदा कथमेतच्छक्यते वक्तुमित्याशक्याह—

भो० वृ० भा०—यद्यपि गुण तीन हैं तब भी वह अङ्गांगि भाव जो एक परिणाम को धारण करने अर्थात् कभी सत्वगुण अङ्गी और दूसरे गुण उसके अङ्ग हो जाते हैं। कहीं रजोगुण और कहीं तमोगुण अङ्गी हो जाता है इस प्रकार से अङ्गी गुण की एकता को समझ के धर्मी भी एक कहा जाता है जैसे पृथ्वी मे और तत्वों के भी परवाणु मिले हैं तौ भी यह एक पृथ्वी कहलाती है ऐसे ही वायु आदि मे भी एकता का व्यवहार होता है ॥ १४ ॥

यह सन्देह हो जाता है कि ज्ञान से भिन्न जो वस्तु हो उसमे एकता व अनेकता कही जा सकती है परन्तु जब विज्ञान ही वासना के द्वारा कार्य्यकारण भाव से प्रतीत होता है तब एकता वा अनेकता क्योंकर कही जा सकती है? इसका उत्तर अगले सूत्र मे कहते हैं—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

शब्द का प०—(वस्तुसाम्ये) वस्तु की एकता में (चित्तभेदात्) चित्त के भेद से (तयोर्विभक्तः पन्थाः) धर्म्म और धर्मी का मार्ग भिन्न है ॥ १५ ॥

सू० का प०—वस्तु की एकता होने पर भी चित्तभेद से उनका मार्ग भिन्न है ॥ १५ ॥

व्या० भा०—बहुचित्तावलम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणं, तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं किन्तु स्वप्रतिष्ठम् कथ, वस्तुसाम्ये चित्तभेदात् । धर्मापेक्षं चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवत्यधर्मापेक्षं तत एव दुःखज्ञानमविद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानं सम्यग्दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्यज्ञानमिति । कस्य तच्चित्तेन परिकल्पितम् । न चान्यचित्तपरिकल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्तोपरागो युक्तः । तस्माद्वस्तुज्ञानयोर्ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोर्विभक्तः पन्थाः । नानयोः संकरगन्धोऽप्यस्तीति सांख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुणं चलं च गुणवृत्तमिति धर्मादिनिमित्तापेक्षं चित्तैरभिसंबध्यते । निमित्तानुरूपस्य च प्रत्ययस्योत्पद्यमानस्य तेन तेनात्मना हेतुर्भवति । केचिदाहुः- ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात् सुखादिवदिति त एतया द्वारा साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वोत्तरेषु क्षणेषु वस्तुरूपमेवापह्नुवते ॥ १५ ॥

भा० का प०—अनेक चित्तों में आलम्बनीभूत एक वस्तु साधा-

रण अर्थात् सामान्य है। वह वस्तु एक चित्त के द्वारा कल्पित नहीं हुई है न अनेक चित्तो के कल्पना करने के योग्य है किन्तु वह वस्तु स्वप्रतिष्ठ अर्थात् अपरिणामी वा कल्पनारहित है क्योंकि ज्ञेयवस्तु की एकता होने पर भी चित्त भेद से। उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे धर्म्म के कारण से वस्तु की एकता में भी चित्त को सुख ज्ञात होता है अधर्म्म से उसी चित्त को दुःख ज्ञान होता है अविद्या के संस्कार से उसी चित्त को मूढ ज्ञान होता है औरसम्यग्दर्शन से उसी चित्त को मध्यस्थ ज्ञान होता है। यह सब ज्ञान किसको होते हैं। उसी एक चित्त से परिकल्पित हैं क्योंकि दूसरे चित्त के कल्पित अर्थों से दूसरा चित्त उपरक्त नहीं हो सकता इस हेतु से वस्तु अर्थात् ज्ञेय पदार्थ और ज्ञानका मार्ग भिन्न २ है इन दोनों मे मिलावट का लेश भी नहीं है। फिर सांख्य के पक्ष में वस्तु त्रिगुण है और गुण चञ्चलवृत्तिवाले हैं इसलिये धर्मादि निमित्त से चित्त के संग सम्बन्ध रखते हैं धर्म्मादि निमित्त के अनुकूल ही उत्पन्न हुआ जो ज्ञान वह जिस आत्मा को हुआ है उसी आत्मा के ज्ञान का हेतु है। कोई २ कहते हैं कि वस्तु का इन्द्रियार्थभी ज्ञान के संग ही उत्पन्न होता है क्योंकि ज्ञेय के विना ज्ञान का होना असम्भव है जैसे सुख अर्थात् जब सुख की सामग्री वा सुख ही न होगा तो सुखज्ञान कैसे होगा॥१५

भा० का भा०—बहुत लोग कहा करते हैं कि बाह्य वस्तु कुछ नहीं है किन्तु अन्तःकरणस्थ विज्ञान ही सब कुछ है क्योंकि यदि बाह्य वस्तु भी कुछ हो तो दोनो मे अभेद हो जायगा इसका उत्तर यह है कि जो वस्तु अनेक चित्तो के द्वारा कल्पित नहीं है किन्तु ज्ञेयवत् धर्म्मयुक्त साधारण वस्तु है क्योंकि एक चित्त मे निमित्तानुसार अनेक ज्ञान होते हैं जैसे धर्म्म से सुख ज्ञान, अधर्म्म से दुःख ज्ञान, अविद्या से मूढ ज्ञान और सम्यग्दर्शन से मध्यस्थ

ज्ञान एक ही चित्तमें होता है। यदि ज्ञानभेद होता तो एक चित्त में अनेक ज्ञान न होते और एक मनुष्य के ज्ञान का दूसरे के चित्त में आरोप होना भी असम्भव है। इसलिये वस्तु अर्थात् ग्राह्य और ज्ञान का अत्यन्त भेद है इन दोनों में एकता की गन्ध भी नहीं है। सांख्य के मत में वस्तु त्रिगुणात्मक है और गुण चञ्चल वृत्ति वाले हैं। धर्मादि रूप से ज्ञान के हेतु होकर चित्त से सम्बन्ध रखते हैं एवं जैसा निमित्त होता है वैसा ही ज्ञान उत्पन्न होकर आत्मा से संयुक्त होता है। किन्हीं २ लोगों का यह भी मत है कि ज्ञान के संग ही इन्द्रियों के विषय भी उत्पन्न होते हैं क्योंकि बिना विषयों के ज्ञान किसी रीति से नहीं हो सकता है, जैसे-सुख वा दुःख बिना ज्ञान के नहीं हो सकते और बिना सुख दुःख के ज्ञान किसका होगा ॥ १५ ॥

भा० पृ०—तयोर्ज्ञानार्थयोर्विविक्तः पन्था विविक्तो मार्ग इति यावत्। कुतः वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्। समाने वस्तुनि स्त्र्यादावुप लभ्यमाने साधनस्यादौ नानाप्रमातृणां चित्तस्य भेदः सुखदुःखमोह रूपतया समुपलभ्यते। तथाहि—एकस्यां रूपलावण्यवत्यां योषिति उपलभ्यमानायां सरागस्य सुखमुत्पद्यते सपत्न्यास्तुद्वेषः परिव्राज कादेर्घृणेत्येकस्मिन् वस्तुनि नानाविधचित्तोदयात् कथं चित्तकार्यत्वं वस्तुन एकचित्तकार्यत्वे वस्त्वैकरूप्यमेवावभासेत। किञ्च चित्तकार्यत्वे वस्तुना यदीयस्य तद्वस्तु कार्य्यं तस्मिन्नर्थान्तर व्यासक्तेऽतद्वस्तु न किञ्चित्स्यात्। अपरिचितं चाज्ञातमेव कथम न्यैरनुभिरुपलभ्येत अनुपलभ्येत च। तस्मान्न चित्तकार्य्यम्। अथ युगपद्बहुभि र्भाव्यं क्रियते। तदा बहुनिर्मितस्यार्थस्यैकनिर्मिता द्वैलक्षण्यं स्यात्। यदा तु वैलक्षण्यं नेष्यते तदा कारणभेदे सति कार्य्यभेदस्याभावे निर्हेतुकमेकरूपं वा जगत् स्यात्। एतदुक्तं भवति—सत्यपि भिन्ने कारणे यदि कार्य्यस्याभेदस्तदा सममं जगत्

नानाविधकारणजन्यमेकरूपं स्यात् । कारणभेदाननुगमात् स्वातंत्र्येण निर्हेतुकं वा स्यात्। यद्येवं कथं तेन त्रिगुणात्मना चित्तेनैकस्यैव प्रमातुः सुखदुःखमोहमयानि ज्ञानानि न जन्यन्ते । मैवम् । यथार्थस्त्रिगुणस्तथा चित्तमपि त्रिगुण तस्यार्थप्रतिभासोत्पत्ती धर्मादयः सहकारिकारण तदुद्भवाभिभववशात् कदाचिच्चित्तस्य तेन तेन रूपेणाभिव्यक्तिः । तथा च कामुकस्य सन्निहितायां योषिति धर्मसहकृतं चित्त सत्त्वस्याङ्गितया परिणममान सुखमयं भवति। तदेवाधर्मसहकारि रजसोऽङ्गितया दुःखरूपं सपत्नीमात्रस्य भवति। तीव्राधर्मसहकारितया परिणममानंतमसोऽङ्गित्वेन कोपनायाः सपत्न्या मोहमय भवति । तस्माद्विज्ञानव्यतिरेकेणास्ति बाह्योऽर्थः। तदेव न विज्ञानार्थयोस्तादात्म्यं विरोधान्न कार्य्यकारणभावः । कारणभेदे सत्यपि कार्य्यस्य भेदेऽतिप्रसङ्गादिति ज्ञानाद्यतिरिक्तत्वमर्थस्य व्यवस्थापितम् ॥ १५ ॥

यद्येव ज्ञानञ्चेत् प्रकाशत्वाद्ग्रहणस्वभावमर्थश्च प्रकाश्यत्वाद् ग्राह्यस्वभावस्तत्कथं युगपत् सर्वानर्थान्न गृह्णाति न स्मरति चेत्याशक्य परिहर्त्तुमाह—

भो० वृ० का भा०—उन दोनों धर्म और धर्मी के ज्ञानों का मार्ग भिन्न २ है क्योंकि वस्तु में एकता होने पर भी चित्त भेद होने से वह भेद भान होता है जैसे एक ही स्त्री आदि वस्तु में प्रमाता अर्थात् देखने वालों के चित्त भेद से सुख वा दुःख रूप फल भी जुदे २ होते हैं कि रूप और लावण्य युक्त स्त्री तो एक ही होती है परन्तु जो पुरुष उससे प्रीति रखता है उसको वही रूपादि सुख दायक होते हैं वही स्त्री सौत को दुःख देने वाली और सन्यासी को घृणा उत्पन्न कराने वाली होती है। समझना चाहिये कि एक ही स्त्री में प्रमाताओं के चित्त भेद से इतने भेद हो जाते हैं इसी प्रकार से समझना चाहिये कि उस एक वस्तु में नानात्व

कार्य्यभेद से प्रतीत होता है ऐसे ही जगत् में विलक्षणता है। यदि कार्य्यभेद न माना जाय तो जगत् में विलक्षणता भी न हो। यदि चित्तभेद न माना जायगा तो जगत् हेतु रहित होगा। यदि यही बात हो तो सत्त्व, रजस् और तमोगुण एक ही चित्त के आधार से सुख दुःख और मोह को क्योंकर उत्पन्न करें? ऐसा न कहना चाहिये क्योंकि जैसे विषय त्रिगुणात्मक हैं ऐसे ही चित्त भी त्रिगुणात्मक है इसको जो पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान के धर्मादिक सहायकारी कारण हैं उस धर्मके प्रादुर्भाव (प्रकाशित होना) और तिरोभाव (लुप्तहोना) में चित्त भी उसी धर्म के रूप में भान होने लगता है। जैसे कामी पुरुष के समीप जब स्त्री वर्तमान रहती है तब काम धर्म में परिणत हुआ उसका चित्त सुख रूप प्रतीत होता है यही चित्त अधर्म का जब सहकारी होता है तब तमोगुण अङ्गी अर्थात् प्रधान होता है। जब क्रोध वही सौतिन का मोह उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध हुआ कि विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ का रूप है इस रीति से विज्ञान और विषय में भेद रहने से कार्य्यकारण भाव नहीं है कारण से भेद रहने पर अव्यवस्था दोष होगा इसलिये विषय ज्ञान से भिन्न है सिद्ध हुआ ॥ १५ ॥

अब सन्देह यह होता है कि यदि ज्ञान प्रकाशक होने से ग्रहण-स्वभाव है और विषय ग्राह्य स्वभाव है तो एक ही समय सब विषयों का क्यों नहीं ग्रहण करता है अथवा सब विषयों का स्मरण क्यों नहीं होता है?

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् १६

सू० का प०—(न च, एकचित्ततन्त्रं, वस्तु) एक चित्त के अधीन वस्तु नहीं है (तत्, अप्रमाणकं, तदा, किं

स्यात्) वह प्रमाण न हो तब क्या हो ? ॥ १६ ॥

सू० का भा०—यथार्थ ज्ञान एक चित्त के आधीन नहीं है। यदि ऐसा हो तो चित्त की अस्वस्थता मे फिर क्या हो ? ॥ १६ ॥

व्या० दे० कृ० भाष्य—एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु स्यात्तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वाऽस्वरूपमेव तेनापरामृष्टमन्यस्या विषयीभूतमप्रमाणकमगृहीतस्वभावकं केनचित्तदानीं किं तत्स्यात् संबध्यमाने च पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत। ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत। तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रति पुरुषं प्रवर्तन्ते। तयोः सम्बन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति ॥ १६ ॥

भा० भा०—यदि वस्तु (यथार्थज्ञान) एक चित्त के अधीन हो तो चित्त के व्यग्र या निरुद्ध होने पर उसके स्वरूप का निश्चय कैसे हो ? और फिर चित्त के सम्बन्ध होने पर उसकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। तथा जो उसके भाग अनुपस्थित होंगे उनके न होने से उपस्थितों का भी त्याग करना पडेगा। अर्थात् पृष्ठ नहीं है तो उदर का भी ग्रहण न होगा। इसलिये स्वतन्त्र ही प्रत्येक अर्थ है और स्वतत्र ही प्रत्येक पुरुष के चित्त हैं, उनके परस्पर सम्बन्ध से ही भोग की उपलब्धि होती है ॥ १६ ॥

इस सूत्र पर भोजवृत्ति नहीं है, इसलिए केवल भाष्य ही दिया गया है ॥ १६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तुज्ञाताज्ञातम् ॥१७॥

सू० का प०—(तदुपरागापेक्षित्वात्) ज्ञेय वस्तु के

प्रतिबिम्बित होने से (चित्तस्य) चित्त को (वस्तु ज्ञाता ज्ञातम्) वस्तु का ज्ञान और अज्ञान रहता है ॥ १७ ॥

सू० का भा०—ज्ञेय वस्तु का जब चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ता है उस समय चित्त को उसका ज्ञान होता है और जब प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता तब चित्त को उस वस्तु का अज्ञान रहता है ॥ १७ ॥

व्या० दे० का भा०—अयस्कान्तमणिकल्पा विषया अयः सधर्मकं चित्तमभिसम्बध्योपरञ्जयन्ति । येन च विषये-णोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततोऽन्यः पुनरज्ञातः । वस्तुनो ज्ञाताज्ञात स्वरूपत्वात्परिणामि चित्तम् ॥ १७ ॥

यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य—

भा० का प०—विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ चुम्बक पत्थर के समान होते हैं और लोहे के समान चित्त है संयुक्त होकर विषय चित्त पर प्रतिबिम्ब डालते हैं उस प्रतिबिम्ब से चित्रित होकर चित्त जिस समय में अनुरक्त होता है उस विषय को जानता है उससे भिन्न विषय अज्ञात रहते हैं ज्ञेय वस्तु के ज्ञात और अज्ञात रूप होने से चित्त परिणामी अर्थात् अस्थिर वृत्ति वाला सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

जिसका यही चित्त विषय है उसका तो—

भा० का भा०—विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ चुम्बक पत्थर के समान और चित्त लोहे के समान है उन दोनों का जहाँ संयोग होता है वहाँ विषय चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। यहां जिस विषय से चित्त का संयोग होता है उसी का फोटो चित्त पर खिंच जाता है और जिसका फोटो चित्त पर खिंचता है उसी का चित्त को ज्ञान होता है और अन्य विषय अज्ञात रहते

हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि चित्त का स्वभाव अस्थिर है ॥१७॥

भो० वृ०—तस्यार्थस्योपरागादाकारसमर्पणात चित्ते वाह्यं वस्तु ज्ञातमज्ञातञ्च भवति। अयमर्थः—सर्वं पदार्थ आत्मलाभे सामग्रीम पेक्षते। नीलादिज्ञानञ्चोपजायमानमिन्द्रियप्रणालिकया समागतमर्थोपराग सहकारिकारणत्वेनापेक्षते। व्यतिरिक्तस्यार्थस्य सम्बन्धाभावाद् गृहीतुमशक्यत्वात्। ततश्च येनैवार्थेनास्य स्वरूपोपरागः कृतस्तमेवार्थं तज्ज्ञानं व्यवहारयोग्यता जनयति। ततः सोऽर्थो ज्ञात इत्युच्यते। येन चाकारो न समर्पितः स न ज्ञातत्वेन व्यवह्रियते। यस्मिश्चानुभूतेऽर्थे सादृश्यादिरर्थः संस्कारमुद्बोधयन् सहकारितां प्रतिपद्यते तस्मिन्नेवार्थे स्मृतिरुपजायत इति न सर्वत्र ज्ञान नापि सर्वत्र स्मृतिरिति न कश्चिद्विरोधः ॥ १७ ॥

यद्येवं प्रमातापि पुरुषो यस्मिन् काले नीलं वेदयते तस्मिन् काले पीतादिमतश्चित्तसत्त्वस्यापि कदा चित् गृहीतरूपत्वादाकारग्रहणे परिणामित्वं प्राप्तमित्याशङ्का परिहर्तुमाह—

भो० वृ० का भा०—उस विषय के उपराग अर्थात् रंग का चित्त में जो फोटो या आकार खिंचता है उस विषय का ज्ञान वा अज्ञान होता है अभिप्राय यह है कि सब पदार्थों का ग्रहण करने मे चित्त सामग्री की अपेक्षा रखता है। इन्द्रियों के द्वारा जो नील आदि वर्णों का ज्ञान होता है वह पदार्थ की सहकारिता की अपेक्षा रखता है अर्थात् रंगों का ज्ञान अकेला नहीं होता क्योंकि बिना साथी पदार्थ के जाने किसी रंग का ज्ञान नहीं हो सकता है तब जिस पदार्थ के रूप को रंग ने छिपाया है उस पदार्थ का यथार्थज्ञान ही उस रंग के ज्ञान का कारण होता है जब पदार्थ के सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान हो जाता है तब कहा जाता है कि यह पदार्थ ज्ञात हुआ। जो पदार्थ बिलकुल अपने अवयवों को ज्ञान द्वारा ज्ञाता को अर्पित नहीं करता है वह पदार्थ ज्ञात नहीं कहा जाता है, जिस अनुभव

किये पदार्थ में सादृश्य आदि विषय अनुभव के संस्कार को प्रकाशित करने में सहायक हों उसी विषय की स्मृति उत्पन्न होती है इस कारण सब पदार्थों में मनुष्य का ज्ञान भी नहीं हो सकता है और न सब पदार्थों की एक काल में स्मृति होती है ॥ १७ ॥

अब शंका यह होती है कि प्रमाता पुरुष जिस समय में नील रूप को जानता है उसी काल में पीत रंग की छाया वाले चित्त में गृहीत रूप होने से आकारग्रहण में परिणामित्व दोष आवेगा ? इस शंका का समाधान अगले सूत्र में करेंगे—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभो पुरुषस्यापरिणामित्वात् । १८ ॥

सू० का प०—(सदा) सब काल में (ज्ञाताश्चित्तवृत्तयः) चित्त की वृत्तियाँ ज्ञात रहती हैं (तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्) वृत्तियों के स्वामी पुरुष के परिणाम रहित होने से ॥ १८ ॥

सू० का भा०—वृत्ति का स्वामी पुरुष अर्थात् जीव अपरिणामी है अतएव उसे वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं ॥ १८ ॥

व्या० भा०—यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत्ततस्तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयवज्ज्ञाताज्ञाताः स्युः । सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति ॥ १८ ॥

स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभास विषयाभासञ्च भविष्यत्यग्निवत्—

भा० का प०—यदि चित्त के समान चित्त का स्वामी पुरुष भी परिणाम को प्राप्त हो तो उसकी ज्ञेय वृत्ति भी ज्ञात और अज्ञात होंगी जो मन सदा वृत्तियों को जानता है इससे जीव का परिणाम रहितपन सिद्ध होता है ॥ १८ ॥

आशंका हो सकती है कि चित्त ही स्वप्रकाशरूप है और विषय का आभास वही है। वैशेषिक और योग वाले जो चित्त को आत्मा मानते हैं उनके मत में चित्तही स्वभास रूप हो सकता है—

भा० का भा०—जो जीव भी परिणामी हो तो उसकी वृत्ति ज्ञाताज्ञात हो सकती है जब कि मन सब वृत्तियों को जानता है इसी से सिद्ध होता है कि आत्मा परिणामरहित है परन्तु इसमें यह शंका हो सकती है कि चित्त ही स्वाभास रूप है ॥ १८ ॥

भो० वृ०—या एताश्चित्तस्य प्रमाणविपर्य्ययादिरूपा वृत्तयस्तास्तत्प्रभोश्चित्तस्य ग्रहीतुः पुरुषस्य सदा सर्वकालमेव ज्ञेयाः, तस्य चिद्रूपतायाऽपरिणामात् परिणामित्वाभावादित्यर्थः। यद्यसौ परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कादाचित्कत्वात् प्रमातुस्तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं नोपपद्येत। अयमर्थः—पुरुषस्य चिद्रूपस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेन व्यवस्थितस्य यदन्तरङ्गं निर्मलं सत्त्वं तस्यापि सदैवावस्थितत्वाद्येन येनार्थेनोपरक्तं भवति तथाविधस्यार्थस्य सदैव चिच्छायासंक्रान्तिसद्भावस्तस्यां सत्यां सिद्धं ज्ञातृत्वमिति न कदाचित् क्वचित् परिणामित्वाशङ्का ॥ १८ ॥

ननु चित्तमेव यदि सत्त्वोत्कर्षात् प्रकाशकं तदा स्वपरप्रकाशरूपत्वादात्मानमर्थञ्च प्रकाशयतीति तावतैव व्यवहारसमाप्तिः किं ग्रहीत्रन्तरेणेत्याशङ्कामपनेतुमाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त की जो ये प्रमाण और विपर्य्यय आदि वृत्तियां हैं वे सब चित्त के प्रभु अर्थात् स्वामी जीव को हर समय ज्ञात रहता है क्योंकि आत्मा परिणामी नहीं है यदि आत्मा

एक रस अपरिणामी न हो तो परिणाम के अनित्य होने से सब वृत्तियों का ज्ञान भी उसको नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि चैतन्यस्वरूप जो पुरुष है उसके नित्य अधिष्ठान से जो अन्तःकरण निर्मल सत्त्व है वह भी सदैव रहता है क्योंकि नित्य वस्तु के गुण भी नित्य होते हैं। बस इस निर्मल सत्त्व में जिन विषयोंका उपराग होता है उससे उसके ज्ञान का परिणाम नहीं होता ॥ १८ ॥

अब यह शंका हो सकती है कि यदि चित्त ही को स्वप्रकाश रूप मान कर उसके द्वारा ही आत्मा का और विषयों का प्रकाश होता है और चित्त ही के प्रकाश तक सब व्यवहारों की समाप्ति हो जाती है ऐसा माना जाय तो फिर दूसरे ग्रहीता की शंका क्यों करनी? इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

सू० का प०—(न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात्) चित्त स्वाभास अर्थात् आप ही विषयों का ग्राहक नहीं है क्योंकि वह भी दृश्य है अर्थात् ज्ञेय है ॥ १९ ॥

सू० का भा०—चित्त स्वप्रकाश रूप नहीं है क्योंकि वह दृश्य है ॥ १९ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—यथेतराणीन्द्रियाणि शब्दादयश्च दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा मनोऽपि प्रत्येतव्यम्। न चाग्निरत्र दृष्टान्तः। न ह्यग्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रकाशयति प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे दृष्टः। न च स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः किंच स्वाभासं चित्तमित्यग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थः तद्यथा स्वात्मप्रतिष्ठामित्यर्थः। स्व-

बुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात्सत्यानां प्रवृत्तिर्दृश्यते क्रुद्धोऽहं भीतोऽहममुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध इति । एतत् स्वबुद्धेरग्रहणे न युक्तमिति ॥ १९ ॥

भा० का प०—जैसे और इन्द्रियाँ तथा शब्द स्पर्शादि ज्ञेय होने से स्वप्रकाश रूप नहीं हैं तैसे ही मन को भी समझना चाहिये। चित्त के स्वभास होने में अग्नि का दृष्टान्त भी नहीं घट सकता, क्योंकि अग्नि प्रकाशरहित अपने स्वरूप का प्रकाश नहीं कर सकती है। प्रकाश्य और प्रकाशक के संयोग में ही प्रकाश देखा जाता है और स्वरूप मात्र में प्रकाश नहीं देखा जाता है, प्रकाश्य और प्रकाशक का सयोग तो है किन्तु चित्त की स्वप्रकाशता सर्वथा अग्राह्य है चित्त किसी का दृश्य है यह सूत्र का शब्दार्थ हुआ। जैसे आकाश अपने आधार से स्थित है दूसरे के आधार से नहीं अपनी बुद्धि के प्रचार के ज्ञान से जीवों की प्रवृत्ति देखी जाती है कि मैं क्रोधी वा भययुक्त हूँ इस वस्तु से मेरी प्रीति और इसमें मेरा द्वेष है यह सब जब बुद्धि ज्ञान का साधन न होगी तो रागादि का होना भी असम्भव होगा ॥ १९ ॥

भा० का भा०—जैसे अन्य इन्द्रियाँ वा शब्दादि विषय ज्ञेय हैं ऐसे ही चित्त भी जीव का ज्ञेय है अतएव स्वप्रकाशरूप नहीं है इससे ग्रहीता की कल्पना करना नितान्त आवश्यक है ॥ १९ ॥

भो० वृ०—तच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशकं न भवति पुरुषवेद्यं भवतीति यावत्। कुतः दृश्यत्वात्। यत् किल दृश्यं तद्द्रष्टृवेद्यं दृष्टं यथा घटादि। दृश्यञ्च चित्तं तस्मान्न स्वाभासम् ॥ १९ ॥

ननु साध्याविशिष्टोऽयं हेतुः दृश्यत्वमेव चित्तस्यासिद्धम्। किञ्च स्वबुद्धिसंवेदनद्वारेण हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपा वृत्तयो दृश्यन्ते। तथाहि क्रुद्धोऽहं भीतोऽहमत्र मे राग इत्येवमाद्या संविद्बुद्धेरसंवे-

इने नोपपद्येतेत्याशङ्कामपनमुमाह—

भा० पृ० का भा०—चित्तका स्वयम् प्रकाश नहीं है क्योंकि चित्त भास्यत्व अर्थात् जानने योग्य है जो जो दृश्य पदार्थ होते हैं वह स्वयम् प्रकाश नहीं होते और दृष्टा द्वारा ज्ञेय होते हैं जैसे घट चित्त दृश्य है इस कारण स्वयम् प्रकाश नहीं है ॥ १९ ॥

अब सन्देह यह होता है कि उपयुक्त अनुमान साध्यसे रहित है इस कारण यह मान्य नहीं है क्योंकि हेत्वाभास से युक्त है, चित्तका दृश्यत्व यदि सिद्ध हो तब ऊपर लिखा हेतु ठीक हो सकता है अपनी बुद्धि के संवेदन से हित और अहितको नाश करनेवाली चित्त की वृत्ति ही दृश्य हैं जैसे मैं क्रोधी मैं डरता हूँ मुझे अमुक विषय में प्रीति है इत्यादि ज्ञान बुद्धि की असंवेदना से नहीं हो सकते हैं इससे चित्त दृश्य नहीं है किन्तु वृत्ति ही दृश्य है इस शंका को दूर करने के वास्ते अगला सूत्र कहा है—

एकसमये चोभयानवधारणम ॥ २० ॥

सू० का प०—(एकसमये) एक काल में (उभया नवधारणम्) दोनों का ज्ञान नहीं होता ॥ २० ॥

सू० का भा०—यदि चित्त स्वप्रकाश नहीं है तो उसका प्रकाशक दूसरा चित्त मानना चाहिये। परन्तु फिर उसका प्रकाशक कौन होगा क्योंकि एक काल में वह अपने स्वरूप और दूसरे के स्वरूप का ज्ञान नहीं कर सकता है ॥ २० ॥

व्या० भा०—नचैकस्मिन् क्षणे स्वपररूपावधारणं युक्तं क्षणिकवादिनो यद्भवनं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः ॥ २० ॥

स्यान्मतिः स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्त-

रेण गृह्यत इति—

भा० का प०—एक ही क्षण मे अपने और पराये रूप का ज्ञान होना अयुक्त है। क्षणिक विज्ञानवादी के मत मे तो जो उत्पत्ति है वही क्रिया है और वही कारक है यही सिद्धान्त है।२०

एक चित्त दूसरे चित्त से गृहीत होगा और वह किसी और से गृहीत होगा—

भा० का भा०—एक ही क्षण मे चित्त मे दो ज्ञान वा बोधकता होना युक्त नहीं है अर्थात् यदि एक चित्त का दूसरा चित्त प्रकाशक माना जायगा तो वह दूसरा चित्त एक ही काल में अपने और प्रथम चित्त के रूप को प्रकाश करने में कदापि समर्थ न होगा यदि उसका भी प्रकाशक तृतीय चित्त को मानियेगा तो अनवस्था दोष आवेगा इससे एक चित्त का दूसरा चित्त प्रकाशक नहीं है॥२०॥

भो० वृ०—अर्थस्य संवित्तिरिदन्तया व्यवहारयोग्यतापादनम्। अयमर्थः-सुखहेतुर्दुःखहेतुर्वेति। बुद्धेश्च सविदहमित्येवमाकारेण सुखदुःखरूपतया व्यवहारक्षमतापादनम्। एव विधञ्च व्यापारद्वय-मर्थप्रत्यक्षकाले न युगपत् कर्तुं शक्यं विरोधात्। न हि विरुद्धयो-र्व्यापारयोर्युगपत् सम्भवोऽस्ति अत एकस्मिन् काले उभयस्य स्वरूपस्यार्थस्य चावधारयितुमशक्यत्वात न चित्त स्वप्रकाशमि-त्युक्त भवति। किञ्चैवं विधव्यापारद्वयनिष्पाद्यस्य फलद्वयस्या-संवेदनाद्बहिर्मुखस्तयैव स्वनिष्ठत्वेन चित्तस्य स्वयंवेदनादर्थनिष्ठ-मेव फलं न स्वनिष्ठमित्यर्थः॥ २०॥

ननु माभूद्बुद्धेःस्वय ग्रहणं बुद्ध्यन्तरेण भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

भो० वृ० भा०—बुद्धि का ज्ञान सुख का हेतु है वा दुःख का हेतु है, मैं इस सुख वा दुःख का सहने वाला हूँ, इस व्यवहार की करने वाली बुद्धि ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि सुख और दुःख परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं और वे एक कालमें दो भी नहीं सकते

है। परन्तु चित्त की वृत्तियों में सुख और दुःख की परीक्षा एक काल में होती है इस कारण चित्त एक काल में दो विरुद्ध धर्म वालों की परीक्षा नहीं कर सकता इस कारण चित्त स्वयं प्रकाश नहीं है किन्तु स्वयं उन दो व्यापारों को उत्पन्न करके उसके फल ज्ञान में चित्त बहिर्मुख हो जाता है इस कारण वृत्तियों का फल भी चित्तनिष्ठ नहीं है ॥ २० ॥

अब शंका यह होती है कि एक बुद्धि के द्वारा सुख दुःख का प्रत्यक्ष मत हो किन्तु दूसरी बुद्धि के द्वारा उनका प्रत्यक्ष होगा ? इसका उत्तर आगे लिखा है—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृति-सङ्करश्च ॥ २१ ॥

सू० का प०—(चित्तान्तरदृश्ये) अन्यचित्त दर्शनता में (बुद्धिबुद्धेः) बुद्धि की बुद्धि का (अतिप्रसंग) अतिप्रसंगदोष (च) और (स्मृतिसंकरः) स्मरण संकर दोष भी होगा ॥ २१ ॥

सू० का भा०—अब चित्त अनेक मानेंगे तो बुद्धि में १ अतिप्रसंगदोष होगा और स्मरणशक्ति में २ संकरदोष हो जायगा ।२१

व्या० भा०—अथ चित्तं चेच्चित्तान्तरेण गृह्येत बुद्धिबुद्धिः केन गृह्यते, साप्यन्यया साप्यन्ययेत्यतिप्रसङ्गः । स्मृतिसङ्करश्च यावन्तो बुद्धिबुद्धीनामनुभवास्तावत्यः स्मृतयः

१ अतिप्रसंग—जो प्रसंग का अतिक्रम कर अर्थात् अनवस्था दोष
२ संकरदोष—भिन्न भिन्न ज्ञान के दोष को कहते हैं।

प्राप्नुवन्ति। तत्संकराच्चैकस्मृत्यनवधारणं च स्यादित्येवं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं पुरुषमपलपद्भिर्वैनाशिकैः सर्वमेवाकुलीकृतम्। ते तु भोक्तृस्वरूपं यत्र क्वचन कल्पयन्तो न न्यायेन संगच्छन्ते केचित्तु सत्वमात्रमपि परिकल्प्यास्ति स सत्वो य एतान् पञ्च स्कन्धान्निक्षिप्यान्यांश्च प्रतिसन्दधातीत्युक्त्वा तत एव पुनस्त्रस्यन्ति तथा स्कन्धानां महन्निर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्यं चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्वस्य पुनः सत्वमेवापन्हुवते सांख्ययोगादयस्तु प्रवादाः स्वशब्देन पुरुषमेव स्वामिन चित्तस्य भोक्तारमुपयन्तीति॥ २१॥

भा० का प०—अत्र यदि चित्त का दूसरे चित्त से ग्रहण करेंगे तो बुद्धि की बुद्धि को किससे ग्रहण करेंगे उसको दूसरी से और फिर उसको दूसरी से इसी को अप्रतिसग कहते हैं और स्मृतिसकर भी होगा। जितने बुद्धियों के अनुभव हैं उतनी ही स्मृति भी प्राप्त होंगी, संकर होने पर एक स्मरण को धारण करना असम्भव होगा इस प्रकार बुद्धि सवेदी पुरुप को कहने वाले वैनाशिको ने सव मे ही गडबड़ मचाई है व भोक्ता के स्वरूप को जहाँ कहीं कल्पना करते हुए न्याय पर नहीं चलते। कोई केवल सत्व का भी प्रकल्पना करके वही सत्व है जो इन पाचों स्कन्धों को निक्षेप करके औरों को ग्रहण करता है ऐसा कहकर उसी से फिर भयभीत होते हैं वैसे ही स्कन्धों का विराग के लिये अनुत्पादन करने को शान्ति के लिये गुरु के घर मे ब्रह्मचर्य करूँगा ऐसा कह कर सत्व के फिर सत्वभाव को नष्ट करेंगे। साख्य यागादिक के प्रवाद स्वशब्द से

पुरुष को ही स्वामी और चित्त को भोक्ता ग्रहण करते हैं ॥ २१ ॥

भा० का भा०—जब चित्त को दूसरे चित्त से बुद्धि को दूसरी बुद्धि से ग्रहण करने से अतिप्रसंगदोष और स्मृतिसंकरदोष होगा क्योंकि जितनी बुद्धि उतने ही अनुभव। तब स्मृति नष्ट होने से स्मरण नष्ट होगा इस प्रकार पुरुष को बुद्धि संवेदी मानकर वैनाशिक लोग गड़बड़ मचाते हैं कहीं २ भोक्ता का स्वरूप कल्पना करके अन्याय करते हैं। कोई केवल सत्व की कल्पना करके यही सत्व है जो इन पांच स्कन्धों को छोड़कर औरों को धारण करता है यह कहकर उन्हीं से फिर भयभीत होते हैं और स्कन्धों की की अनुत्पत्ति और विराग के लिये गुरु के घर में ब्रह्मचर्य करें ऐसा ठानकर पुनः एक बुद्धि और एक स्मृति न होने से उस भाव का त्याग देंगे और कहेंगे कि सांख्य और योग तो वाद मात्र हैं वे स्वशब्द से चित्त के भोक्ता पुरुष का ग्रहण करते हैं ॥ २१ ॥

भो० वृ०—यदि हि बुद्धिबु द्ध यन्तरेण वेद्यत तदा सापि बुद्धिः स्वयमेव स्वीयभावरूपमग्राह्यसेत्याबुध्या बुद्ध यन्तरं प्रकाशयितुमसमर्थेति तस्याप्राहकं बुद्धयन्तरं कल्पनीय तस्याप्यन्यदित्यनवस्थानात् पुरुषायुषेणाप्यर्थप्रतीतिर्न स्यात्। न हि प्रतीतावप्रतीतायामर्थः प्रतीतो भवति स्मृतिसंकरश्च प्राप्नोति रूपे रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौ तद्ग्राहिकाणामनन्तानां बुद्धीनां समुत्पत्तौ तज्जनितैः संस्कारै र्यदा युगपद् बह्व्यः स्मृतयः क्रियन्ते तदा बुद्धेरप्यवसायात् बुद्धि स्मृतीनां च बह्वीनां युगपदुत्पत्तेः कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्न इति ज्ञातुमशक्यत्वात् स्मृतीनां संकरः स्यात्। इयं रूपस्मृतिरियं रस स्मृतिरिति न ज्ञायेत ॥ २१ ॥

ननु बुद्धेः स्वप्रकाशत्वाभावे बुद्धयन्तरेण चासंवेदने कथमयं विषयस्य संवेदनरूपो व्यवहार इत्याशंक्य स्वसिद्धान्तमाह—

भा० वृ० का भा०—यदि एक बुद्धि दूसरी बुद्धि को मानगी तो

वह अपने स्वरूप और भावों को विना जाने उस बुद्धि के ज्ञान में प्रवृत्त हुई है, यदि अपने रूप और भावों को विना जाने ही प्रवृत्ति हुई है तो उस के जानने को और बुद्धियों की आवश्यकता होगी, और वह विना अपने जाने प्रथम बुद्धि को प्रकाशित भी नहीं कर सक्ती है और इस कल्पता में स्मृतिसकरदोष भी आवेगा, उस बुद्धि का भी दूसरा विषयग्राह्य न होगा क्योंकि बुद्धिज्ञान में चरितार्थ हो चुकी, दूसरे पुरुष की भी प्रतीति न होगी और अप्रतीति में किसी विषय की प्रतीति नहीं हो सक्ती है। स्मृतिसंकरदोष यों आवेगा कि रूप और रसादिकों के उत्पन्न हुए ज्ञान वाली बुद्धि को ग्रहण करनेवाली बुद्धि अनन्त होंगी और बुद्धियों के अनन्त होने से स्मृति भी अनन्त होंगी, जब कि अनेक बुद्धि और अनेक स्मृति एक काल मे उत्पन्न होंगी तब यह परिज्ञान होना असम्भव है कि यह स्मृतिरस सम्बन्धिनी है वा रूप सम्बन्धिनी है ॥२१॥ अब सन्देह यह है कि यदि बुद्धि स्वप्रकाश नहीं है और दूसरी बुद्धि की कल्पना हो नहीं सकती तो विषय संवेदन क्योंकर होता है ? इसका उत्तर अगले सूत्र में देंगे—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्

सू० का प०—(चितेः) चिति अर्थात् पुरुष के (अप्रतिसंक्रमायाः) इधर उधर गमन रहित होने से (तदाकारापत्तौ) तदाकार अवस्था में प्राप्त होने से (स्वबुद्धिसंवेदनम्) अपनी बुद्धि का ज्ञान होता है ॥२२॥

सू० का भा०—जब स्थिर पुरुष के समीप बुद्धि भी तदाकार को प्राप्त होती है तब बुद्धि को अपने रूप का ज्ञान होता है ॥२२॥

व्या० दे० का भा०—अपरिणामिनी हि भोक्तृश-

क्तिरप्रतिसङ्क्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्ति मनुपतति । तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारिमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते ।२२ तथाचोक्तम्—

"नपातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम् । गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते ॥" इति ॥२२॥ अतश्चैतदभ्युपगम्यते—

भा० का प०—भोक्ता अर्थात् पुरुष की शक्ति परिणामरहित है और गमनागमनरहित है परिणामी विषय में पुरुष की वृत्ति प्रकाश रहती है और उस वृत्ति से संयोग प्राप्त बुद्धिवृत्ति के अनुकरण मात्र से बुद्धिवृत्ति से ज्ञानवृत्ति भिन्न प्रतीत होती है ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है अर्थात् न पाताल न पर्वतों के विवर, न अंधकार, न समुद्र की खाड़ी है जहां ब्रह्म बैठा हो । वह गुफा जिसमें ब्रह्म रहता है कवि अर्थात् विद्वान् लोग उसको बुद्धि कहते हैं ॥ २२ ॥

भा० का भा०—भोक्ता की शक्ति परिणाम और गमनागमन से रहित है और विषय परिणामी और गमनशील हैं उनके साथ चित्त की वृत्ति भी गमन करती है परन्तु जब बुद्धि चैतन्य पुरुष के समीप होती है तब उसकी वृत्ति भी स्थिर हो जाती है तब उस बुद्धि में ईश्वर का यथार्थज्ञान होता है इसीसे अन्यत्र भी लिखा है कि ब्रह्म पातालादि में नहीं रहता है वरन बुद्धिरूप गुफा में रहता है ॥२२॥

भा० प०—पुरुषाभिज्ञ पश्यन्निति भाऽप्रतिसङ्क्रमा, न विद्यते प्रतिसङ्क्रमोऽन्यत्र गमनं यस्याः सा तथाऽन्यस्मिन्नसंकीर्णेति यावत् यथा गुणाः अङ्गाङ्गिभावलक्षणपरिणामेऽङ्गिनं गुणं संक्रामन्ति तद्रूपतामिवापद्यन्ते यथा वा लोके परमाणवः प्रसरन्तो विषयमारा-

चयन्ति नैवं चित्तिशक्तिस्तस्याः सर्वदैकरूपतया स्वप्रतिष्ठितत्वेन व्यवस्थितत्वात् अतस्तत्सन्निधाने यदा बुद्धिस्तदाकारतामापद्यते चेतनेवोपजायते, बुद्धिवृत्तिप्रतिसंक्रान्ता च यदा चिच्छक्तिः बुद्धिवृत्तिविशिष्टतया संवेद्यते तदा बुद्धेः स्वस्यात्मनो वेदनं संवेदनं भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

इत्थं स्वमविदितं चित्तं सर्वानुग्रहणसामर्थ्येन सकलव्यवहार निर्वाहक्षमं भवतीत्याह—

भो० वृ० का भा०—पुरुषचैतन्य रूप है और उसकी चैतन्य शक्ति अप्रतिसंक्रमा है, अप्रतिसंक्रमा का अर्थ यह है कि नहीं है सक्रम अर्थात् अन्यत्रगमन जिसका, अभिप्राय यह है कि वह चिति शक्ति और भावों से संकीर्ण नहीं होती, जैसे गुण जब अङ्गादि भाव में परिणत होते हैं अर्थात तमोगुणादि जब दूसरे प्रधान गुण के अग होते हैं तब अगों को संक्रमण कर जाते हैं अर्थात् अंग के रूप को धारण कर लेते हैं अथवा जैसे जगत् मे परमाणु प्रसार पाकर विषयके रूह मे परिणत हो जाते हैं ऐसे चिति शक्ति परिणत नहीं होती क्योंकि वह सदा एक रूप में स्थिर रहती है, उस चितिशक्ति के समीप में आकर बुद्धि जब उसके रूप में परिणत होती है तब चितिशक्ति उसके विषयों को जानती है इस प्रकार से संवेदन होता है ॥ २२ ॥

ऐसे चित्त जब सविदित होता है तब सबके ऊपर अनुग्रह करने में समर्थ होता है यही अगले सूत्र में वर्णन करेंगे—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

सू० का प०—द्रष्टृदृश्योपरक्तम्) देखने वाले और देखने योग्य पदार्थ में उपरक्त (चित्तम्) चित्त (सर्वार्थम्) चेतन व अचेतन सब कुछ है ॥ २३ ॥

सू० का भा०—विषय और विषयी (विषयमात्र) में उपरक्त चेतन और अचेतन रूप चित्त है ॥ २३ ॥

व्या० भा०—मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं तत्स्वयं च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणात्मीयया वृत्त्याभिसम्बद्धं, तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः। अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति। अनुकम्पनीयास्ते कस्मात्। अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तमिति। समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्यालम्बनीभूतत्वादन्यः स चेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात्कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत तस्मात् प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति। एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदात् त्रयमप्येतज्जातितः प्रविभजन्ते ते सम्यग्दर्शिनस्तैरधिगतः पुरुषः ॥ २३ ॥

भा० का प०—मन्तव्य अर्थ में लगा हुआ मन आप और विषय होने से विषयी पुरुष से आत्मसम्बन्धी वृत्ति से संबद्ध है सो यह चित्त ही द्रष्टा और दृश्य में लगा हुआ अर्थात् विषय और विषय वाले को भासित करनेवाला चेतन और अचेतन स्वरूप को प्राप्त विषयात्मक भी अविषयात्मक के समान और अचेतन भी चेतन के समान है। स्फटिकमणि के तुल्य सर्वार्थ कहलाता है।

इस चित्त की स्वरूपता से भूले हुए कोई वह चेतन है ऐसा कहते हैं दूसरे चित्त मात्र ही यह सब कुछ है। गवादि और मठादि चराचर लोक निश्चय ये नहीं हैं, कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं। वे दयापात्र हैं क्योकि उनके मत में भ्रान्ति का बीज यही है कि वे चित्त को सर्वरूपाकार मानते हैं। समाधि की बुद्धि में ज्ञेय अर्थ आश्रय होने से प्रतिविम्ब से भिन्न है यदि वही अर्थ चित्तमात्र हो कैसे बुद्धि से बुद्धि के रूप को जानें? इस वास्ते प्रतिविम्ब भूत अर्थ बुद्धि में जिससे जाना जाय वही पुरुष है। इस प्रकार जिनसे ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य ये तीनों स्वरूप और चित्त के भेद से जाति से विभाग किये जाते हैं वे तत्त्वदर्शी हैं उनसे ही पुरुष जाना जाता है ॥ २३ ॥

भा०.का भा०—मन्तव्य अर्थ मे लगा हुआ मन आपही विषय होने से विषयवान् (पुरुष से) अपनी वृत्ति से सम्बन्ध रखता है, देखनेवाले और देखने योग्य दोनों मे अर्थात् विषय और विषयवान् को भासित करनेवाला चेतन भी अचेतनता को प्राप्त विषयात्मक होने पर भी अविषयात्मक है जैसे स्फटिक लाल नहीं होता परन्तु लाल के पास रहने से लाल भान होता है। अतएव चित्त को सर्वार्थ कहते हैं सो इस चित्त के रूप से भूले हुये कहते हैं कि यही पुरुष है दूसरे कहते हैं कि चित्त ही सब कुछ है और कुछ नहीं है ये सब दयापात्र हैं। तत्वदर्शी वही है जो ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य इनमें जातिगत भेद करते हैं ॥ २३ ॥

भो० वृ०—द्रष्टा पुरुषस्तेनोपरक्तं तत्सन्निधानेन तद्रूपतामिव प्राप्तं दृश्योपरक्तं विषयोपरक्तं गृहीतविषयाकारपरिणामं यदा भवति तदा तदेव चित्तं सर्वार्थग्रहणसमर्थं भवति। यथा निर्म्मलं स्फटिकदर्पणाद्येव प्रतिविम्बग्रहणसमर्थमेवं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्वं शुद्धत्वात् चिच्छायाग्रहणसमर्थं भवति, न पुनरशुद्धत्वाद्रज-

स्वच्छसी । तच्चाभिभूतरजस्तमोरूपमलतया सत्त्वं निर्मलमपीपरि-
णामकं सदेकरूपतया परिणममानं चिच्छायाग्रहणसामर्थ्यादात्मो-
पमाप्य तिष्ठति । यथाऽयस्कान्तसन्निधाने लोहस्य चलनमाविर्भ-
वति । एवं चिद्रूपपुरुषसन्निधाने सत्त्वस्याभिव्यङ्ग्यमभिव्यज्यते चैत-
न्यम् । अत एव अस्मिन् दर्शने द्वे चितिशक्ती नित्याऽदिता अभिव्यङ्ग्या
चानित्याऽदिता चिच्छक्तिःपुरुष तत्सन्निधानादभि व्यङ्ग्यचैतन्यं सत्त्व
मभिव्यङ्ग्या चिच्छक्तिः । सत्त्वस्य तन्निहितत्वादन्तरङ्गं पुरुषस्य
भोग्यतां प्रतिपद्यते । तदेव शान्तघोरमूढादिभिः स्वरूपैः पुरुषस्य पर
मात्ममाऽधिष्ठेयं कर्मानुरूपं सुखदुःखभाक्त्वतया व्यपदिश्यते ।
यत्सत्त्वगुणस्यैकस्यापि गुणस्य कदाचित् कस्यचिदङ्गित्वात् त्रि
गुणं प्रतिक्षणं परिणममानं सुखदुःखमोहात्मकमनिमित्तं तदस्मिन्
कर्मानुरूपे सुखे सति स्वाकारसमर्पणद्वारेण संवेद्यतामापादयति ।
तत् सत्त्वमात्रम् चित्तसत्त्वमेव प्रतिसंक्रान्तचिच्छायासम्पर्कोगृहीत
विषयाकारेण चित्तनोपढौकितस्वाकारं चित्सङ्क्रान्तिवशात् चेतना
यमानं वास्तवचैतन्याभावेऽपि सुखदुःखस्वरूपं भोगमनुभवति । स
एव भोगोऽत्यन्तसन्निधानेन विवेकाग्रहणात् अभोक्तुरपि पुरुषस्य
भोग इति व्यपदिश्यते । अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम्—
' सत्त्वतप्यत्वमेवपुरुषतप्यत्वमिति" अन्यत्रापि बिम्बे प्रतिबिम्बमा
नच्छायासदृशच्छायोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते । एवं सत्त्वेऽपि
पौरुषेयचिच्छायासदृशचिदभिव्यक्तिः प्रतिसंक्रान्त्यभिप्रायार्थं इति ।
ननु प्रतिबिम्बनं नाम निर्मलस्य नियतपरिणामस्य निर्मले दृष्टं,यथा
मुखस्य दर्पणे । अत्यन्तनिर्मलस्य व्यापकस्यापरिणामिनः पुरुषस्य
तस्मादत्यन्तनिर्मलात्पुरुषादनिर्मले सत्त्वे कथं प्रतिबिम्बनमुपपद्यते ।
उच्यते—प्रतिबिम्बनस्य स्वरूपमनवगच्छता भवतेदमभ्यधायि । यैव
सत्त्वगतायां अभिव्यक्त्यायामभिव्यक्तः पुरुषस्य सान्निध्यादभिव्य-
क्तिः सैव प्रतिबिम्बनमुच्यते । यादृशी पुरुषगता चिच्छक्तिस्तच्छाया

या तथाविर्भवति। यदप्युक्तमत्यन्तनिर्मलः पुरुष. कथं निर्मले सत्वे प्रतिसंक्रामतीति तदप्यनैकान्तिकं नैर्मल्यादपकृष्टेऽपि जलादावादित्यादयः प्रतिसंक्रान्ताः समुपलभ्यन्ते। यदप्ययुक्तमनवच्छिन्नस्य नास्ति प्रतिसंक्रान्तिरिति। तदप्ययुक्तं, व्यापकस्याप्याकाशस्य दर्पणादौ प्रतिसंक्रान्तिदर्शनात्। एवं सति न काचिदनुपपत्तिः प्रतिबिम्बदर्शनस्य। ननु सात्विकपरिणामरूपे बुद्धिसत्वे पुरुषसन्निधानादभिव्यंग्यायाश्चिच्छक्ते र्बाह्यार्थाकारसंक्रान्तौ पुरुषस्य सुखदुःखरूपो भोग इत्युक्त, तदनुपपन्नम्। तदेव चित्तसत्वं प्रकृतावपरिणताया कथ सम्भवति किमर्थश्च तस्याः परिणामः। अथोच्येत पुरुषस्यार्थोपभोगसम्पादनं तया कर्त्तव्यम्। अतः पुरुषार्थकर्त्तव्यतया तस्या युक्त एव परिणामः तच्चानुपपन्नम्। पुरुषार्थकर्त्तव्यताया एवानुपपत्तेः। पुरुषार्थो मया कर्तव्य एवंविधोऽध्यवसायः पुरुषार्थकर्त्तव्यतोच्यते। जडायाश्च प्रकृतेः कथं प्रथममेवंविधोऽध्यवसायः। अस्ति चेदध्यवसायःकथं जडत्वम्? अत्रोच्यते—अनुलोमप्रतिलोमलक्षणपरिणामद्वये सहजं शक्तिद्वयमस्ति तदेव पुरुषार्थं कर्त्तव्यतोच्यते। सा च शक्तिरचेतनाया अपि प्रकृतेः सहजैव। तत्र महदादिमहाभूतपर्य्यन्तोऽस्या बहिर्मुखतयाऽनुलोमः परिणामः पुनः स्वकारणानुप्रवेशद्वारेणास्मितान्त परिणाम प्रतिलामः। इत्थं पुरुषःस्वस्याऽऽभोगपरिसमाप्तेःसहजशक्तिद्वयक्षयात् कृतार्था प्रकृतिर्न पुनः परिणाममारभते। एवंविधायाञ्च पुरुषार्थकर्त्तव्यताया जडाया अपि प्रकृतेर्नकाचिदनुपपत्तिः। ननु यदीदृशी शक्तिः सहजैव प्रधानस्यास्ति तत्किमर्थं मोक्षार्थिभिर्मोक्षाय यत्नःक्रियते मोक्षस्य चानर्थनीयत्वे तदुपदेशकशास्त्रस्याऽऽनर्थक्य स्यात्। उच्यते—योऽय प्रकृतिपुरुषयोरनादिर्भोग्यभोक्तृत्वलक्षणः सम्बन्धस्तस्मिन् सति व्यक्तचेतनायाः प्रकृतेः कर्तृत्वाभिमानाद्दुःखानुभवे सति कथमियं दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी मम स्यादिति भवत्येवाध्यवसायः। अतो दुःखनिवृत्यु-

पापापदार्थव्याख्यापरत्वेन...स्यैव प्रधानस्य । तथाभूतमेव च कर्मानुरूपं बुद्धिसत्त्वं शास्त्रोपदेशस्य विषयः । दर्शनान्तरव्याख्यान-मिव यथाविधानस्वभाव शास्त्रैर्व्यपदिश्यते । तच भोक्तृत्वं प्रयतमान एवंविधमपवर्गपर्यन्तं सहकारित्वमवस्थ भोक्तृफलमासादयति । तथाप्येवं कार्याणि प्रमाणानां सामञ्जस्येन लभन्ते । अस्य च प्रतिक्षणमपरिणामित्वादस्य भोक्तृत्वस्य कार्यस्येदृशस्य सामग्री प्रमाणेन निश्चिता प्रकारान्तरेणानुपपत्तेः । अतस्तां विना कथं भवितुमर्हति । अतः स्थितमेतत् संप्रज्ञातविषयमेव ग्रहणमभिव्यक्त-चित्स्वार्थं बुद्धिसत्त्वं विषयनिश्चयद्वारेण समस्तं व्यापारं निर्वाहयतीति । एवंविधमेव चित्तं पश्यन्तो भ्रान्ताः स्वसंवेदनं चित्तमात्रं जगदित्ययं मु...प्राख्याः प्रतिबोधिता भवन्ति ॥ २३ ॥

भो० वृ० का भा०—जैसे स्फटिक वा दर्पण जो निर्मल होते हैं वही प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेमें समर्थ होते हैं ऐसेही रजोगुण और तमोगुण से रहित सत्त्व शुद्ध होने के कारण चित्त के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है किंतु रज और तम अशुद्ध होने के कारण चिच्छाया को ग्रहण नहीं कर सकते, सत्त्व अंगी अर्थात् प्रधान गुण होकर निश्चल दीपशिखा के समान निर्मल और सदा एकरूप में चिच्छाया को ग्रहण करके और परिणाम का आरम्भ करके भी मुक्ति पर्यन्त रहता है। जैसे चुम्बक पत्थर के समीप लोहे की चलनरूपी क्रिया का प्रकाश होता है ऐसे ही चित् पुरुष के समीप सत्त्वगुण की व्यञ्जक रूप शक्ति अर्थात् चैतन्यता प्रकट होती है। इससे अनुमान होता है कि चित्त की दो वृत्ति हैं एक नित्योदिता और दूसरी अभिव्यङ्ग्या। नित्योदित। चित् शक्ति पुरुष में रहती है और उसकी समीपता के कारण सत्त्वगुण में अभिव्यङ्ग्या चित् शक्ति होती है और अभिव्यङ्ग्या के अत्यन्त समीप होने से पुरुष में भोक्तापन सिद्ध होता है इसी को प्रकृतवादी शास्त्र, सांख्यवालों

-ने पुरुष का कर्मानुसार सुख दुःख का भोग कहा है, जो गुण किसी अगी होता है वही फिर परिणाम को प्राप्त होकर अग बन जाता है ऐसे ही तीनों गुण परिणत होते रहते हैं और इनसे सुख, दुःख; मोह और निर्बलता को प्रदान करते हैं चित्त स्वरूप ही है जब सत्त्व चित् के प्रतिविम्च को ग्रहण करता है तब चैतन्यवत् प्रतीत होता है वास्तव में चैतन्य के विना भी सुख और दुःखरूप भोग का अनुभव करता है वही भोग जब अत्यन्त समीप होता है तब विवेक के प्रभाव से अभोक्ता पुरुष को भोक्ता कहा जाता है, इसी अभिप्राय से विन्ध्यवासी ने कहा है, सत्त्वगुण का जो भोगादि तप है अर्थात् सत्व का भोग पुरुष मे अध्यारोपित होता है अतः यह सिद्ध हुआ कि सत्वगुण में जो चित्त का प्रतिविम्व होता है उसी से सत्व में चैतन्यता जान पडती है ॥ २३ ॥

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थंसंहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

सू० का प०—(तत्) सो (असंख्येयवासनाभिः असंख्य वासनाओं से (चित्रम्) विचित्र चित्त (अपि भी (परार्थम्) दूसरे के निमित्त हैं (संहत्यकारित्वात् संग्रहकारी होने से ॥ २४ ॥

सू० का भा०—सो चित्त असख्य एव चिचित्र वासनायुक्त हो पर भी दूसरे ही के निमित्त है क्योंकि वह संग्रह करनेवाला है ।२

व्या० भा०—तदेतच्चित्तमसंख्येयाभिर्वासनाभिरे चित्रीकृतमपि परार्थं परस्य भोगापवर्गार्थं न स्वार्थं संहत्य कारित्वादगृहवत् संहत्यकारिणा चित्तेन स्वार्थेन भवितव्यं

न सुखचित्तं सुखार्थं न ज्ञानं ज्ञानार्थमुभयमप्येतत्परार्थम् । यश्च भोगेनापवर्गेण चार्थेनार्थवान् पुरुषः स एव परो न परः सामान्यमात्रम् । यत्तु किंचित्परं सामान्यमात्रं स्वरूपेणोदाहरेद्वैनाशिकस्तत्सर्वं संहत्यकारित्वात्परार्थमेव स्यात् यस्त्वसौ परो विशेषः स न संहत्यकारी पुरुष इति ॥२४॥

भा० का प०—सो यह चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित हुआ भी परार्थ अर्थात् दूसरे के भोग और मोक्ष के वास्ते है अपने लिये नहीं क्योंकि यह संग्रह करने वाला है घर के समान। संग्रहकारी चित्त से स्वार्थ से कार्य्य नहीं हो सकता। सुख चित्त के अर्थ नहीं, न ज्ञान के लिये है। ये दोनों दूसरे के अर्थ हैं। जो भोग और मोक्ष के प्रयोजनों का अर्थवान् है वह पुरुष है वही पर है सो पर सामान्य नहीं है जो कुछ सामान्य मात्र पर का स्वरूप से वैनाशिक उदाहरण देवे यह सब संहतकारी होने से परार्थ ही है जो ये विशेष पर है सो संहतकारी नहीं है ॥ २४ ॥

भा० का भा०—यह चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित होने पर भी जो करता है सो सब सेवक के समान पर (पुरुष) के अर्थ करता है उसका सुख और ज्ञान दोनों अपने अर्थ नहीं हैं जो भोग और मोक्ष के अर्थों का अर्थी है सो पर पुरुष है सो सामान्य नहीं किन्तु विशेष है क्योंकि जो पर भी स्वरूप से नाश होने वाला है सो सब परार्थ है और ये पुरुष विशेष हैं अतएव समुदाय के साथ करता नहीं है ॥ २४ ॥

भो० वृ०—तदेव चित्तं संख्यातुमशक्याभिर्वासनाभिश्चित्रमपि नानारूपमपि परार्थं परस्य स्वामिनो भोक्तुर्भोगापवर्गलक्षणमर्थं साधयतीति। कुतः संहत्यकारित्वात्, संहत्य संभूय मिलित्वाऽर्थ-

क्रियाकारित्वात् यच्च संहत्यार्थक्रियाकारि तत्परार्थं दृष्टं यथाशयनासनादि सत्त्वरजस्तमांसि च चित्तलक्षणपरिणामभाञ्जि संहत्यकारीणि चातः परार्थानि। यः परः स पुरुषः। ननु यादृशेन शयनासनादीनां परेण शरीरवता पारार्थ्यमुपलब्ध तद्दृष्टान्तबलेन तादृश एव परः सिध्यति। यादृशश्च भवता परोऽसंहतरूपोऽभिप्रेतस्तद्विपरीतस्य सिद्धेरयमिष्टघातकृद्धेतुः। उच्यते—यद्यपि सामान्येन परार्थमात्रे व्याप्तिर्गृहीता तथापि सत्त्वादि विलक्षणधर्मिपर्य्यालोचनया तद्विलक्षण एव भोक्ता परः सिध्यति यथा चन्दनवनावृते शिखरिणि विलक्षणानधूमाद्वह्निरनुमीयमान इतरवह्निविलक्षणश्चन्दनप्रभव एव प्रतीयते, एवमिहापि विलक्षणस्य सत्वाख्यस्य भोग्यस्य परार्थत्वेऽनुमीयमाने तथाविध एव भोक्ताधिष्ठाता परश्चिन्मात्ररूपोऽसंहतः सिध्यति। यदि च तस्य परत्वं सर्वोत्कृष्टत्वमेव प्रतीयते तथापि तामसेभ्यो विषयेभ्यः प्रकृष्यते शरीरं प्रकाशरूपेन्द्रियाश्रयत्वात्, तस्मादपि प्रकृष्यन्त इन्द्रियाणि, ततोऽपि प्रकृष्टं सत्त्वं प्रकाशरूपं तस्यापि यः प्रकाशकः प्रकाश्यविलक्षणः स चिद्रूप एव भवतीति कुतस्तस्य संहतत्वम्॥ २४॥

इदानीं शास्त्रफलं कैवल्य निर्णेतुं दशभिः सूत्रैरुपक्रमते—

भो० वृ० का भा०—इस प्रकार से चित्त असंख्य वासनाओं से युक्त होने के कारण अनेक रूपवाला है तो भी आत्मा के भोग को सिद्ध करता है क्योंकि वह औरों से मिलकर काम करता है जो जो मिलकर काम करनेवाले हैं वे परार्थ ही काम करते दीखते हैं, जैसे शय्या वा आसन आदि। ऐसे ही सत्व, रज, तम आदि मिल कर काम करते हैं इस कारण वे सब परार्थ कार्य करने वाले हैं, यहाँ पर (दूसरा) पुरुष ही है इस कारण सिद्ध हुआ कि चित्त पुरुष के भोग का साधक है। अब सन्देह यह होता है कि जैसे शय्या और आसनादि से शरीरधारी का अर्थ सिद्ध होता है इसी

स्तम्भ से वैसा ही पर (दूसरा) असंहत्यकारी अर्थात् अकेला ही कार्य करनेवाला सिद्ध हो सकता है इस कारण आपका क्या यह कथन हेत्वाभास है ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि सामान्य रूप से जो व्याप्ति (यत्र यत्र संहत्यकारित्वं तत्र तत्र परार्थत्वम्) कही थी उसमें कुछ शंका हो सकती है पर सत्त्वगुणादिक विशेष विचार करने से आपके कहे पर से भोक्ता रूप पर विलक्षण है जैसे काष्ठ चन्दन से पूरित पर्वत के धुएं को देखकर जो अग्नि का अनुमान किया जाता है वह धूम और वह अग्नि अन्य धूम और अग्नियों से विलक्षण होते हैं ऐसे ही यहाँ भी विलक्षण जो सत्त्वरूप भोग्य हैं उसकी परार्थता के अनुमान से विलक्षण भोग्यता अधिष्ठाता और चिन्मात्र असंहत्यकारी पर सिद्ध होता है यद्यपि उसका परत्व सबसे उत्तम या विलक्षण है तो भी तमोगुणी विषयों से शरीर उत्तम है क्योंकि प्रकाश रूपी इन्द्रियों का आश्रय है। शरीर से इन्द्रियाँ उत्कृष्ट हैं उनसे भी चित्त (सत्त्व) उत्कृष्ट है और उससे भी पर अर्थात् पुरुष उत्कृष्ट है तब वह संहत्यकारी अर्थात् सबके साथ मिलकर कार्य करनेवाला क्यों कर रहा ॥ २४ ॥

आगे योगशास्त्र का फल जो कैवल्य अर्थात् मुक्ति है उसका निर्णय १० सूत्रों में करेंगे—

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्ति ॥ २५ ॥

प० का प०—(विशेषदर्शिन) विशेषदर्शी को (आत्मभावभावनानिवृत्तिः) शरीर के भाव की भावना की निवृत्ति हो जाती है ॥ २५ ॥

सू० का भा०—विशेषदर्शी योगी को शारीरिक भावों की भावना नहीं रहती है ॥ २५ ॥

व्या० भा०—यथा प्रावृषि तृणांकुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्तानुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्म्माभिनिर्वर्तितमित्यनुमीयते। तस्यात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्त्तते। यस्याभावादिदमुक्तं स्वभावं मुक्त्वा दोषाद्येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवत्यरुचिश्च निर्णये भवति। तत्रात्मभावभावना कोऽहमासं कथमहमासं किस्विदिदं कथंस्विदिदं के भविष्यामः कथं भविष्याम इति सा तु विशेषदर्शनो निवर्त्तते कुतः, चित्तस्यैष विचित्रः परिणामः, पुरुषस्त्वसत्यामविद्यायां शुद्धश्चित्तधर्मैरपरामृष्ट इति ततोऽस्यात्मभावभावना कुशलस्य निवर्तत इति ॥ २५ ॥

भा० का प०—जैसे वर्षाऋतु में घास के उत्पन्न होने से उनकी सत्ता जानी जाती है तैसे ही मोक्षमार्ग के सुनने से जिसका रोमहर्ष और आँसू गिरना दीखता है उसमे भी विशेपज्ञान का बीज है जो कि मोक्षभागीय पूर्वजन्म के कर्मों से सिद्ध हुआ है उसको आत्मभाव भावना स्वभाव से ही होती है। जिसके अभाव से यह कहा जाताहै कि स्वभाव को त्याग कर विद्यमान दोष से जिनको पूर्वपक्ष मे रुचि होती है और निणेय में अरुचि होती है, वहाँ आत्मभाव भावना का अर्थ यह है—मैं कौन था, किस प्रकार था, यह जन्म क्या है, क्योकर है, कौन होंगे, कैसे होंगे ? यह आत्मभाव भावना विशेषदर्शी की निवृत्ति हो जाती है। क्यों ? यह चित्त ही का विचित्र परिणाम है पुरुष तो अविद्या के न होने पर शुद्ध चित्त धर्मों से रहित है। यह आत्मभावना कुशल पुरुष की निवृत्ति

होती है ॥ २५ ॥

भा० का भा०—जैसे वर्षा में घास के उत्पन्न होने से उसकी सत्ता का अनुमान होता है वैसे ही मोक्षकथा होने में जिनके रोम खड़े हो जायँ या आँसू गिरें उनमें भी मुक्तिसम्बन्धी ज्ञान विशेष का बीज है ऐसा अनुमान करते हैं क्योंकि दोषग्रस्त स्वभाव वाले का पूर्व पक्ष में रुचि होती है और सिद्धान्त में अरुचि होती है उसका "मैं पहिले कौन था ये वर्तमान जन्म क्या है भविष्यत् कैसे होंगे" ऐसे विशेषदर्शिता के संग तर्क होते हैं क्योंकि ये सब चित्त के अद्भुत कार्य हैं जब अविद्या से मुक्त चित्त धर्मों से शुद्ध भवराज्यर्दान में वृत्तचित्त होता है तब ये सब निवृत्त होते हैं ॥ २५ ॥

भा० पू०—एवं सत्त्वपुरुषयोरन्यत्वं साक्षिते यस्तयाविरूपं पश्यति अहमस्मादन्य एव रूपं तस्य विज्ञातचित्तरूपसत्त्वस्य चित्ते यात्मभावभावना सा निवर्त्तते चित्तमेव कर्त्ता ज्ञानभोक्तृत्वमभिमानो निवर्त्तते ॥ २५ ॥

तस्मिन् सति किं भवतीत्याह—

भा० पू० का भा—पूर्वोक्त रीति से सत्त्व और पुरुष की भिन्नता का प्रतिपादन करके कहते हैं कि जो इन दोनों में भेदभावना करता है उसकी जो चित्त में आत्मभावना रहती है वह निवृत्त हो जाती है अर्थात् वह चित्त को कर्त्ता भोक्ता नहीं समझता किन्तु पुरुष को कर्त्ता समझता है ॥ २५ ॥

फिर क्या होता है सो आगे कहते हैं—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥२६॥

सू० का प०—(तदा) तब (विवेकनिम्नम्) ज्ञान से नम्र (कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्) अपवर्गमार्ग कैवल्य के भार से युक्त चित्त ॥ २६ ॥

सू० का भा०—तब चित्त कैवल्यभागी होता है ॥ २६ ॥

व्या० भा०—तदानीं यदस्य चित्तं विषयप्राग्भारमज्ञाननिम्नमासीत् तदस्यान्यथा भवति कैवल्यप्राग्भारं विवेकजज्ञाननिम्नमिति ॥ २६ ॥

भा० का प०—तब योगी का चित्त जो पहले विषयों के प्रकृष्ट भार से भरा था वह दूसरे प्रकार का हो जाता है मोक्ष के भार से नत अर्थात् विवेक से उत्पन्न हुए ज्ञान से भर जाता है ॥ २६ ॥

भा० का भा०—जो चित्त पूर्वकाल मे विषयों से भरा था सो अब ज्ञान से गम्भीर हो जाता है ॥ २६ ॥

भो० वृ०—यदस्याज्ञाननिम्नपर्थं वहिर्मुखं विषयोपभोगफलं चित्तमासीत्तदिदानीं विवेकमार्गमन्तर्मुखं कैवल्यप्राग्भारं कैवल्यप्रारम्भ सम्पद्यत इति ॥ २६ ॥

अस्मिंश्च विवेकवाहिनि चित्ते येऽन्तरायाः प्रादुर्भवन्ति तेषां हेतुप्रतिपादनद्वारेण त्यागोपायमाह—

भो० वृ० का भा०—पुरुष के अज्ञान का जो नीचा मार्ग है, वही विषय भोग का फल है उसमें जब चित्त नहीं फँसता है तब इसको विवेक मार्ग प्राप्त होता है और उससे मुक्तिका आरम्भ होता है ।२६

मुक्ति के हेतु का वर्णन करनेके द्वारा त्यागका उपाय कहते हैं—

तच्छिद्रेषु प्रत्यान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

सू० का प०—(तच्छिद्रेषु) समाधि दशा के अभाव में (प्रत्यान्तराणि) अन्य ज्ञान (संस्कारेभ्यः) संस्कारों से उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥

सू० का भा०—योगी के संस्कारों से कभी २ दूसरे ज्ञान भी उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २७ ॥

व्या० दे० कु० भा०—प्रत्ययविवेकनिम्नस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहिणश्चित्तस्य तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराण्यस्मीति वा ममेति वा जानामीति वा न जानामीति वा कुतः क्षीयमाणबीजेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्य इति ॥ २७ ॥

भा० का प०—ज्ञान से गम्भीर पुरुष का स्वभाव मात्र प्रसिद्धि वाले चित्त को उसके छिद्रों में क्षीयमाण संस्कारों से भी दूसरे ज्ञान उत्पन्न होते हैं जैसे मैं हूँ, या मेरा है या मैं जानता हूँ या नहीं जानता हूँ ॥ २७ ॥

भा० का भा०—जब चित्त ज्ञानमय हो जाता है तब पुरुष का स्वभाव प्रसिद्ध करनेवाले चित्त में संस्कार के बीज भूत ज्ञान से दूसरा ज्ञान—मैं हूँ जानता हूँ कि नहीं यह मेरे हैं या नहीं, ऐसे ज्ञानान्तर कहाँ से होंगे ? ॥ २७ ॥

भो० वृ०—तस्मिन समाधौ स्थितस्य छिद्र ष्वन्तरायेषु यानि प्रत्ययान्तराणि व्युत्थानरूपाणि ज्ञानानि प्राग्भूतेभ्या व्युत्थानानुभवजेभ्य संस्कारेभ्याऽहं ममेत्येवं रूपाणि क्षीयमाणेभ्याऽपि प्रभवन्ति अन्तःकरणोच्छित्तिद्वारेण तेषां हानं कर्त्तव्यमित्युक्त भवति ॥२८॥

हानोपायश्च पूर्वमेवोक्त इत्याह—

भो० वृ० का भा०—इस समाधि में स्थित पुरुष को भाग के

---

*विक्षेप—यद्यपि योगी ज्ञान से पूर्ण होता है तथापि उस ज्ञान के छिद्र अर्थात् समाधि दशा से भिन्न सांसारिक अवस्था में इतर ज्ञानमें भिन्न और ज्ञान भी होते हैं। जैसे अपने शरीर का अभ्यास या अन्य वस्तुओं में ममत्व आदि परन्तु यह ज्ञान योगी का कुछ बाधा नहीं देते क्योंकि जिन संस्कारों से यह ज्ञान होते हैं वह अवश्य क्षीणबीज होते हैं।

विघ्नों में जो व्युत्थानरूप ज्ञान उत्पन्न हुआ करते हैं वह व्युत्थान-से उत्पन्न हुए संस्कार जब नष्ट हो जाते हैं इस कारण उन संस्कारों के हान का उपाय अवश्य करना चाहिये ॥ २७ ॥

हान के उपाय जो पूर्व कह चुके हैं उसी को अगले सूत्र में कहते हैं—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

सू० का प०—(हानम्) नाश (एषाम्) इनका (क्लेशवत्) क्लेशों के समान (उक्तम्) कहा है ॥२८॥

सू० का भा०—इन संस्कारों का नाश अविद्यादि क्लेशों के समान कहा है ॥ २८ ॥

व्या० भा०—यथा क्लेशा दग्धबीजभावा न प्ररोहसमर्था भवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययप्रसूर्भवति। ज्ञानसंस्कारास्तु चित्ताधिकारसमाप्तिमनुशेरत इति न चिन्त्यन्ते ॥ २८ ॥

भा० का प०—जैसे अविद्यादि क्लेशों के बीज नष्ट हुये नहीं उत्पन्न होते तैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से जिसका बीज जल गया है ऐसा संस्कार अन्य ज्ञानों का उत्पादक नहीं होता और ज्ञान के संस्कार तो चित्त के अधिकारों की समाप्ति का अनुसरण करते हैं ॥ २८ ॥

भा० का भा०—जिस प्रकार से पूर्वोक्त क्लेश के बीज दग्ध होने से पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं तैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से संस्कार भी सबीज जलने से फिर उत्पन्न नहीं होते और ज्ञान-संस्कार चित्त की समाप्ति तक रहते हैं ॥ २८ ॥

भो० वृ०—यथा क्लेशानामविद्यादीनां हानं पूर्वमुक्तं तथा

संस्काराणामपि कर्त्तव्यम्। यथा ते ज्ञानाग्निना प्लुष्टा दग्धबीज कल्पा न पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं समन्ते तथा संस्कारा अपि ॥ २८ ॥

एवं प्रत्ययान्तरानुदयेन स्थिरीभूते समाधौ यादृशस्य योगिना समाधेः प्रकर्षप्राप्तिर्भवति तथाविधमुपायमाह—

यो० सू० का भा०—जैसे अविद्यादि क्लेशों का हान पूर्व में कहा था ऐसे ही व्युत्थान संस्कारों का हान भी करना चाहिये जिससे वह व्युत्थान संस्कार ज्ञानाग्नि के दग्धबीज होकर चित्तभूमि में फिर अंकुरित वा उत्पन्न न हों ॥ २८ ॥

इस रीति से जब ज्ञानान्तर की उत्पत्ति न होगी और समाधि स्थिर होगी तब योगी को समाधि की प्रकर्षता क्योंकर प्राप्त हो इसका उपाय अगले सूत्र में कहते हैं—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्म मेघ समाधि ॥ २९ ॥

पं० का प०—(प्रसंख्यानेऽपि) तत्त्वों के विभावन में भी (अकुसीदस्य) फलाशारहित (सर्वथाविवेकख्यातेः) विवेकख्याति वाले योगी को (धर्म्ममेघः समाधिः) धर्म्ममेघ नाम समाधि होती है ॥ २९ ॥

सू० का भा०—तत्त्वचिन्ता में निरत योगी को भी यदि वह फलाशा रहित हो तो उसे धर्म्ममेघ समाधि प्राप्त होती है ॥२९॥

व्या० भा०—यदायं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीद स्ततोऽपि न किञ्चित् प्रार्थयते। तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्त राण्युत्पद्यन्ते। तदास्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति ॥२९॥

भा० का प०—जब यह योगी तत्त्वावधान में भी कुछ न चाहे अर्थात् उसमें भी विरक्त को सब प्रकार विवेक ज्ञान ही सिद्ध हो तो संस्कार के बीज नाश होने से इसको दूसरा ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है तब इसको धर्ममेध नाम समाधि होती है ॥ २६ ॥

भा० का भा०—जब योगी योगतत्त्व का चिन्तन करता हुआ फलाशा से रहित होता है तब वहाँ भी विरक्त होने से उसका विवेक ज्ञान नष्ट नहीं होता । संस्कार के नष्ट होने से इसको दूसरे ज्ञान नहीं उत्पन्न होते तब उसे धर्म्ममेघ अर्थात् धर्म्म को वर्षाने वाली समाधि होती है ॥ २६ ॥

भो० वृ०—प्रसंख्यानं यावता तत्वाना यथाक्रमव्यवस्थितानां परस्पर विलक्षणस्वरूपविभावनं तस्मिन् सत्यप्यकुसीदस्य फलमलिप्सोः प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकार विवेकख्यातेः परिशेषात् धर्ममेघः समाधिर्भवति । प्रकृष्टमशुक्लकृष्ण धर्म परमपुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः । अनेन प्रकृष्टधर्मस्यैव ज्ञानहेतुत्वमित्युपपादितं भवति ॥ २६ ॥

तस्माद्धर्ममेघात् किं भवतीत्याह—

भो० वृ० का भा०-प्रसंख्यान अर्थात् क्रम से स्थित जो तत्व हैं उन सबके रूप का यथावत् ज्ञान प्राप्त करके जब योगी को तत्वों मे वितृष्ण वा फलप्राप्ति की अनिच्छा होती है तब योगी को ज्ञानान्तर की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् विवेकख्याति सब प्रकार से दृढ हो जाती है । तब योगी को धर्ममेघ नामक समाधि होती है । यह अशुक्ल-कृष्ण उत्तम धर्म को वर्षाती है इस कारण इसका नाम धर्म मेघ है । यही समाधि ज्ञान और धर्म की हेतु है ॥ २६ ॥

इस धर्ममेघ समाधि से क्या होता है इसका वर्णन आगे करेंगे-

ततः क्लेशकर्म्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

सू० का प०—(ततः) तब (क्लेशकर्म्मनिवृत्तिः) क्लेश और कर्मों का नाश होता है ॥ ३० ॥

सू० का भा०—तब क्लेश और कर्मों का नाश हो जाता है ।३०

व्या० भा०—तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं, कषिता भवन्ति । कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति । क्लेशकर्म्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति । कस्मात् यस्माद्विपर्य्ययो भवस्य कारणम् । नहि क्षीणविपर्य्ययः कश्चित् कश्चिज्जातो दृश्यत इति ॥ ३० ॥

भा० का प०—उस धर्ममेघ समाधि के लाभ से क्लेश जड़ से क्षीण होते हैं । दुःख या सुख देनेवाले कर्म के फल जड़ समेत नष्ट होते हैं । क्लेश कर्म निवृत्त होने पर जीता ही योगी मुक्त होजाता है क्योंकि मिथ्याज्ञान ही जन्म का कारण है । नष्ट अज्ञान वाला कोई किसी हेतु से कहीं उत्पन्न हुआ नहीं दीखता है ॥ ३० ॥

भा० का भा०—जब योगी को धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है तब क्लेश और अच्छे बुरे कर्म के फल नष्ट हो जाते हैं, उनके नष्ट होने से योगी जीवन्मुक्त होता है क्योंकि अज्ञान ही संसार का कारण है । कहीं नहीं ऐसा कि कोई ज्ञानी पुरुष किसी के द्वारा कहीं उत्पन्न हुआ हो किन्तु जब योगी कैवल्य को भोग चुकेगा तब फिर संस्कार वश उत्पन्न होने में कोई भी बाधक नहीं है ।

भा वृ —क्लेशानामविद्यादीनामभिनिवेशान्तानां कर्मणाञ्च शुक्लादिभेदेन त्रिविधानां ज्ञानोदयात् पूर्वपूर्वकारणनिवृत्त्या निवृत्तिर्भवति ॥ ३ ॥

तयु निवृत्तेषु किं भवतीत्याह—

भा वृ० का भा०—अविद्या से लेके अभिनिवेश पर्य्यन्त जो

क्लेश और शुक्लादि जो तीन प्रकार के कर्म हैं उनकी क्रम से निवृत्ति होती है और ज्ञान का उदय होता है ॥ ३० ॥

उनके निवृत्त होने से क्या होता है सो आगे कहेंगे—

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज् ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

सू० का प०—(तदा) तब (सर्वावरणमलापेतस्य) क्लेश कर्मादि मल दूर हुये को (ज्ञानस्यानन्त्यात्) ज्ञान के अनन्त होने से (ज्ञेयमल्पम्) जानने योग्य वस्तु कम रहती है ॥ ३१ ॥

सू० का भा०—जब आवरणरूपी मल योगी के दूर हो जाते हैं तब इसको ज्ञान हो जाता है और जानने योग्य विषय कम रह रह जाते हैं ॥ ३१ ॥

व्या० भा०--सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं भवति। आवरकेण तमसाभिभूतमावृतमनन्तं ज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति। तत्र यदा सर्वैरावरणमलैरपगतमलं भवति तदा भवत्यस्यानन्त्यम्। ज्ञानस्यानन्त्याज् ज्ञेयमल्पं सम्पद्यते। यथाकाशे खद्योतः। तत्रेतदुक्तम्—

"अन्धो मणिमविध्यत्तमनंगुलिरावहत्।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत्" ॥ ३१ ॥

भा० का प०—सब क्लेश कर्मरूपी आवरणों से छूटे हुवे को अनन्त ज्ञान होता है। तमोगुण से आवृत हुआ है, ज्ञान सत्वगुण

जिसका वह कहीं रजोगुण से प्रवर्तित ग्रहण करने का समर्थ होता है। जहाँ जब सब आवरण करनेवाले मलों से मलरहित होता है तब इसका अनन्त ज्ञान होता है, ज्ञान के अनन्त होने से जानने योग्य कम रहता है जैसे आकाश में जुगनू। जहाँ ऐसा कहा है—अन्धे ने मणि को बींधा टूटे ने उसे पकड़ लिया, बिना कण्ठ वाले ने उसे पोह दिया, बिना जिह्वा वाले ने उसकी प्रशंसा की॥३१॥

भा० का भा०—जब योगी के सब आवरण और मल दूर हो गये तब इसको अनन्त ज्ञान होता है आवृत किया हुआ ज्ञान सतोगुण, रजोगुण से रहित और तमोगुण से शून्य होकर बन्धन दूर हो जाते हैं। जब सब मल दूर हो जाते हैं तब अनन्त ज्ञान उत्पन्न होता है अनन्त ज्ञान से ज्ञेय पदार्थ कम रह जाते हैं जैसे आकाश में खद्योत का प्रकाश स्वल्प रहता है वैसे ही योगी का ज्ञेय भी स्वल्प रहता है परन्तु बिना योग किये उस ज्ञान को जानना ऐसा है जैसे अन्धे का मणि पाना आदि ॥ ३१ ॥

भो० वृ०—आव्रियते चित्तमेभिरित्यावरणानि क्लेशास्त एव मलास्तेभ्योऽपेतस्य तद्विरहितस्य ज्ञानस्य शरद्गगनमिवास्यानन्त्यादनवच्छेदात् ज्ञेयमल्पं गणनास्पदं भवत्यक्लेशेनैव सर्वं ज्ञेयं जानातीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

ततः किमित्याह—

भो० वृ० का भा०—आवृत होता चित्त जिनसे उन अविद्यादि क्लेशों को आवरण कहते हैं और वही मल हैं उनसे रहित जब ज्ञान होता है तब वह आकाश के समान अनन्त होता है और फिर ज्ञेय कम रह जाता है अर्थात् सहज में ही योगी सब विषयों को जान जाता है ॥ ३१ ॥

फिर क्या होता है सो आगे कहते हैं—

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

सू० का प०—(ततः) तब (कृतार्थानाम्) "कृता निष्पादिता धर्माद्यर्था यैस्ते" कृतप्रयोजनों को (गुणानाम्) गुणों के (परिणामक्रमसमाप्तिः) परिणाम के क्रम की समाप्ति होजाती है ॥ ३२ ॥

सू० का भा०—धर्ममेघ समाधि होने से कृतार्थयोगी के गुणों के परिणाम भी समाप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

व्या० भा०—तस्य धर्म्ममेघस्योदयात् कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमः परिसमाप्यते नहि कृतभोगापवर्गाः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते ॥ ३२ ॥

अथ कोऽयं क्रमो नामेति—

भा० का प०—पूर्वोक्त धर्म्ममेघ समाधि के उदय से कृत प्रयोजनों के गुणों के परिणामों का पूर्वोक्त क्रम समाप्त हो जाता है क्योंकि भोग और मोक्ष प्राप्त किये हुए समाप्तक्रम योगी थोड़े काल भी ठहर नहीं सकते ॥ ३२ ॥

भा० का भा०—पूर्वोक्त धर्ममेघ समाधि के उदय से उन गुणों का परिणाम अर्थात् बार-बार उदय होना बन्द हो जाता है जिसका फल मिल चुका है क्योंकि गुण भोग फल के पश्चात् क्षणमात्र भी नहीं रह सकते ॥ ३२ ॥

भो० वृ०—कृतो निष्पादितो भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थः प्रयोजनं यैस्ते कृतार्था गुणाः सत्वरजस्तमांसि तेषां परिणाम आपुरुषार्थसमाप्तेरानुलोम्येन प्रातिलोम्येन चाङ्गाङ्गिभावः स्थितिलक्षण-

स्तस्य योऽसौ क्रमो वक्ष्यमाणस्तस्य परिसमाप्तिर्निष्ठा न पुनरुत्पत्ति इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

क्रमस्योक्तस्य लक्षणमाह—

भो० वृ० का भा०—जो सत्त्व, रज और तम आदि गुण अपने भोगादि प्रयोजन को सम्पन्न कर उनका परिणाम अर्थात् अनुलोम, विलोम या अङ्गाङ्गिभाव से उदय और लय के क्रम को समाप्त कर देते हैं फिर उनका उदय नहीं होता ॥ ३२ ॥

आगे क्रम का लक्षण कहेंगे—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ।३३

सू० का प०—(क्षणप्रतियोगी) क्षण के विरोधी (परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः) परिणाम के अवसान से जो जाना जाय (क्रमः) उसे क्रम कहते हैं ॥ ३३ ॥

सू० का भा०—क्रम का लक्षण यह है कि जो क्षण क्षण में दूसरी अवस्था का धारण करे वह क्रम है ॥ ३३ ॥

व्या० भा०—क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः न ह्यननुभूतक्रमक्षणा पुराणता वस्त्रस्यान्ते भवति नित्येषु च क्रमो दृष्टः । द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च । तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य परिणामिनित्यता गुणानाम् । यस्मिन् परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम् । उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम् । तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानो नित्येषु धर्मिषु गुण

ष्वलब्धपर्यवसानः । कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति तत्राप्यलब्धपर्यवसानः शब्दपृष्ठे नास्ति क्रियामुपादाय कल्पित इति । अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिनवेति । अवचनीयमेतत् । कथम् ? अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यतीति । ओं भो इति ।

अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति विभज्य वचनीयमेतत् । प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यते । तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा ? श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः पशूनधिकृत्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति अयं त्ववचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति कुशलस्यास्ति संसारक्रमपरिसमाप्तिर्नेतरस्येति अन्यतरावधारणे दोषः तस्मादूव्याकरणीय एवायं प्रश्न इति ॥ ३२ ॥

गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तं तत्स्वरूपमवधार्यते—

भा० का प०—वर्त्तमान क्षण के पश्चात् जो काल से परिणाम होता है उसके अनन्तर जो ग्रहण किया जाता है उसे क्रम कहते हैं। इसमें शंका होती है कि वस्त्र का पुरानापन वस्त्र के अन्त में नहीं जाना जाता तब क्रम का लक्षण अयुक्त हुआ ? इसका उत्तर यह है कि नित्य पदार्थों में क्रम ठीक रीति से जाना जाता है। अब इसमें भी सन्देह होगा कि जिन पदार्थों में क्रम है वे नित्य नहीं हो सकते हैं। इसका समाधान यह है कि नित्यता दो प्रकार की है—एक

कूटस्थ नित्यता और दूसरी परिणाम नित्यता । यहाँ कूटस्थनित्यता पुरुष की है और परिणामनित्यता गुणों की है । जिनके परिणाम से तत्त्व नष्ट नहीं होवे व नित्य हैं जो कार्य वा कारणरूप तत्त्व का नाशक न हो, इसमें यह भी शंका हो सकती है कि जो परिणामी वस्तु है वह नित्य नहीं होसकती और बुद्धि आदिकों में अन्तक्षण से समझने योग्य क्रम रहता है परन्तु नित्य गुणों में जो क्रम रहता है उसका अन्त होता है इससे ही उनमें क्रमनित्यता रहती है। कूटस्थ अर्थात् विकाररहित नित्यपदार्थों में जो क्रम रहता है उसका अन्त नहीं होता। जो मुक्त जीव अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं उनके जीव की विद्यमानता क्रम से ही जानी जाती है। क्योंकि जीव की नित्यता भी अन्तरहित होती है। अब यह शंका होती है कि संसार की स्थिति और लय से जो गुणों में क्रम रहता है उसकी समाप्ति होती है वा नहीं ? इस विषय का कथन असम्भव है। जैसे यह प्रश्न एकदेशीय है जो उत्पन्न हुए हैं वे सब मरेंगे सब मरकर उत्पन्न होंगे यह पूर्ववचन का अर्थापत्तिन्याय से विभाग का उत्तर होता है। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि जिस की विषय सम्बन्धिनी तृष्णा नष्ट हो गयी है वह कुशल अर्थात् योगी उत्पन्न नहीं होगा। जैसे मनुष्य जाति कल्याणकारिणी है या नहीं ? यह प्रश्न विभागवचन वाला है अर्थात् इसके उत्तर में हां और ना दोनों कह सकते हैं क्योंकि मनुष्य पशुओं की अपेक्षा उत्तम है, देव और ऋषियों की अपेक्षा उत्तम नहीं है। संसार अनन्त है वा सान्त है ? इसका उत्तर यह है कि योगी को संसार के क्रम की समाप्ति हो जाती है दूसरे को नहीं इसलिये संसार को सान्त वा अनन्त कहने में एक तरह का दोष है, इस कारण यह प्रश्न विवेचनीय है ॥ ३३ ॥

भा० प० भा०—वर्तमान क्षण के पश्चात् जो क्रम से परि

णाम होता है उसके अनन्तर जो ग्रहण किया जाता है उसे क्रम कहते हैं। इसमे शका होती है कि वस्त्र का पुरानापन वस्त्र के अन्त मे नहीं जाना जाता तब क्रम का लक्षण अयुक्त हुआ। इसका उत्तर यह है कि नित्य पदार्थों में क्रम ठीक रीति से जाना जाता है। अब इसमे भी सन्देह होगा कि जिन पदार्थों मे क्रम है वह नित्य नहीं हो सकते हैं? इसका समाधान यह है कि नित्यता दो प्रकार की है-एक कूटस्थ नित्यता, दूसरी परिणामनित्यता। यहाँ कूटस्थनित्यता पुरुष की है और परिणामनित्यता गुणों की है। जिनके परिणाम से तत्व नष्ट नहीं होते वह नित्य है, जो कारण वा कार्यरूप तत्वका नाशक न हो। इसमें यह भी शका हो सकती है कि जो परिणामी वस्तु है वह नित्य नहीं हो सकती? इसका उत्तर देते हैं कि नित्यता गुणों मे रहती है और बुद्धि आदि में अन्त दशा से समझने योग्य क्रम रहता है। परन्तु नित्य गुणों मे जो क्रम रहता है उसका अन्त होता है इससे ही उनमें क्रमनित्यता रहती है। कूटस्थ अर्थात् विकाररहित नित्य पदार्थों में जो क्रम रहता है उसका अन्त नहीं होता। जो मुक्त जीव अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं उनके जीव की विद्यमानता क्रम से ही जानी जाती है क्योंकि जीव की नित्यता भी अन्तरहित होती है। अब यह शंका होती है कि संसार की स्थिति और लय से जो गुणों में क्रम रहता है उसकी समाप्ति होती है वा नहीं? इस विषय का कथन असम्भव है। कैसे, यह प्रश्न एकदेशीय है। जा उत्पन्न हुए हैं वे सब मरेंगे, मर कर उत्पन्न होंगे यह पूर्ववचन का अर्थापत्ति न्याय से विभाग वा उत्तर होता है। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि जिसकी विषय सम्बन्धिनी तृष्णा नष्ट हो गई वह कुशल अर्थात् योगी उत्पन्न नहीं होगा तैसे ही मनुष्यजाति कल्याणकारिणी है वा नहीं? यह प्रश्न विभाग वचनवाला है अर्थात् इसके उत्तर में

हैं और ना दोनों कह सकते हैं। क्योंकि पशुओं की अपेक्षा मनुष्य उत्तम है देव तथा ऋषियों की अपेक्षा उत्तम नहीं है। संसार अनन्त है या सान्त है? इसका उत्तर यह है कि योगी के संसार के क्रम की समाप्ति हो जाती है दूसरे का नहीं, इसलिये संसार को सान्त व अनन्त एक तरह का कहने में दोष है इस कारण यह प्रश्न विवेचनीय है ॥ ३३ ॥

भो० वृ०—क्षणोऽल्पीयान् कालस्तस्य योऽसौ प्रतियोगी क्षण-विलक्षणः परिणामोऽपरान्तनिर्ग्राह्योऽनुभूतेषु क्षणेषु पश्चात् सङ्कलन-बुद्ध्यैव यो गृह्यते स क्षणानां क्रम उच्यते। नह्यननुभूतेषु क्षणेषु क्रमः परिज्ञातुं शक्यः ॥ ३३ ॥

इदानीं फलभूतस्य कैवल्यस्यासाधारणं स्वरूपमाह—

भो० वृ० का भा०—अत्यन्त सूक्ष्म काल को क्षण कहते हैं उसका जो प्रतियोगी क्षण अर्थात् विलक्षण परिणाम को पूर्वक्षण के नाश होने पर ग्रहण किया जाता है उसे क्षण का क्रम कहते हैं क्योंकि जिनका अनुभव नहीं किया उनके क्रम का भी ज्ञान नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥

आगे योग के फल का असाधारण लक्षण कहेंगे—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

सू० का प०—(पुरुषार्थशून्यानां गुणानाम्) जिन गुणों की प्राप्ति में पुरुषार्थों की समाप्ति हो जाय (प्रति-प्रसवः) व्युत्क्रम गति से उन गुणों के नाश को (कैव-ल्यम्) मोक्ष कहते हैं (स्वरूपप्रतिष्ठा वा) अथवा अपने

स्वरूप मे स्थित होने को मोक्ष कहते हैं (चितिशक्तिः) यद्वा ज्ञानशक्ति को मोक्ष कहते हैं ॥ ३४ ॥

सू० का भा०—स्पष्ट है ॥ ३४ ॥

व्या० भा०—कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्य्यकारणात्मनां गुणानां तत्कैवल्यम्, स्वरूप-प्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्वानभिसम्बन्धात् पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला तस्याः तदा तथैवावस्थानम् कैवल्यमिति ॥ ३४ ॥

भा० का प०—जिन गुणों के फल भोग वा स्वर्गादि फल प्राप्त हो चुके हैं वे जब पुरुषार्थशून्य होकर कार्य कारण भाव से उत्पन्न होने के अयोग्य हो जायँ, उस दशा को मोक्ष कहते हैं स्वरूप प्रतिष्ठा का अर्थ यह है कि बुद्धि वा मन के सम्बन्ध से रहित जो ज्ञानशक्ति है उसे केवला कहते हैं। सर्वदा उसी ज्ञानशक्ति में स्थिर रहने को कैवल्य कहते हैं ॥ ३४ ॥

भा० का भा०—जिन गुणों के फल भोग वा स्वर्गादि फल प्राप्त हो चुके हैं कार्य कारण भाव से उन गुणों की अनुत्पत्ति को मोक्ष कहते हैं। स्वरूपप्रतिष्ठा का अर्थ यह है कि बुद्धि वा मन के संबध से रहित जो ज्ञानशक्ति उसे केवला कहते हैं, सर्वदा उसी ज्ञान-शक्ति मे स्थिर रहने को कैवल्य कहते है ॥ ३४ ॥

भो० वृ०—समाप्तभोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थाना गुणाना यः प्रति-प्रसवः प्रतिलोमस्य परिणामस्य समाप्तौ विकारानुद्भवः क्षणेषु। यदि वा चिच्छक्तेर्वृत्तिसारूप्यनिवृत्तिस्वरूपमात्रेऽवस्थानं तत् कैव-ल्यमुच्यते।

भो० वृ० का भा०—समाप्त हो गये हैं भोग और अपवर्ग रूप लक्षण जिन पुरुषार्थ रूप गुणों के उन गुणों का जो प्रति प्रसव

अर्थात् अनुष्ठानादि भावों से फिर आरम्भ न होना यही मोक्ष कहते हैं। यद्वा चित् शक्ति का वृत्तियों की सरूपता का त्यागकर अपने ही रूप में स्थिर रहना, इसे कैवल्य या मुक्ति कहते हैं।

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे साङ्ख्यप्रवचने कैवल्यपादश्चतुर्थः सम्पूर्णः ।

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥